माटीमटाल

[भाग-१]

□

मूल : गोपीनाथ महान्ती
अनु. : शंकरलाल पुरोहित



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक :
सम्पादक एवं नियोजक
लक्ष्मीचन्द्र जैन
जगदीश



Lokodaya Series : Title No 373
MATIMATAL [Part-I]
(Novel)
GOPINATH MAHANTI
First Edition : November 1974
Price : Rs. 20.00



BHARATIYA JNANPITH
B/45-47 Connaught Place
NEW DELHI-110001

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
बी/४५-४७ कॅनॉट प्लेस, नयी दिल्ली-११०००१
प्रथम संस्करण : नवम्बर १९७४
मूल्य : बीस रुपये

मुद्रक
सन्मति मुद्रणालय
दुर्गाकुण्ड मार्ग,-वाराणसी-२२१००५

मेरे पितृदेव
जो थे ब्रह्मविद् सिद्ध-साधक,
मेरे गुरु चिरकाल मेरे परमाराध्य
उन्हीं स्वर्गत सूर्यमणि महान्ती को
पवित्र स्मृति में
अशेष विनय भक्ति प्रणति सहित
यह अंजलि

– गोप



गोपीनाथ महान्ती

प्रस्तुति

श्री गोपीनाथ महान्ती की भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार-जयी कृति 'माटीमटाल' का नाम भारतीय उपन्यास साहित्य की शीर्षस्थ कृतियों में आता है। 'माटीमटाल' को १९७३ का ज्ञानपीठ पुरस्कार इस आधार पर प्राप्त हुआ है कि सन् १९६२ से १९६६ के बीच प्रकाशित समस्त भारतीय साहित्य में इसे 'सर्वश्रेष्ठ' की समकक्षता का गौरव प्राप्त हुआ है। 'समकक्षता' इसलिए कि इस वर्ष का ज्ञानपीठ पुरस्कार डॉ. दत्तात्रेय रामचन्द्र बेन्द्रे के कन्नड काव्य-संग्रह 'नाकु तंति' (चार तार) के साथ सह-विभाजित है। ज्ञानपीठ के पुरस्कार समर्पण समारोह की परम्परा है कि जहाँ तक सम्भव हो पुरस्कृत कृति का हिन्दी अनुवाद समारोह के अवसर पर प्रकाशित किया जाये ताकि राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम से सभी भारतीय भाषाओं को कृति के महत्त्व की जानकारी मिले, और साहित्य के राष्ट्रीय स्तर को प्राप्त करनेवाली कृति के रचयिता के देश के सभी साहित्यकारों और अनगिन पाठकों का प्रेम और आदर प्राप्त हो।

श्री गोपीनाथ महान्ती का जन्म ४ अप्रैल १९१४ में उड़ीसा के कोरापुट जिले में हुआ। एम. ए. तक शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त जब उन्हें उड़ीसा ऐडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस के अन्तर्गत विभिन्न पदों पर कार्य करने का अवसर मिला तो उन्हें उड़ीसा के ग्राम्य जीवन और आदिवासियों की जीवन-पद्धति, उनके आचार-विचार, उनकी संस्कृति, तथा उनकी समस्याओं को जानने-समझने का अवसर मिला। गाँवों की धरती, धूल-मिट्टी और हवा-पानी से विकसित मानव के देह-प्राण ने अपनी सामाजिक संरचना को तो रूप दिया और व्यक्ति तथा समूह के जीवन की सुरक्षा तथा उन्नति के लिए जिन संस्कारों को आत्मसात् किया उसका स्पन्दन, उनकी अनुगूँज 'माटीमटाल' के पन्ने-पन्ने और शब्द-शब्द में है। जीवन कभी ठहरता नहीं, परिवेश कभी एक से नहीं रहते, मिट्टी और हवा-पानी का रंग-रूप-गन्ध भी बदलते रहते हैं। नये परिवेश नये संकटों

और संघर्षों को जन्म देते हैं, और मनुष्य की जिजीविषा इन चुनौतियों पर विजय पाने के लिए सदा उत्साहित करती रहती है। बहुत कुछ नया बनता है, और पुराना टूटता है, साथ ही बहुत कुछ ऐसा रहता है जो संस्कारों की अन्तःसलिला के रूप में प्राणों को रस से सिंचित करता रहता है। तथ्य के रूप में इसे जानना एक बात है किन्तु सृष्टि के इस सारे नाटक को जीवन्त रूप देकर चित्रित करना दूसरी बात है। श्री गोपीनाथ महान्ती ऐसे ही रस-सिद्ध साहित्य-स्रष्टा हैं जिन्होंने गद्य की भाषा को कविता का लालित्य दिया और मानव भावों-भावनाओं की सूक्ष्मता को, उसके संस्कारों और विकारों को, अभिव्यक्ति की प्रामाणिकता, क्षमता और चारुता।

'माटीमटाल' लगभग १००० पृष्ठों का उपन्यास है। कथा का विस्तार, पात्रों की बहुलता, उनके मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों का संसार, क्रिया-प्रतिक्रियाओं का प्रसार, प्रकृति के नाना रूपों का निखार, इस उपन्यास को गद्य का 'महाकाव्य' प्रमाणित करते हैं। उपन्यास का एक-एक चरित्र सजीव होकर मानस-पटल पर अंकित होता चलता है; तूलिका के चित्र-विचित्र रंग पाठक को मन्त्र-मुग्ध करते रहते हैं।

उपन्यास के अनगिन पात्रों में मुख्य हैं नायक रवि और नायिका छवि। स्पष्ट है कि 'माटीमटाल' की कथा इन दोनों के प्रेम सम्बन्धों को केन्द्र में रखकर चलती है। किन्तु, आप कल्पना नहीं कर सकते कि इस बृहत्काय उपन्यास में दोनों के प्रेम को तूलिका के कितने कोमल स्पर्श मिले हैं कि प्रेम लाज से ढँका रहता है और जब अनेक संघर्षों, विडम्बनाओं, अपवादों को झेलकर विवाह में प्रतिफलित होता है तो वह जीवन की सिम्फ़नी का प्रमुख स्वर न होकर, कोमल गान्धार-सा अन्तर्व्याप्त रहता है। प्रमुख स्वर होता है जीवन की उद्देश्य-साधना का, नव-निर्माण का, मानव सहयोग पर आधारित नव निष्पत्तियों के स्वप्न का। उपन्यास के प्रारम्भ में वर्णित जिस ढलती सन्ध्या की विरागी लालिमा में रवि अकेला चला जा रहा है, उपन्यास का समापन भी एक ऐसी सन्ध्या में होता है जहाँ सार्थकता की अनुरागी रश्मि से पुलकित छवि पथ पर बढ़ी चली जा रही है—अपने लक्ष की ओर। जिस पेड़ की बाँह थामकर उसकी छाया में वह क्षण-भर खड़ी रहना चाहती है उस छाया का सुख उसे ठहरने नहीं देता। उसे अपनी सखी की आवाज सुनाई देती है जो कहती है: 'पगली, कहाँ रुक गयी, देख तो कितना लम्बा रास्ता है और तुझे किस महान् लक्ष तक पहुँचना है।'

पुरस्कार समर्पण समारोह के अवसर पर श्री महान्ती को जो प्रशस्ति-फलक भेंट किया गया है वह सार रूप में इनकी उपलब्धियों का चित्रण इस प्रकार करता है: "आदर्श और यथार्थ के समन्वयी; शक्तिशाली उपन्यासकार श्री महान्ती के कथा-साहित्य का परिदृश्य अधिवासित है प्राय. पददलित हरिजन और मूक आदिवासी द्वारा, चिरशोषित कृषक और नगर-पले बाबूवर्ग द्वारा जो अस्तित्व-रक्षा के संघर्ष में ही निःसत्त्व हो रहता है: निरंकुशता और उत्पीडन के नाना रूपों को अनावृत करते भी, उन्होंने तिक्त नारों या वर्ग-संघर्ष का कभी सहारा नहीं लिया। मनुष्य यहाँ अन्धकार

में घिरा यातनाओं की दलदल में धँसा है, किन्तु दृष्टि उसकी फिर भी टिकी है सितारों पर। श्री महान्ती का स्पर्श पाकर समाजत्व भी लोकोत्तर हो उठता है। वे संपोषण और सम्वन्धन करते हैं, विखण्डन या अस्वीकरण नहीं। उनकी शैली में महाकाव्य की गरिमा है और भाषा में लोकवाणी की सरसता।

"पुरस्कार-जयी उपन्यास 'माटीमटाल' उड़ीसा के ग्राम्य जीवन का गौरवग्रन्थ है : एक अविराम खोज वहाँ के लाख-लाख जन द्वारा अपनी सामुदायिकता को साकार करने की। यह प्रतीक है समाजत्व में प्रवेश का जो प्राप्त होता है आधुनिक विज्ञान की 'मैं' और 'तू' और आधुनिक विज्ञान की 'मैं' और 'वह' की द्वैत भावना के अतिक्रमण से। तीस से अधिक कृतियों के बहुमुखी प्रतिभायुक्त रचयिता, श्री महान्ती नवनवीन विषयवस्तु और शैली के सतत अन्वेषी हैं।"

नयी दिल्ली
८ नवम्बर १९७४

—लक्ष्मीचन्द्र जैन

माटीमटाल

[भाग–१]



माघ की धूप कैसी चुपके से चली जाने को हुई। फिर देखते-देखते साँझ भी घिसटती-सी तैरती हुई जल्दी चली जायेगी। उसके बाद फिर रात चली जायेगी। यह श्रीपंचमी की रात भी : वही जहाँ चले जाते हैं सब दिन, सारी रातें! इसी बात को याद कराये दे रही है यह ठण्डी हवा—हलके झकोरों से कमीज को हिलाती हुई, सिर के बिखरे बालों को और भी अस्त-व्यस्त करती हुई, और मुँह-आँख और गरदन पर सर्दीली चेतना की तूलि से सिहरनें आँकती हुई—कि आज चली गयी। श्रीपंचमी चली गयी, और साथ ही हल्की-नरम धूप भी!

दूर क्यारियों में भरे सरसों के फूल जो कुछ देर पहले साफ़ दिखाई पड़ते थे—पीली धूप में टिमटिमाते हुए छोटे-छोटे दीयों जैसे—हठात् अब सघन होकर छाया में खोते हुए मलिन लगने लगे हैं; और उनके नीचे काजल की लम्बी रेखा सी दिखनेवाली नदी भी लग रही है—मानो कोई बहुत लम्बी बत्ती हो जो जल-झुलसकर काली पड़ गयी हो। ऊपर-ऊपर जो धुआँ-सा था, जान पड़ता है वही उसका आख़िरी धुआँ है। थोड़ी देर बाद सब कुछ साफ़ दिखने लगेगा। माघ की साँझ में नदी के ऊपर का धुआँ कितनी दूर-दूर तक दिखाई देता है!

बाद को यह धुआँ भी जैसे नहीं होगा, ऊपर शून्य में ऐसा टँगा रह जायेगा जैसे परत पर परत काले कपड़े हों। फिर तो इतने बड़े काले सुरमई आकाश में श्रीपंचमी के चन्दा के चारों ओर तारों के फूल खिलेंगे और ऊपर से नीचे तक इस अपार विस्तार तले चिकना-चिकना अँधेरा और रुपहली उजास धीरे-धीरे एक में एक घुल चलेगी। फिर, धीरे-धीरे रात भी चुपचाप सो जायेगी : उजले कोहरे का लिहाफ़ ओढ़कर, कुनमुनाती बैजनी रात सो जायेगी—और खो जायेगी, ढूँढे भी कहीं मिलेगी नहीं।

यही सब सोचता चला जा रहा था वह अल्हड़ युवक जिसकी अभी मसें भीग रही थीं और जो मन ही मन इस प्रयत्न में था कि सामने पसरे-फैले उस शून्य के फलक पर कहीं अपने को भी सुघड़ाई के साथ भाव-भावनाओं के रंगों में रँगकर अंकित कर दे—ठीक उसी तरह जैसे किनारे-किनारे हलका रंगीन होता जाता वह बादल का टुकड़ा उधर टिका हुआ है। आँखें मूँदकर उसने मन ही मन उस बादल को देखा; फिर आँखें खोलकर भी। उसे प्रतीति हुई कि कितना विशाल है यह आकाश और कितना लघु उसके एक कोने में टँगा वह बादल का टुकड़ा। कोई सत्ता नहीं उसकी यहाँ। देखते-देखते रूप बदल गया। अभी हाथी जैसी आकृति थी, अब उलटे हंस जैसा दिख रहा है। दो ही क्षण में नया रूप!

उसने फिर आँखें मूँद ली। याद आया जैसे रास्ते में आज श्रीपंचमी के अवसर पर एक के साथ एक मिले कुंई के फूलों के नालों में ही आम के पत्तों से गुँथे हुए तोरण लटक रहे थे, उसी तरह तो ये दिन भी हुआ करते हैं। एक के बाद दूसरा : अटूट ताँता : नपे-बँधे निर्दिष्ट कालखण्ड। प्रत्येक का अपना एक परिमाण है : एक सूर्योदय के बीच अपनी माँ के गर्भ से धरती पर आने और फिर पंचतत्वों में विलीन हो जाने तक का एक विशिष्ट प्रकाश-काल—सबसे अलग, सबसे भिन्न।

फिर भी, कुछ तो चुक नहीं जाता, कहीं तो अन्त नहीं होता। आँख मूँदकर सोचने पर जैसे लाल सेब और पके सन्तरे सब एक दिखाई देते हैं, लाल कुंई और हलद आभा लिये कनकचम्पा के फूल एक पर एक लदे हों तो उन्हें अलग-अलग गिना नहीं जा सकता, उसी तरह ये दिन : कितने-कितने आये हैं और कितने और आयेंगे। अनगिनत सूर्योदय और सूर्यास्त चले गये, अनगिनत और आकर चले जायेंगे। घुल-मिलकर सब जैसे चेतना का एक अकूल सागर हो जाते हैं, जो पल-पल के बाद नये रंग का दिखता है, नये भाव में अनुभूत हुआ करता है।

कनकचम्पा के रंग का सूर्य भी चले जाने के लिए ही जा-जाकर फिर एक बार आता है और धीरे-धीरे पश्चिम से दक्षिण की ओर को हटते हुए क्षितिज में झुक जाता है। उसके अपने तेईस वर्षों में आठ हजार से अधिक बार यह ऐसे ही झुकता हुआ डूबा है और फिर उगा है। छह वर्ष की उम्र से अब तक कम से कम छह हजार बार की तो उसे याद भी है। इसी प्रकार लाखों-करोड़ों बार आगे-पीछे को आया है, गया है।

चलते से वह अटक गया है। मानो सोच ही सोच रहा था, पाँव नहीं चल रहे थे। मनुष्य ही जैसे न चल रहा हो, मात्र सरक रहा हो। कानों में यह क्या गूँजा? आकाश में एक गम्भीर शब्द की लहरें-सी बढ़ती आ रही हैं। लगता है कोई हवाई जहाज जा रहा है। उधर दूर चमकते बादल के टुकड़े के उस ओर जो गाढ़े नीले आकाश की स्थिर झील है, उसी की सतह पर उतरता चला जा रहा है : जैसे कोई बड़ी-सी बेडौल मछली हो।

इधर कैसे सुन्दर-सुन्दर हंस उड़ते जा रहे हैं! झुण्ड के झुण्ड एक साथ एक दो तीन चार....ग्यारह... तेरह—ना, गोलमाल हो गया। एक के साथ एक सटे कितने पक्षी उड़े चले जा रहे हैं : अनेक श्यामल छायाओं का एक भारी समूह! इनके इकट्ठे उड़ने से जो एक आवाज होती है उसमें भी शायद एक आनन्द होता है, एक अनूठा आकर्षण—देखी-जानी, हिसाबी-किताबी, और हानि-लाभ परखनेवाली सांसारिकता के लिए अदेखा-अजाना आकर्षण। दल के बाद दल! ओह! कितने हैं ये! कहाँ छिप गये अचानक? नहीं, चले गये ये भी ' आते और चले जाते सूर्योदय और सूर्यास्त की ही तरह।

अब तो सामने से उड़ते जा रहे हैं कौए। मानो गाँव भर के कौए एक साथ उड़ने निकले हों। काला कौआ तो बस काँव-काँव करता है। मगर इस कर्कश ध्वनि और उसके पंख हिलाने की भंगिमा में भी एक छन्द है, उस आकाश और इस माटी के साथ

एक समन्वय है और उसके साथ ही एक सन्देश भी, जो मन को छू-छू रहा है और जिससे लगता है कि मानो यह आकाश अपना हो, यह माटी भी उसकी अपनी हो। उड़ते हुए ये नहीं चले जा रहे हैं जहाँ पहले भी उड़कर गये हैं।

हवाई जहाज़ पास आ रहा है: जिसकी मछली के आकार जैसी बनावट है और बाट भूले नारियल के भौंरों की जैसी राव-राव करती आवाज। पहले दूर था, अब पास आ गया। पेड़ों की ओट भी पार हो गयी। वह सामने ही दिख रहा है नदी किनारे का प्राचीन बरगद और पास ही बकुलेश्वर का शिव मन्दिर। कोई साढ़े सात सौ वर्ष पूर्व का ईंटों का मन्दिर टूट गया तो लगभग पाँच सौ वर्ष हुए यह पत्थर का मन्दिर गढ़ा गया। सब याद आ रहा है....

यह विस्मित करता प्रकाश! हवाई जहाज का नहीं, मन्दिर का है। मन की आँखों के आगे आप से आप फिर जाती है प्रवेशद्वार के ऊपर काले मरमर पर अंकित शिलालिपि जो मुखशाला पार कर जाने पर हवाई जहाज़ से भी दिखती है, वही शिलालिपि जिसके अक्षर कुछ विचित्र प्रकार के हैं। इधर से जाते हुए बार-बार पढ़ने से वे पंक्तियाँ कण्ठस्थ हो गयी हैं:

"नवकोटि कर्णाटोत्कलवर्गेश्वर वीराधिवीरवर पुरुषोत्तमदेव महाराज के विजय शुभ समस्त १५ अंक....रविवार समय १ दण्ड अश्लेषा नक्षत्र....जिसे अनंग-भीमदेव राजा के भाई गोपाल छोटराय ने ईंटों से निर्मित कराया था वह अब टूट गया। इसलिए पश्चिखण्ड गाँव के खण्डाइत राय पीताम्बर महापात्र ने पत्थर से निर्मित कराया। इस देवता के सेवक बराही नायक हैं। श्रीकर महाराणा ईश्वर महाराणा सारथि महाराणा सोचल महाराणा"—और भी कितने ही नाम इस मन्दिर के बनानेवाले कारीगरों के थे जो अब शिलालिपि में से विलुप्त हो गये हैं।

ये साढ़े चार सौ वर्ष तो कल जैसे लग रहे हैं। शिलालिपि की भाषा भी ऐसी लगती है मानो किसी ने अभी लिखी हो। यहाँ के लोगों की बोली तक में इस बीच ऐसा कोई परिवर्तन नहीं आया जो स्पष्ट गोचर हो। मन्दिर है जो अपनी पार्श्व-भूमि के साथ एक आदमी जितना नीचे को धसक गया है। कोई मूर्ति साबित बनी है तो कोई टूटी हुई है, कोई बिल्कुल ही घिस गयी है। फिर भी मन्दिर आज तक अपने समूचे भव्य रूप में वैसे का वैसा खड़ा है: लगता है जैसे उत्कृष्ट कला-शिल्पयुक्त तीन विमान एक के ऊपर एक स्थित हों—और इसी प्रकार उनके ऊपर से गुजर गया हो आलोक और छाया भरे साढ़े चार सौ वर्षों के इतिहास का समूचा क्रमिक प्रवाह।

मन्दिर के ऊपरी भाग से देखनेपर नीचे का सारा भाग दिन उतरते की सुनहली धूप में नहाया हुआ चमकता दिखाई देता है। लगता है जैसे इस मन्दिर का भी एक अपना व्यक्तित्व हो। चारों ओर अनलिखी अनुभूतियों की भूली-बिसरी कहानियाँ अंकित हैं। टिमटिमाते तारों तले अँधेरे में अकेले खड़े होने पर जब निराकुल झिलमिलाते जुगनुओं के जलने-बुझने के साथ-साथ सियारों की उल्लास भरी चीत्कारें सुनाई देती

है और इस मन्दिर के अकेले सिर ऊँचा किये खड़े रहने की कहानी प्रत्यक्ष होती है, तब सचमुच ऐसा लगता है कि टप-टप करता आकाश नीचे को बहा आ रहा है और बिजलियाँ कड़क-कड़ककर इस विराट् शून्य के अस्तित्व को ही विदीर्ण कर देंगी।

गाँव यहाँ नहीं है, सारी भूमि बंजर है। मन्दिर को दूर-दूर तक घेरे हुए है कास के फूलों का एक सागर जिसमें हल्की हवा भी चले तो मानो दूध उफन आता है। कहीं-कहीं तो इन फूलों के झाड़ ईख के दण्डों जैसे घने और ऊँचे-ऊँचे हो गये हैं। बीच-बीच में इक्का-दुक्का बबूल के काँटेदार पेड़ भी हैं: छोटे-छोटे गोल पीले फूलों से लदे हुए। हवा में इन फूलों की मीठी महक भरी है। नीचे-नीचे मानो रंग-रूपों के नाना सपने जैसे जग उठे हैं। इनमें मनुष्य के द्वारा नाप-नापकर बँधायी हुई लम्बाई-चौड़ाई की सीमाएँ नहीं हैं। एक सपना फैलता-बढ़ता दूसरे में मिल गया है। इनका धर्म ही है: मिलना, एक हो जाना, अलग-अलग 'मैं' के घेरे बनाये रखना नहीं।

उसी तरह कहीं कहीं पीले ही पीले फूल खिले हुए अंकित हैं; कहीं सोनाई अगर के झुरमुट जिन पर फूल तो नहीं हैं, पर जैसे अनगिनत तितलियाँ पंख से पंख जोड़े झुला रही हों! कहीं पर झुण्ड के झुण्ड अर्क के पेड़ खड़े हैं: बड़े-बड़े हो आये फलों के गुच्छों से लदे हुए, पर फिर भी फूलकोषों को ज्यों का त्यों बनाये हुए, और इसीलिए मानो लाज के मारे झुके-झुके से। काली देह पर लाल-हल्दी रंगों की बुँदकीदार पीली रेशमी पोशाक पहने भौंरों की भीड़ वहाँ मँडरा रही है। नुकीले काँटेदार झाड़ों के घने बिछाव अलग हैं जिनपर फूल ही फूल भरे हैं। सत्यानाशी की बेल ने मानो अपने को धरती पर पसरा ही दिया है और इसके गोल-गोल अंगारों से फल जैसे पीली धूप की धीमी आँच पर पकते हुए यहाँ से वहाँ तक फैले हुए हैं। ढलान पर घास की बिछावन पर धूप फैली पड़ी है। ऊपर की ओर वह मन्दिर दिखाई दे रहा है, इधर पीली महीन बालू का फैलाव, सामने नदी की धार है, सबके ऊपर आकाश।

इस समूचे परिदृश्य पर उड़ता हुआ आ रहा है हवाई जहाज....अब दूर हो चला....इसी तरह विलुप्त हो जायेगा, फिर दिखेगा नहीं। कुतूहल की चीज नहीं रह गया यह अब। नागासाकी और हिरोशिमा के ध्वंस के बाद—अनगिनती हँसते-खिलते परिवारों के ऊपर, जीवित हाड़-मांस की कायाओं के ऊपर, बम फेंक-फेंककर उन्हें राख की ढेरी या अपंग-अपाहिज बना देने के बाद—यह अब मानव समाज का शत्रु, कुत्सित यन्त्र-विज्ञान के आसुरी वंश का एक घृणित विध्वंसकारी अंग बन गया है!....निकल गया दूर, *आकाश अब विमुक्त है। कौन जाने उसमें परदुःख कातर जनसेवक ही उड़कर* गये हों जो पृथ्वीपर शान्ति-प्रतिष्ठा के कार्य में सहयोग देंगे, पर तो भी हिरोशिमा की छाया उस जहाज पर है: उसका कोई विश्वास नहीं।

इधर यह बकुलेश्वर है। सूर्यास्त हो जाने के बाद और साँझ के घिर आने से पहले, सचमुच, दिन के इस अन्तिम पहर में यह पुराना मन्दिर मानो एक नये ही रूप में प्रतिभासित होने लगता है—कितना स्पष्ट, कितना वास्तविक।

रवि ने रुककर चारों ओर देखा। कहीं कोई नहीं! दूर बाँध के नीचे से कटर-कें, कटर-कें करती कोई बैलगाड़ी जा रही है। दिख नहीं रही, सिर्फ सुनाई आ रहा है उसका करुण विलापमय संगीत। जैसे वाद्ययन्त्र के तारों पर धनुइ की डोरी को रगड़ते हुए कोई बार-बार वही सुर निकाल रहा हो, उसी तरह पहियों के भीतर रगड़ खाते धुरों की आवाज़ है और है साथ में बैलों के गले में बँधे घुँघरुओं की टुनक-टुनक, जितनी ही दूर होती जाती है गाड़ी, उतना ही मधुर होता जाता है यह संगीत। बस, केवल चले जाने का संगीत! कितनी गाड़ियाँ ऐसे ही गयी हैं, कितना-कितना सुना है यह संगीत!

मन्दिर को देखते ही उसने हाथ जोड़े। उसे याद हो आया : यह अनन्त-अखण्ड महाकाल समय जिसके अन्तर्गत निरन्तर उत्पत्ति हुआ करती है और कितनों का ही अवसान हो जाता है, यहाँ एक वही चिरन्तन है जिसकी ओट लिये सारा जन्म-मरण और उदय-अस्त होता है और तमाम घटनाएँ घटा करती हैं। उस समय की ही स्मृतिवत् यह मन्दिर खड़ा है। इधर से जाते हुए वह इसे हाथ जोड़ता है : आज भी जोड़े। और सदा मन ही मन जैसी कल्पना करता, आज भी की।

अनंगभीमदेव के समय से लेकर कितने-कितने वर्ष बीत गये! कई सौ वर्ष! कैसे-कैसे उत्सव मनाये गये होंगे यहाँ : कितनी-कितनी भीड़ें, किन-किनका आना-जाना! क्या-क्या मनौतियाँ मानी गयी होंगी : 'मुझे पुत्र हो' या 'इस रोग से मुक्ति मिले' से लेकर 'युद्ध में विजय हो' तक! शायद पहले यहाँ कोई बड़ा नगर रहा। नहीं तो इस उजाड़ वन्ध्या अंचल में ऐसे सुन्दर कलापूर्ण कारीगरी-भरे मन्दिर की स्थापना कैसे होती? शायद यहीं था वह पक्षिखण्ड गढ़ और उसी का है यह महादेव मन्दिर।

कैसे रहे होंगे उस काल के वे लोग? कैसे उनके चेहरे-मोहरे, कैसा उनका पहनावा, साज-सँवार? सब कुछ मानो इस मन्दिर में अंकित है। वैसा ही ऊँचा-लम्बा बलिष्ठ शरीर, चौड़ी छाती, बड़ा-सा गोल चेहरा, तीखी नाक, सिर पर लम्बे केश, कानों से नीचे तक गलगुच्छे और उनमें मिली हुई मूँछें, कानों में कुण्डल होते, गले में हार; छाती पर तीनलड़ी सोने की कण्ठी और उससे झूलता टिकड़ा, युद्ध को जाता वह तो घुटनों से ऊपर कसी हुई लाँग लगाता, कमर में आठ सूत की डोर लिपटी होती, पैरों में जूते रहते, सिर पर शिरस्त्राण या पगड़ी। सचमुच ही जैसे एक पँचहत्था मर्द, सात फुट का जवान! और कैसे मजबूत उसके हाथ-पैर, छाती और जाँघें!

और उन्हीं जैसी उनकी स्त्रियाँ भी, ऊँचाई में चार हाथ से कम न होंगी, पतली कमर, चौड़ी जंघाएँ, भरेपूरे पट्ठे, सिर से पैरों के अँगूठों तक सुन्दर-सुन्दर गहने पहने हुई, पर वे बोरसी जलाये पाँव फैलाकर पीढ़े पर बैठी तापती न रहती : न पालतू सूए

को उँगली पर बैठाये दुलारती रहती; न झाँझ-वंशी, वीणा-मृदंग बजाती या नाना भंगिमाओं में नृत्य ही करती रहती; और न अलसाये भाव से पीठ को पीछे टिकाये दर्पण में मुखड़ा निहारती रहती। यह सब वे करती : मन्दिर में ऐसे चित्र पर चित्र अंकित हैं जो आज भी अक्षत हैं। पर साथ ही अनेक-अनेक चित्रों में यह भी दिख रहा है कि युद्ध का साज साजे हुए, एक हाथ में तलवार और दूसरे में बाण सँभाले वे घोड़े पर जमी बैठी हैं, उन वीर युद्धों की स्त्रियाँ समरवेश में, हाथी-घोड़ों पर सवार होकर, दल की दल युद्धों में जाती। चित्रों में ही उनका यह रूप भी दिख रहा है कि वे सन्तान के लालन-पालन में लगी हैं, अपनी घर-गृहस्थी के कामों में जुटी हैं। सच ही, किसी अन्य देश की नहीं, इसी माटी की बेटियाँ हैं ये।

कहाँ चले गये वे सब लोग !!

वस्तुत कितना उग्र होता है दुर्दशा का क्रम—मारकाट, बलक्षय, पराधीनता, लूट और अनाहार का क्रम—जिसमें इस देश के जन-जन का चेहरा पीढ़ी-दर-पीढ़ी उतरता ही आया है : सूखता, सिकुड़ता, छोटा होता आया है।

एक-एक बात याद हो आती है उसे इधर से जाते समय, जब वकुलेश्वर के मन्दिर और वहाँ की अपूर्व कारीगरी पर दृष्टि पड़ते ही यहाँ का सारा खोया हुआ अतीत उसके मन की आँखों के आगे फिरने लगता है। मन्दिर में केवल मनुष्य ने ही अपनी कारीगरी नहीं अंकित की है, समय भी अपने को अंकित कर गया है।

वह उधर कोई मृदंग बजा रही थी, कितनी सजीव है उसकी भंगिमा ! अब हाथ में मृदंग तो है, सिर नहीं रहा। क्या भाव रहे होंगे चेहरे पर ? कैसा था उसका चेहरा ? कोई नहीं बता सकेगा अब। ऐसे कितने ही सिर झड़ गये हैं, कितने ही अन्यान्य अंग नहीं रह गये।

उस तरफ बच्चे का हाथ थामे एक स्त्री अपने योद्धा पति के सामने खड़ी थी। बच्चा एकटक पिता के मुँह की ओर देख रहा था, पिता के एक हाथ में ढाल, दूसरे में लम्बा बरछा, चेहरा गम्भीर, स्त्री कुछ सुख-दुख की कह रही होगी। "कब तक लगे रहेंगे ये मानस-घाती युद्ध राउतजी ? तुम कब तक लौटोगे ?" क्या उत्तर दे वह ? एक ओर राजा का आदेश, देश-रक्षा का तकाजा, दूसरी ओर स्त्री-बच्चे ! क्या भाव-भंगिमा थी स्त्री के चेहरे पर ? जैसी की तैसी वह खड़ी है, गरदन से ऊपर का भाग नहीं है।

नीचे दल के दल सैनिक चले जा रहे हैं, चले जा रहे हैं। अनगिनती हाथी-घोड़े, जुझार बाजों के साथ वीर बाँकुरे चले जा रहे हैं। अपनी पूरी साज-सज्जा में कलिंग का सैन्य चला जा रहा है। दल के बाद दल चले जा रहे हैं सब अतीत के गह्वर में—दूर, भीतर, भीतर—जहाँ से कोई भी लौटा नहीं, लौटता नहीं।

वह डोली चढ़ ससुराल जा रही थी, छात्र पढ़ने निकला था, और मगरमुखी नौकाओं में बैठकर पाल उड़ाते बढ़े जा रहे थे सागर में नाविक। बरगद तले कुंजों में गुपचुप हँसते प्रेमी युगल मिल रहे थे, सामने व्यासासन पर पोथी खोले बैठे कोई वृद्ध

कुछ पढ़ रहे थे और एक वृद्धा सुन रही थी। पास में गाँव के देवालय को जाती हुई कुलवधुएँ चित्रित थी, गोहाल में रम्भाती हुई गायें, बाघ से लड़ता मल्ल और उसे देखती नागरिकों की भीड़!

पत्थर में कला जीवन पाकर रह गयी है इस मन्दिर की दीवारों पर! घर-आँगन, अट्टालिका-कुटी, दीवारें-आले : सब दिखाई दे रहे हैं; पीपल के पत्ते और बरगद के पत्ते साफ़ पहचान में आ जाते हैं, यहाँ तक कि धीमे-धीमे बह रही हवा भी पकड़ में आ रही है। आँचल उड़ा जा रहा है : छोटे-छोटे मेंदे के फूल जिसमें गुँथे हैं वह वृन्दा-वनी केलिकुसुमों का हार भी हवा में झकोला खा रहा है! मन्दिर की दीवारों पर सब स्पष्ट दिख रहा है। उसे अनुभव होता है वह उसी युग की दुनिया में पहुँच गया है ...

हठात् वह चौंक पड़ता है। कितना समय चला गया!

एक जगह एक पूरसा ऊँचाई पर पादोदक निकलने की नाली बनी है। पानी बह जाने के लिए यह रास्ता ही बनाया गया हो सो बात नहीं, दूध पिलाने की मुद्रा में बच्चे को गोद में लिये एक मातृमूर्ति भी बनी है : सुपुष्ट स्तन और स्तनों के आगे दो छिद्रों में से पादाम्बु निकलता है, मूर्ति के भीतर ही भीतर होता हुआ। भीतर महादेव हैं और उनका पादोदक माँ के क्षीर की नाईं सन्तान के कल्याणार्थ झरेगा ही—ऐसी कलाकार की कल्पना है।

माँ का सिर अब नहीं है, स्तन भी सूख चुके हैं।

भावनाओं की झंझा में उसे जीवन की निशाँच बुझती-सी लगी। देह सिहर उठी। चारों ओर मानो अतीत ईंट-पत्थर हुआ पड़ा है। ढेर का ढेर ध्वंस। दूर-दूर तक सुनसान, निर्जन। नदी किनारे से सफ़ेद कुहरे की चादर धीरे-धीरे खिसकती आ रही है। ठण्डी हवा के मन्द झोंके आ-आकर छाती कँपा देते हैं।

पड़ा है वक्रुलेश्वर का मन्दिर और उसके चारों ओर फैला हुआ ध्वंस। पुराने समय के वहाँ रह गये हैं घने-घने बरगद और निर्जन बेल के पेड़। ऊपर से नीली काली चिकनी-चिकनी साँझ उतरती आ रही है। रास्ता सुझाने को उग आया है पंचमी का चन्दा। वह जल्दी-जल्दी पाँव बढ़ाने लगा।

. . . .

दूर कहीं सन्ध्या आरती का शंख बज रहा है। या मात्र उसका अनुमान है, भ्रम? अतीत तो अतीत में ही रह गया। तब यहाँ चारों ओर घर-घर में दीये जला करते, प्रार्थना-आरती के समय शंख और घण्टे बजा करते। अब वे घर-द्वार तो नहीं रहे। यह सामने एक रोशनी दिखाई दे रही है। घर के भीतर जलती ढिबरी की रोशनी जो खुले दरवाज़े से बाहर तक आ रही है। कुछ लोग चबूतरे के नीचे को घास-फूस जलाकर आग ताप रहे हैं। यह बाउरियों की बस्ती है। थोड़ी दूर पर अँधेरे में लिपटी

जो अमराई दिख रही है उसके पीछे पडंगी रहते हैं। ये लोग धनी हैं : इनकी ही बस्ती के मन्दिर से घण्टे और शंख की आवाज आ रही है।

नदी किनारे चलता-चलता वह पाँच कोस पार कर आया है। कोस-भर और चले तो मँझले शहर की सीमा-चौकी आ जायेगी। वहाँ से लाल सड़क पर पन्द्रह कोस—तब जाकर बड़ा शहर! आज के रात मँझले शहर में ही बितायेगा। भोर में वहाँ से बड़े शहर के लिए मोटर सर्विस है। थोड़ा और चलने पर मोड़ घूमते ही मँझले शहर की रोशनी दिखने लगेगी। लो, मोड़ पार भी हो गया। दोनों तरफ पहचान के लिए वह लम्बे-लम्बे देवदारुओं की जोड़ी है, जिनसे आप से आप घर का रास्ता पहचाना जाता है और साथ ही अपने गाँव का आराम, घर का सुख, याद हो आते हैं। ऐसा लग उठता है कि अब सारा रास्ता खतम हुआ, शहर आ गया।

मँझले शहर की बिजली बत्तियाँ चमकने लगी हैं। सड़क की बत्तियाँ आगे बड़े बाजार तक चली गयी हैं। इधर पोखर के किनारे केवड़े के झुरमुट से लगे खड़े दोनों देवदारु यों लग रहे हैं जैसे दो भाई किसी घर में युगों से खड़े हों। कितने पेड़ हैं आम और जामुन के, अमरूद के! तने कितने मोटे हैं! सँहुड़ा—यह कभी किशोरी थी, अब तो बूढ़ी हुई। कहते हैं, बहुतों ने इसके साथ ब्याह किया है। दो पत्नियों के मर जाने पर लोग पहले सँहुड़ा से ब्याह रचाते हैं, फिर तीसरी पत्नी लाते हैं। माना जाता है कि तब तीसरी की आयु खण्डित नहीं होती। पर अभाव-असुविधा, रोग से जर्जर शरीर, ऊपर से बच्चे जनना, फिर, घर से उठा लाकर नदी की सेज में सुला देना—यही मानो गणित का फल है,

उसे इन लोगों का ध्यान आता है। फिर ध्यान आता है उन तमाम लोगों का जिन्होंने देवदारु के इन दोनों पेड़ों को लगाया होगा, जिन्होंने पोखर-बाँध के किनारे-किनारे पेड़ों के इतने कुंज और दूर-दूर जहाँ तक आँख जाती है वहाँ घर-बगीचे, बाँसों के झुरमुट सजा दिये। उसे याद आते हैं वे लोग जो इधर की सारी धरती को जोतते-जोतते पहुँच आये वकुलेश्वर महादेव के इस मन्दिर की ओर—"अनंगभीमदेव राजाक भाइ गोपाल छोटराय ईटा पोडाइ तोलाइ थिले। एते दिने भांगि गला।" उससे भी पहले, बहुत पहले की सोचो—तब कितनी नदियों का जन्म नहीं हुआ था और कितनी नदियाँ जो मिट्टी से भर गयीं और जिन पर अब घर-द्वार बन गये हैं उनमें तब अथाह पानी था और नावें चला करती थीं। सोचते-सोचते रवि रास्ते के एक किनारे को खड़ा हो गया और मँझले शहर की बत्तियों की ओर चुपचाप देखता रहा।

सोचता वह बहुत बार है, पर आज की बात और है। घर से उसे ठेल-टालकर भेजा गया है कि वहीं जाकर नौकरी करे। पिता की इच्छा को टाल न सकने के कारण उसने एक जगह अर्जी दी थी। दैवयोग से नौकरी उसे मिल गयी : किरानी की नौकरी, शुरू में सत्तर रुपये। वहीं से चिट्ठी आयी है। ज्योतिषी को बुलाकर पंचांग दिखाया गया और शुभ मुहूर्त निकलवाकर उसे विदा किया गया है। माँ ने कहा था

बैलगाडी से जाना, पिता भी यही कह रहे थे। पर उसे तो पैदल चलने का अभ्यास है। चलना उसे अच्छा भी लगता है। अन्त में उसकी ही बात रही। ज्योतिषी ने बताया था कि इस सत्तर की नौकरी से ही बढते-बढ़ते वह बड़ा हाकिम तक बन जायेगा।

बी. ए. किये उसे ढाई वर्ष हो गये थे। टाइफ़ाइड में पड़कर तब मुश्किल से बचा। शरीर से दुबला-पतला था ही। उस वर्ष तो नौकरी के लिए चेष्टा न करने का यह एक अच्छा कारण बन गया। फिर स्वास्थ्य सुधरा, किन्तु उसने नौकरी के बजाय अपना मन घर की ज़मीन-जायदाद के कामों में लगाया। उसे अपने हाथों हल चलाना बड़ा अच्छा लगता। आस-पास के गाँव-हाटों में खूब घूमता; बाउरियों और मेहतरों की बस्तियों में जा-जाकर उनके सुख-दु:ख की पूछने-करने में उसका समय लगने लगा। नौकरी की ओर ध्यान ही नहीं दिया। मगर पिता का दबाव दिनोदिन बढ़ता गया।

माँ अपने मन में सोचे बैठी रही कि दिनों को जाते देर नहीं लगती, एक न एक दिन चिड़िया घोंसला बाँधेगी ही। बेटा नौकरी करेगा, ऊपर उठेगा। फिर हाथ से दो हाथ होंगे। घर में बहू आयेगी। सुनते-सुनते अन्त को बड़ा झिझकते हुए उसने यह अर्जी भेजी थी। आज वह चला जा रहा है, नौकरी करने। वह, रवि—जिसके अपने जीवन के बारे में कुछ स्वतन्त्र विचार थे! उस देवदारु तले खड़े-खड़े मँझले शहर की बस्तियों की ओर देखते समय उसके भीतर का अव्यक्त व्यक्तित्व भी मानो अनजाने सामने आकर खड़ा हो गया और कहने लगा : मुझे यों सस्ते में न बेंच फेंको, मैं जीवित रहना चाहता हूँ, फूल की तरह खिलना चाहता हूँ!

एक ओर समाज की बँधी-बधायी निष्प्राण संस्कार-धारणाएँ जो औरों को देख दर्द पैदा करती हैं और अपने प्रिय-आत्मज को मशीन बना देना चाहती है—दूसरी ओर उसका स्वतन्त्र मन। यही सोचते उसे लगा कि जीवन-प्राचुर्य में जब वह लहरों की तरह बढ़ने जा रहा है तो उसके उद्दाम आवेग को रोकने के लिए उसके माँ-बाप, बन्धु-स्वजन अपनी-अपनी इच्छा-शक्ति का प्रयोग कर रहे हैं। मात्र बेटा या भतीजा बनकर आदर-स्नेह देना ही यथेष्ट नहीं, उन लोगों की बात मान, पंख कटा, कोल्हू के बैल न बन जाने तक उन लोगों को चैन नहीं पड़ेगा। चूल्हे की जलावन की तरह वह अब अपने आपको ही झोंक देगा।

अघोरी का कोई घर नहीं, भूखे-रंक के पेट के लिए आधार नहीं; जहाँ धन और बढ़वार है वहाँ मन में भरा है अँधेरा, दारिद्र्य, मनुष्य ने तमाम देवताओं को परे हटा दिया है और केवल लक्ष्मी की पूजा में लग गया है—तन से, मन से। समाज भी गढ़ा जा रहा है तो धन के इसी भाव और अभाव के अनुपात में। आदमी का मोल-भाव धन पर आधारित है। जिसके पास धन नहीं, उसका कुछ नहीं।....छोड़ो यह सब। उसे तो अब अपने को एक बँधी-बँधायी लीक पर चलने के लिए डाल देना है। औरों को सुधारने, औरों का भला करने के कामों में, उसे अब हाथ नहीं डालना।

पंचमी के चन्दा तले शहर की बस्तियाँ बड़ी विवर्ण-सी दिखाई पड़ रही हैं,

मानो राख-जैसे रंगवाले कुहासे में से टिमटिमाती हुई अंगारियाँ हों, चन्दा ने कुहासे को ही रंग दिया है, लगता है जैसे चाँदनी भाप बनकर सारे में भर गयी हो, नदी किनारा एकदम सूना है, जैसे छाया और उजाला दो जन पास-पास सोये पड़े हैं : एक महीन उजली बालू की धारा है, दूसरी साँवली पानी की, यहाँ-वहाँ ऊँघते हुए पहरेदारों-से इक्का-दुक्का पेड़ हैं, बार-बार अपनी चमक-भरी चिकनी चाँदनी फेंकता हुआ चन्दा उझक-उझककर देख लेता है—सब कोई सो गये क्या ? अभी देर ही कितनी हुई ! साँझ ढले पहर नहीं हुआ और चारों तरफ सन्नाटा छा गया !

खड़े-खड़े उसे ध्यान आता है। कितनी रेखाएँ इस धरती पर खींची गयीं, कितनी विलुप्त हो गयीं, कितने-कितने युग कहाँ खो गये ! वह लोभ और आशाएँ, लूटमार और कमाइयों के पर्वत, क्षमताओं की अविराम छटपट—कुछ भी कितने दिन के लिए ? बड़ी उद्यतता से सिर उठाया, पर कहाँ खो गया कौन—पता तक नहीं, गिलास भर पानी के लिए करते-करते आदमी समुद्र ही सोखने पर कमर कस लेता है, प्यास तक बुझती नहीं कि वह कहाँ न कहाँ चला जाता है। सदा के लिए बुझ ही जाता है उसका अनुभूति-बोध। और फिर तो—न यह चाँदनी रात न अँधेरी रात, न कूँई के फूल-सी कुँआरी भोर न गोधूलि वेला का सूर्यास्त, न कोई संगी न किसी की माया, न सुख न दुख !

कुछ नहीं रहता, सब कहीं चले जाते हैं : दिन-रात तक !

जीता वही है जिसने ईंट-पत्थर नहीं जोड़े, जिसने सोने-रूपे की दौड़ में न पड़कर लौ लगायी—जीवन के साथ, शान्ति और आनन्द के लिए।

पत्थर का घर टूट-फूटकर धूल हो गया, वह जायेगा—पत्तों का घर खड़ा करके स्वयं अपने को बाँधने के लिए ?

नींद से जागे हुए की नाईं रवि ने उन बत्तियों की ओर देखा और जैसे अपने से ही पूछा : मैं कहाँ हूँ ? बड़े शहर में रहकर बी. ए. तक पढ़ा। इधर से ही रास्ता। पर साल भर से दो-एक बार को छोड़ इस रास्ते जाना नहीं हुआ। गाँव उसे अच्छा लगता। वहीं रहना। खेती-बारी में ध्यान देने पर, अपने आप ही वहाँ चिपका रह जाता। माटी महतारी में छुट्टी भी नहीं देती।

फसल का मोह उसे इतना न था जितना नया कुछ गढ़ने, देखने, और सेवा करने का था। माटी की अनलिखी छाया उसके ध्यान को बाँधे हुए थी। बीज डाला जायेगा, अँखुए फूटेंगे, पौधे-पेड़ फूलों और फलों से लद उठेंगे। प्रकाश में भी रंग भरेगा, और जैसे विस्मित होने प्रकाश पाता था उसने, वैसे ही विस्मित होने अजाने-अकहे एक दिन नहीं भी रहेगा। मर गया या कहीं चला गया सो भी कहा न जा सकेगा। इतना भर

ही होगा कि अब नहीं हैं, पर इतने में ही तो उस खेल का अवसान होता नहीं। माटी फिर लुभायेगी : फिर दे, फिर दे। फिर घास अँखुआयेगी, फसल लहलहायेगी—वह फिर चला जायेगा।

और इस होने न होनेवाली नित की फ़सल की नाईं ही गाँव का जीव : आदमी! कौन नया आया, कौन था और अब नहीं है—इसका कोई दिखावा नहीं। न कहीं चिरजीवी होने की होड़, न किसी बात के लिए अड़ियलपन। उन्हें देखते फिरने में सिनेमा से अधिक आनन्द आता है। लगता है जैसे कोई नाटक है और उसमें वह स्वयं भी अभिनय कर रहा है। कितने अनगिनत हैं पात्र-पात्राएँ! कोई सीमा नहीं। सब कहीं मानो चल रहा है वही जीवन और विलय का महानाटक : और वहीं तो उसका अपना भी परिसर था। अनजाने, अनसुने मैदान में खड़े इतने घास में वह भी कोई तार था। इससे अधिक की कभी कामना भी न की थी।

वैसे भी वह समाचारपत्र पढ़ता, राजनीतिक समस्याओं की विवेचना पर ध्यान देता, बहुत बार पुस्तकें भी मँगाता और पढ़ता। मगर उसकी गँवई बुद्धि को यूरोप-अमेरिका या चीन का सामान्य जन अपने गाँव के सामान्य जन से भिन्न न लगता। ऐसा लगता जैसे पता नहीं किस युग से वे सब उसके परिचित हैं। हाँ, उन्हें वह देख और जान रहा है अब—अँगरेज़ी कविता-उपन्यास और समाचारपत्रों के माध्यम से। उनके जीवन का चित्रण पढ़ते समय वह तन्मय हुआ अपनी और उनकी हृदय की धड़कनों को मिलाता चलता। रंग-रूप और भाषा, आचार-विचार, खान-पान, और जाति-पाँति के सारे विभेद उसे आदमी पर ऊपर से चढ़े केंचुल-से लगते।

मन ही मन उस केंचुल को भेदकर वह उसके साथ उठता-बैठता, घुलता-मिलता। कभी-कभी कोई किताब पढ़ते ठहाका लगा बैठता और माँ पूछने लगती, "क्या है रे इसमें जो यों हँस रहा है?" तो वह बड़ी सहजता से बताता, "हमी लोगों की बात है माँ, हमारे जैसों के ही बारे में लिखा है... किसी दिन किसी अनदेखे विदेश की दुर्दशा भी कहीं पढ़ता तो उसका जी भर आता और बिना खाये-पिये सारा दिन यों ही भटकता रहता। अपने गाँव के ही टूटे-फूटे माटी के घर देखकर तो उसका मन उछलकर सात समुद्र नौ खण्ड पार पहुँच जाता और उसे लगता कि दुनिया-भर का जन-मानव तो भाई-भाई की तरह अपने धन्धे से लगा भला जीवन जीना चाहता है, पर कुछ कुचक्री 'टाउटर' हर जगह हैं जो तरह-तरह के दाँव-पेच लगाये निजी स्वार्थ सिद्ध करने में जुटे हुए हैं। इन्हीं के सुझाये होते हैं : नये-नये मूल्य, नित नयी आवश्यकताएँ; और नासमझ साधारण जन नाच उठता है और अन्त में सबसे बड़ी आवश्यकता मान बैठता है : युद्ध तक को, हिंस्र नर संहार को!

गाँव की माटी के कण-कण के साथ मिलान करते हुए उसने बाहर की घटनाओं को पढ़ा था, अनुभव किया था, और उन्हें पहचानने की चेष्टा की थी—बिना किसी उद्देश्य के। यन्त्र-विज्ञान के वज्र-पिंजरे में बन्दी छटपटाते मानव के दुखों को देखते

समय उसे यह भी दिखता कि कोंपल फूट रही है, कपास के ढोंडों से रुई निकल रही है, धूल उड़ रही है, दिन-रात जा रहे हैं, आ रहे हैं। राक्षसी कल-कारखानों में एक मिनिट में सौ-सौ मोटरगाड़ी तैयार होने की कहानी पढ़ते हुए वह देखता कि चबूतरे के नीचे गिरगिट ने चुपचाप दो घण्टे परिश्रम कर चार अंगुल का बिल खोदा है और सब ओर से चौकन्नी रहते चौदह अण्डे उसमें संजो गयी है : ऊपर से मिट्टी से ढँककर और अपने सिर से पीट-पीटकर सब समान करते हुए, उस जगह दो पैरों से चिन्ह बना गयी है, उत्पादन तो इसने भी किया है।

उसने ध्यान दे-देकर देखा है कैसे एक के पीछे एक चीटियों की टेढ़ी-मेढ़ी लम्बी रेखा अपना सबका आहार जुटाने के लिए जाया करती है और लक्ष्य किया है इस पर से उनकी समूह-भावनाको, अनुशासनबद्धता को, यही नहीं, उसने घोंघों और केंचुओं की तन्मय गति, भाँति-भाँति की रंग-बिरंगी चिड़ियों का नीड़-निर्माण, पत्थर की शिलाओं के नीचे उग आनेवाली नाना प्रकार की वनस्पतियों का मुक्ति प्रयास और ऋतु-ऋतुओं में खुले खेतों और मैदानों में बिछे पड़े नन्हे-नन्हे अँखुओं का स्वच्छन्द जीवन—यह सब भी सजग आँखों देखा है, सरल जीवन से उसका परिचय नहीं हुआ, पर उसने अथक चेष्टा की है मानव की निष्कपट सरल भाषा, उसके सरल सुख-दुख, उसकी बड़ा होने की हवस से मुक्ति, और परिश्रममय साधारण जीवन का स्वाद—इन सबको खोज पाने की :

यही सब करते तो बिताये उसने दो वर्ष।

सामने मँझला शहर दिखाई दे रहा है। लो यह आ भी गया। परिवर्तन साफ नजर आ रहे हैं, इस जगह तो बगीचा था! और इसके उस ओर पोखर और माइनर स्कूल जहाँ उसकी पढ़ाई शुरू हुई! टेढ़े-मेढ़े बेड़े की तरह, शहर के इस दक्षिणी भाग की ओर जो पूर्व से पश्चिम को घनी अँधेरी अमराई मुड़कर गयी थी, वह कोई मील भर में फैली थी—कहाँ गयी वह? शायद जमींदारी समाप्त होने की सुनते-न-सुनते जमींदारों ने उसे कटवा-कटवाकर बेच दिया। बिलकती धूप में वही सिर पर काला-हरा चँदोवा बना करती, लू-धूप यहाँ छू न पाती, हलकी-हलकी बयार टहोकती रहती, आँधी-पानी में वही गाय-गोरू आश्रय लेते, और जब चाँदनी खिलती तो एक छोर से दूसरे तक उसके नीचे छाया और प्रकाश की छोटी ही छोटी बिछी होती। अनगिनत जीवों का जहाँ निर्भय वास था, नन्हे-नन्हे पंछी भी मुक्त गान से जिसे गुँजाये रखते, प्रकृति के उसी विपुल सौन्दर्य-सम्भार और इतने युगों की जातीय सम्पदा को व्यक्तिगत अधिकार का आडम्बर करके मनुष्य ही ध्वंस कर बैठा!

उन्हीं खाली-सूनी जगहों पर कितनी इमारतें खड़ी हो गयी हैं। पास ही चावल की एक बड़ी मिल है, उसके चारों ओर दड़बों-जैसे छोटे-छोटे कई मकान। ऊपर टिन के रंग की लोहे की चादरवाली छत। इस मिल की देखा-देखी दो और धान की मिलें बन रही हैं। एक का तो अबतक लिपाई-पुताई का काम भी पूरा नहीं हुआ। चारों ओर

बांस के वाड़े-घेरे से लगता है जैसे पिंजरे में कोई असुर बंधा है। उधर शहर के समीप किसानों की जहाँ पास-पास बहुत सारी जमीन थी, वहाँ से रास्ता निकाला गया है। रास्ते के किनारे-किनारे, तार के बाडों से घेरकर हर मालिक ने दस-बीस एकड़ के अपने-अपने फार्म बना लिये हैं, जिनमें पोखर हैं, बागबानी होती है और जगह-जगह कलमी पेड़ तक लगाये गये हैं। एक-आध मकान भी बन गया है।

यह रहा शहर, यह ऊँचे-ऊँचे मकान, यह बिजली का प्रकाश। बीते युग की यादगारों की तरह यहाँ-वहाँ अब भी माटी के झोंपड़ोंवाली बस्ती, पिछवाड़े सहिजन और केले के गाछ। पर इन सबके बीच-बीच भी वे मकान पैठ आये हैं। नये-नये मकान और खड़े किये जा रहे हैं। ईंटों के चट्टे लगे हैं। नाना दिशाओं से व्यवसायी लोग आये हुए हैं। शरणार्थियों की बस्ती भी उभर रही है। शहर बढ़ता जा रहा है। गाँव सिकुड़ रहा है, शहर फैल रहा है। नया युग आ गया।

उसीके संकेत हैं ये मकान, यह बिजली। और ये रिक्शे, ये ट्रक। जोड़ा-जोड़ा रोशनी के साथ चांदनी रात को चीरते हुए तूफान की तरह हहड़ाते-रौंदते आते हैं ये ट्रक—एक के बाद एक! पहाड़ों को तोड़-तोड़कर पत्थर लाये जा रहे हैं—रबर के चक्कों पर! और लाये जा रहे हैं लोहे के छड़, ईंटों के चट्टे पर चट्टे, और न जाने क्या-क्या। यह एक ट्रक पान गये, यह सब्जियों का ट्रक, इसमें ऊपर तक केले लदे हैं, उसमें गोभी, पाँच ट्रक निकल गये, आज बड़ी हाट थी।

पता नहीं क्या न क्या भरे हुए कितने-कितने ट्रक इधर से उधर, उधर से इधर, हरदम दौड़ा करते हैं। बस धूल के बादल में एक पल के लिए रोशनी चमकती है। और—गर् गर् गर् गर्। उसके बाद, साँस तक लेना मुश्किल हो जाये, इतनी धूल उड़ती रह जाती है। चीजें सब चली गयीं। बड़ा बाजार ठटा-ठट भर गया है। सडक पर साइकिल रिक्शे दौड़ रहे हैं। दूकानों पर भाँति-भाँति का माल सजा हुआ है। जाड़ों की रात। एक दूकान की घड़ी में आठ बज रहे हैं। रेडियो पर समाचार भी आने लगे। बड़ा बाजार अभी भी खुला हुआ है।

सड़क के उस सिरे पर कुछ गोलमाल हुआ जान पड़ता है। लोग एक ट्रक को घेरे हुए हल्ला मचा रहे हैं। बड़ी देर से यह चल रहा था। अब भीड़ छँट गयी। ट्रक चल पड़ा: जिधर को जा रहा था उससे ठीक उलटी तरफ। ट्रक पर बोरे ही बोरे लदे हैं। कई आदमी भी ऊपर चढ़े हुए हैं। अब वह गोदाम की तरफ़ जा रहा है। हो-हल्ला करनेवाले लौट आये। ट्रक में चावल था। बड़े शहर को जा रहा था। लोग अड़ गये, ट्रक गोदाम की ओर लौट चला। लोगों की माँग थी: "यहाँ से चावल नहीं जाने देंगे। अभी ही रुपये का पाँच पाव मिलता है, फिर तो भाव और चढ़ जायेगा। चावल नहीं जाने देंगे। जो होगा, देखा जायेगा।" लोगों ने रास्ता रोक लिया। ट्रक लौट गयी। जनता की जय हुई।

पर कौन कह सकता है यह चावल नहीं ही जायेगा? जनता के प्रतिनिधि

बनकर जो लोग उस ट्रक पर चढ़कर व्यवसायी के गोदाम तक गये, वे कब तक सच्चे बने रहेंगे, कब तक निर्भय और अटल रह सकेंगे? हो सकता है उस हो-हल्ले के ही बीच, आगे बढ़-चढ़कर बोलनेवाले पाँच-चार जनों ने अपने लिए कोई डौल बैठा लिया हो। और और लोगों में से दस-बीस पुलिस के कब्जे में आ जायेंगे। धर-पकड़ होगी। ट्रक चल देगा। हो सकता है आज ही : रात में ही।

सफ़ेद झक् धोती-कुरता पहने दो भारी-भरकम सज्जन इस घटना को लेकर चर्चा में लगे थे। एक बूढ़े थे, चँदले सिर के; दूसरे सज्जन की आँखों पर एक मोटा चश्मा था। शायद दोनों स्वयं व्यापारी थे। हर दूकान के आगे उधर दस-पाँच, दस-पाँच लोग जुड़े हुए थे और उस ट्रक की बात चल रही थी। उन दोनों सज्जनों का कहना था कि आज चावल के ट्रक को रोका गया, कल को बोरियें लूट ली जायेंगी, और फिर दूकानें, और फिर आग और मारकाट सरकार अभी से व्यवस्था नहीं करेगी तो बाद में सँभालना भारी पड़ जायेगा।

ऊँची आवाज़ में बातें करते हुए लोग-बाग अपने-अपने रास्ते जाने लगे। किसी ने कहा, "इसी प्रकार हाथों हाथ अपनी चलाये बिना ये व्यापारी लोग मानेंगे नहीं", तो दूसरा फुँकारता हुआ बोला, "देखा न, सरकार का नाम लेता है : सरकार जैसे उन्हीं के लिए है : इन मुनाफ़ाखोर चोर बाज़ारियों के लिए हम चावल का जाना रोकेंगे तो हमें पकड़ा जायेगा!" एक अधेड़ उम्रवाले अलमस्त सबको सुनाते हुए बोले :

"पेट मोहर निज गुरु
उद्धव केते तु पचाइ—

अरे मेरी सरकार तो मेरा यह पेट है, फिर कौन सरकार, किसकी सरकार : आज उसे सबक मिल गया। आगे बढ़कर मैंने ही तो उसे रोका।"

रवि ने उन लोगों को लक्ष किया। कोई कमीज़ पहने है, कोई धारीदार कम्बल लपेटे हुए। कोई कलम खोंसे कोट-मफलर और बन्दर टोपी लगाये है तो कोई मात्र गेरुआ धोती में। किसी के चेहरे पर समझदारी के भाव है, कोई निरा घरद्वारी गावदी। कई तो सुसु करते बीड़ी के कश खींचते हुए ऐसी-ऐसी हाँकें जा रहे थे मानो पहाड़ को उलट देंगे। भीड़ में एक चेहरा उसे पहचाना-सा लगा। शायद साथ पढ़ा हो। पर ये इतने रंग रूप के चलते-फिरते जीव, यही सब तो जनता है—जनता जनार्दन! योग पड़ा : आप से आप जुड़ आये, उसके बाद जिधर जिसे जाना था चल दिया। रास्ता खाली।

उसे अभी अपने बन्धु विपिन के यहाँ जाना था। किधर, कौन-सा होगा उसका घर? खोजते हुए वह एक जगह रुक गया। थोड़ी दूर पर बिजली का ढेर-सा प्रकाश झर रहा था। शायद छोटे-छोटे बल्बों की मालाएँ झूल रही थीं। उधर ही बड़ा बाज़ार है। खूब रोशनी है वहाँ, पर उसमें आभिजात्य नहीं। उसे याद नहीं आ रहा ऐसे जीवन से परिचय रहा हो। कोई अनुभूति ही याद में नहीं उभर रही। सड़क पर लगे

बिजली के खम्भे तक उसे अटपटे और असुविधाजनक लगे। जैसे जीवन का प्रकृति के साथ तालमेल ही न हो, जैसे लोहे की ही तरह अनचीन्हे दर्शन-सत्यों की उद्धत घोषणा हो। यहां जीवन का समन्वय नहीं, संग्राम था, और यह प्रकाश उसी की विजय का प्रतीक—भले ही यह सामयिक हो, सम्बन्धमूलक हो, सापेक्ष हो।

जो हो, इस समय तो उसकी विजय हो है!

किन्तु यह विजय तो स्निग्ध कोमल चांदनी रात पर विजय हुई! इसमें शान्ति नहीं मिला करती, सपने नहीं छा आते, और कुहरे के कणों की नाईं अयाचित हो सहानुभूति बिखराते हुए मन भी दूर-दूर तक बहा नहीं फिरता। और यह हुई विजय तारों-भरी अँधेरी रात पर भी, जब मनुष्य उनीदा-उनीदा-सा सामने आता है। अपनी जानी-चीन्ही घटनाओं की अनुभूति को लेकर किसी अव्यक्त और अतीन्द्रिय अवस्था में उब-डुब करता हुआ।

पर न चाँदनी रात भरती है न अँधेरी रात ही। रास्ते पर लगी यह तेज बिजली की रोशनी केवल भ्रमित कर देती है मनुष्य की अनुभूति-शक्ति को, उसकी विचार-शक्ति के स्नायुओं को। मनुष्य वहीं, उतने में ही अटका रह जाता है; उसे दूर देखने नहीं देती। जो भी क्षति होती है—मनुष्य की, प्रकृति की नहीं।

यही दर्शन था उसके मन में।

और उसने सिर को एक झटका देकर सामने आये बालों को पीछे किया और पंचमी के चन्दा की ओर भर-आँख देखा। इधर बायें बंजर में वह पुराना बरगद अब भी खड़ा है: इसे निकाला नहीं गया। उसके उस ओर मैदान में हलका-हलका कुहासा रुई के फाहों-सा तैरता फैला है; इस ओर उन्हीं दिनों के कुछ पुराने झोंपड़े हैं और कूड़े का ढेर। पीछे सबसे अलग-अलग ऊँचा सिर उठाये एक केले का पेड़ दिख रहा है, जिसके चौड़े-चौड़े हाथ निर्भय उल्लास के साथ फैले हैं: आकाश से झरती चाँदनी को पकड़ लेने के लिए। कुछ ने तो उसे पकड़ भी लिया है। सामने तरफ खेत हैं, खाली। और उस तरफ भौंरे जैसे काले रेशमी आकाश तले क्षितिज पर पेड़ों की घनी श्याम रेखा के ऊपर चन्दा।....

सब जैसा पुरानी दुनिया में था वैसा ही। कुछ तो बदला नहीं। न कोई हो-हल्ला, न कहीं हड़बड़ी। बिजली का उजाला भी नहीं, घरघराते ट्रक भी नहीं, जीप या मोटरगाडी भी नहीं। है तो बस यह आकाश, यह माटी, ये पेड़-पौधे, और चमक-दमक दिखावों से मुक्त ये माटी के ही छाजनवाले कुछ घर।

ऐसा ही था हमेशा; आज भी है।

एक अपूर्व शान्ति का पसारा है इस समूचे विस्तार पर। कोई उत्कण्ठा नहीं न रहने-रखने की, न नाम के लिए, दिखावे के लिए। रवि ने अपनी भावना, अपनी आज के दिन की सारी अनुभूति, इसी के आगे प्रस्तुत कर दी।

आज श्रीपंचमी है: उसका प्रिय दिवस। आज की रात चेतना को साहित्य-

संगीत और सद्ज्ञान की प्रतीक वाग्देवी की आराधना में सुसम करने के लिए होती है, जीवन को तत्त्वदर्शन के आलोक से आलोकित करने के लिए होती है।

किन्तु वह तो निकला है नौकरी पर जाने के लिए।

आनेवाले तूफ़ान की सूचना उसने आज देख ली है। भाव बढ़ गये हैं। भूख की आग सुलग उठी है। उपरोध टूट रहा है। रोक अब और नही रही।

इस मँझले शहर के लिए तो, जहाँ सब कोई सिर झुकाये अपने-अपने काम-धन्धे पर जाया करते और लाल पगडी को देखते ही कोसों दूर भागते, वहाँ के लिए तो यह एक बहुत बडी घटना है।

हाँ, क्योंकि वह जन-समूह की लहर है। यही है वे जो राज्य भर के वंचित, दुखी, निरन्न जन हैं। इस देश के ही नही, सब देशों के। इनकी भाषा या चमडी के रंगभेद से कुछ आनी-जानी नहीं, भीतर सबके वही आग है जो परमाणु बम से नहीं दबती, नीति-वचन और भागवत-पुराण या भाषणों से नहीं बुझा करती। यह तो बढती और फैलती ही जाती है, सबको लीलती जाती है।

आदमी को आदमी पागल किये दे रहा है। संचय करने के लिए ताला लगाकर औरों को भूखों मार रहा है और कहता है—कानून मानकर चलो! शान्त, सुन्दर श्रीपंचमी की यह चाँदनी रात। इसमें चावल की मिल चल रही है—धान कूटनेवालियों के श्रम का मूल्य न देकर। असहाय विधवा स्त्रियाँ। किस-किस का बच्चा भूखा सो गया है। कपडे की मिल चल रही है—बुनकरों का रोजगार छीनकर। यन्त्र मनुष्य को साधन बनाकर बढ रहा है—अपरोक्ष रूप से तन्त्र का खून चूस लेने के लिए। पूँजी बढ रही है: साथ ही दारिद्र्य। इस शान्त रात्रि के तल में अशान्ति बढ रही है। कौन जाने कब क्या हो जायेगा?

लगता है जैसे कोई बडी भारी होली सजायी जा रही हो और उसमें सब कोई अपना-अपना अंश भाग डालते जा रहे हों। कोई पुआल दे रहा है, कोई लुआठे की तरह अपने-अपने हिंसा-द्वेष और अपमानों का ईंधन। होली का यह ढेर ऊँचा ही ऊँचा होता जा रहा है: घर-घर में, गाँव-गाँव में, शहर-शहर में—जहाँ परमाणु बम भेद नही सकेगा, बिजली और धूप भी पहुँचेगी नही। यह ढेर तो जन-जन के मन में सात ताल गहरे पाताल में बढ़ रहा है। दिख जाता है साफ़ आँखों से।

और इधर वह स्वयं—चला जा रहा है स्वस्थ होते भी आँख मूँदे बँधी हुई लीक पर मशीन की तरह जीवन बिताने के लिए! दुनिया में जो हो: उसे महीने की महीने सत्तर रुपये मिलेंगे। बाद में कुछ बढ जायेंगे।

अपने को तौलने लगा वह तो आतंकित हुआ रह गया। कहाँ गयीं उसकी भावनाएँ और योजना? क्या हुई उसकी स्वाधीन चेतना?

स्वाधीन पंछी स्वयं पिंजरे के मुँह की ओर जा रहा है। घर में आग लगने पर अपनी तसल्ली के लिए या औरों को समझाने के लिए, अपनी ही कमज़ोरी को दोषी

ठहराता है। उसके पास अपने लिए बस एक ही कैफियत है: आग उसे छोड़ नहीं जायेगी।

वह फिर चल पड़ा है। इसी तरह मशीन भी चलती है। सामने के बड़े-से फूस के घर में सिनेमा दिखाया जा रहा था। एक शो टूटा, दूसरा शुरू होगा। मँझले शहर में तो सिनेमाघर ही बन गया है। सारे द्वार बन्द किये हाथ-पाँव बाँधकर बैठे हुए चलती-फिरती तसवीरें देखने के बाद अब झुण्ड के झुण्ड लोग निकल रहे हैं; और झुण्ड के झुण्ड नये लोग आ रहे हैं—कितनी-कितनी दूर के गाँवों से, घर-द्वार छोड़कर, स्त्री-पुरुष चले आ रहे हैं। खूब ऊँची आवाज में हिन्दी के गाने चल रहे हैं।

इन्हीं गानों को अब किसान खेतों में गुनगुनायेंगे, कुँआरी कन्याएँ अपनी कुँआर पूनो के उत्सव में गायेंगी, और गाँव में गली-गली, घर-घर इन्हीं सिनेमा स्टारों के चित्र लगाये जायेंगे। आग तो पता नहीं कब जलेगी: सिनेमा चल रहा है।

और वह चला जा रहा है, अपने हृदय के एक लाख सद्विचारों और दो लाख जनहितकारी योजनाओं के लिए ममता के आल-जाल गूँधते-बुनते हुए—नौकरी करने।

आगे फिर बस्ती आती है। खंजड़ी पर थाप पड रही है, बीड़ों को कण्डे की आग से सुलगाया जा रहा है, द्वार से लगे सहिजन तले बैल सोये हैं, ऊँचे-नीचे कच्चे रास्ते के बीचोबीच दो बैलगाड़ियाँ खड़ी हैं।

मानो उसका परिचित गाँव यहाँ पीछा करता चला आया हो। जी रुकने को करता है। जरा भजन सुनता! उसी अव्यय-अरूप-निराकार का संगीत जो समझ में नहीं आता, पर सुनने में भला लगता है! जी खोलकर कोई गा रहा है, बजा भी खूब रहा है। चावल महँगा हो गया है, पसीना बहा-बहाकर भी पेट भरने की जुटाते नहीं बनता, फिर भी खंजड़ी चल रही है, भजन थमे नहीं। रास्ते पर हलकी धुन्ध और कुहासा घुल-मिल से गये हैं।

पर जाना पड़ेगा उसे तो और आगे। सामने वह छोटी-सी अमराई। यहाँ-वहाँ कुछ ये ही पुराने दिनों के अवशेष रह गये हैं। नहीं; और भी हैं। थोड़ी-थोड़ी दूर पर तमाम बस्तियाँ फैली हैं; उधर ही कहीं एक पोखर भी है और बीच में मन्दिर जहाँ साँझ घिरने से पहले कबूतर आ-आकर छा जाते हैं। और सफेद कुँई! कुँई का एक-एक फूल जगा हुआ है, हँस रहा है। श्रीपंचमी को फूल तोडनेवालों की भीड इन तक नहीं पहुँची। लोग जानते हैं कीचड और लत्तर-पत्तर के अलावा इनका एक और बड़ा रखवाला भी है। इनके बीच एक देवी रहती है।

सुना जाता है पहले यह देवी लोगों की बड़ी-बड़ी सहायता करती थी। किसी को शादी-ब्याह के अवसर पर बरतन-भाण्डों की जरूरत होती तो वह पोखर किनारे पूजा करता और साँझ ढले देवी की आरती उतारता। बस, सवेरा होनेपर घाट किनारे टखनों-टखनों पानी में बरतनों का ढेर पड़ा मिलता। लोग इन बरतनों को उठा लाते और कारज निपटते ही जहाँ का तहाँ पानी में बहा आते। दो पीढ़ी पहले किसी ने एक बार

इसी तरह बरतन लिये और फिर लौटाये नहीं। देवी ने उसका मंत्र तो नाश कर ही दिया, बाद में कभी और बरतन नहीं दिये। आठ एकड़ धरती में वह पोखर था : आधे में अब खेती होने लगी है, बचे हुए आधे में देवी का वास है। सीढ़ियाँ फट-फटकर धँस गयी हैं।

रवि का बचपन से विश्वास था कि मनुष्य में सत्य नहीं रहा, इसीसे देवी अब सहायता नहीं करती। कितनी बार वह और उसका साथी नोल दोनों इन देवी को देखने के लिए साँझ पड़े छिप-छिपकर आम की डालों में बैठे हैं। फूल, नारियल, ककड़ी—जो कुछ भी वे समझते कि देवी को प्रिय लगेगा—ला-लाकर वे आगे रखते। हल्का अँधेरा उतरते ही देहरी पर घी का दीया भी जला देते। बहुत-बहुत सोचकर आते दोनों मित्र। एक बार भी देवी के दर्शन मिल जायें तो फिर किसी बात की चिन्ता ही न रह जाये! उन्होंने सुन रखा था कि जिसपर देवी दया करती हैं वह जो चाहे सो कर सकता है। और वे बोर्डिंग के दूसरे लड़कों से छिपकर बगीचे-बगीचे घूमते हुए अपनी योजनाएँ बनाया करते।

किसी दिन कोई नयी सृष्टि करने की योजना एक बड़ा-सा घर-बगीचा, जहाज, किताबों में पढ़े हुए जीव-जन्तुओं में से ही कोई जैसे ऊँट-कंगारू या हाथी-सिंह, या एक मन्दिर ही। किसी दिन संहार की, मार-काट की ही योजनाएँ बनाते : उस कोने ढेंगू मास्टर को ठोकने की जो सभी को पीटा करता है, और उस बुड्ऊ को भी सीधा करने की जो हर बात में मीन-मेख निकालता है और जो स्कूल में दाहिनी ओर वाली इमली के कटारे झाड़ने पर अपनी झुकी कमर और फूले हुए हाथ-पैर लिये उधर ही भागता आता है—भौं-भौं करते अपने कुत्ते सहित, जिसकी आँखें सरसों के तेल के रंग की हैं। उनकी योजना सर्वशक्तिमान् तक बन उठने की होती। मन में आये और खाली डिब्बे में से चिड़ियें निकलने लगें, सोचें और मक्खी बनकर उड़ सकें! कोई सीमा नहीं इन सबकी हो, पर कम-से-कम परीक्षा तो पास की जा सकेगी।

बचपन की वे कोमल कल्पनाएँ! पोखर पर अब कुछ भी तो नहीं सूझता। थोड़ी दूर पर धुएँ की चमक दिख रही है। आगे कुछ नहीं। पहले भी शायद ऐसा ही था। उस युग की स्वप्न-लताओं का संसार इस धुएँ में मानो उलट-पुलट हुआ उब-डुब कर रहा है। उधर है तिरछा चन्दा और उसके साथ श्रीपंचमी की स्मृतियाँ, इधर वह स्वयं। एक अध्याय बीत चुका। अब वह नौकरी करेगा।

देवी का दर्शन तब भी नहीं हुआ था, आज भी नहीं हुआ। किन्तु उस समय उसने देखा था प्रसारित चेतना का विस्तार, आकाश, टिमटिमाते जुगनू, बादलों से घिरा चन्दा, मछलियों का उछलना, कुँई के फूल, और पता नहीं कितना कुछ, और स्वयं अपना भविष्य! कितना सहज-सरल था सब : बस जैसे मुट्ठी बन्द की और मनचाहा सभी कुछ बन उठता। आज दिखाई दे रहा है : कुहासा, केवल कुहासा। भीतर-भीतर अपने मन में वह समझ रहा है कि पोखर के उस पार बस्ती में उसका मित्र विपिन

रहता है, रात वहीं बितायेगा। भोर होते ही उठकर बस पकड़ेगा, और कुछ घण्टों में बड़े शहर होगा। वहां होगी रेल की पटरियों की नाई नपे-बंधे जीवन की लौह-धारणाएँ : सर्-सर्-सर्-सर् साढ़े दस से पांच या छह तक काम पर, फिर सर्-सर्-सर्-सर् अपने ठिकाने पर लौट आना—और एक दिन बीत जायेगा।

और यह पोखर : अतीत के दिनों में से मानो कुछ दिन यहाँ रुक गये हैं, पानी में घुल गये हैं, तब यहां का अनोखा ही रूप था। घाट के पास साफ-सुथरी जगह थी, आईने जैसी। किनारे खड़ा बगुला अपनी शक्ल उसमें देखता। शायद मन ही मन अपनी प्रशंसा करता....कितने सुन्दर छोटे-छोटे पैर, कितनी पतली गरदन, लम्बी चोंच, और नन्हीं-नन्हीं आँखें! किनारे-किनारे चरती भैंसें भी अपना चेहरा देखतीं और, कौन जाने, पीठ पर चढ़ी गौरैया और गरदन पर बैठा कौआ भी देखते हों।

और चेहरा तो उसमें वह बूढ़ा मियाँ भी देखा करता—अपने उस सदा एकरूप वेश में। जब देखो सिर पर डोरियेदार अँगोछे की पगड़ी और बदन पर कत्थई रंग की लुंगी। सुग्गे जैसी काली नाक और ठुड्डी से झूलती सफेद कूँचिया दाढ़ी जो दोनों ओर को चौड़ाई में कभी बढ़ी ही नहीं। एक साथ तीन-तीन बंसी डालकर वह ध्यान लगाये बैठा रहता—मानो, न सही परलोक; इहलोक ही बँधा हो बंसी की डोर से! किसी-किसी दिन उसकी टोकरी भर जाती तो किसी दिन उसमें दो-चार ही पड़ती—उस दिन वह रीती आंखों बस देखता रह जाता। कभी-कभी फँस जाती चार-पांच सेर वाली भाकुर या रोहू। इसी से लोग उसे बंसी डालने की कला का उस्ताद कहते।

बूढ़ा मियाँ उन्हें घुड़कता नहीं। उनसे घोंघे खुदवाता। कहता, चुपचाप बैठकर देखो।

पानी भरने औरतें आतीं। कई चेहरे ऐसे होते जिन्हें देखकर बहुत खुशी मिलती। इच्छा होती कि वे इसे पास बुलाकर लाड-प्यार करें। कुछ चेहरे बिलकुल नहीं भाते—चाहे कितने ही गोरे क्यों न हों, कितनी ही नथ-बालियों से सजी हुई क्यों न हो!

और कभी पोखर का किनारा सुनसान दिखता। हिलते अन्धकार में पास की वह थोड़ी-बहुत घास भी छिप जाती। हाड़ुक चिल्लाता। एक-स्वर में मेढक टरटराने लगते। आम के अँधेरे तले झींगुर झीं-झीं लगा देते। पोखर के पानी में जगह-जगह कुँई और पास-पास टपर की तरह तारे खिल जाते। किनारे के पेड़ झिलमिलाते। ढेर के ढेर जुगनू चमकते, जैसे लोहारखाने में धौंकनी फूँकते ही चिनगारियाँ झिलमिलाती हैं—छोड़ने पर रुक जाती हैं।

पोखर की कीच से निकलती गन्ध में झपकी-सी आने लगती। वहाँ की सुनसान शान्ति को भंग करता सुनाई पड़ता चबर-चबर का शब्द। लोग वहाँ नहाना-धोना करते और रह-रहकर जल भरने का संगीत सुनाई दे उठता—हवा में सन्-सन् करती घास की पटभूमि दूर-दूर तक फैली होती।

वह और नील दोनों रहते। देवी नही दिखती, पर ये चारों ओर बिखरे-फैले जीवन के अन्दर पैठकर सब कुछ अनुभव किया करते। ममता लेकर वे आते और माया लिये हुए लौट जाते—लालटेन जलाकर अपनी पढाई करते।

मैट्रिक के बाद नील चला गया डाकखाने मे : चिट्ठियाँ छाँट-छाँटकर पेट भरने के लिए। अब कही सम्बलपुर में है। स्वय उससे—रवि से—यह पुराना पोखर एक परिचित साथी की तरह पूछ रहा है : "और तुम किधर चल पडे ? क्या है वहाँ ?"

अचानक उसे याद आया : अँधेरा करती हुई वह छोटी ढिबरी बुझ गयी थी। साथ ही ठण्ड-सी भी अनुभव होने लगी थी। बाहर उस दिन भी ऐसी ही कुहासे भरी ठण्डी चाँदनी रात थी। उस समय लगा था जैसे भीतर ही भीतर कुछ पसर गया हो, मानो खो जाने, चले जाने का कोई संकेत-भाव हो, सामान्य ही नही था, श्रद्धा-भरी आँखों के ऊपर से सचमुच ही मानो कुछ उतरा गया था।

कब की बात है ? कहाँ की ? उसे याद नही आया। पर इतनी दूर कही नीचे दबी वह ज़रा-सी घटना अचानक क्यों आज मन की ऊपरी सतह पर उठ आयी ? वह समझ नही सका। पर उतने से ही भीतर के रंग बाहर के रंगो पर लद गये। मन दब गया। देर से चलते जाते उसके स्वप्न-संगीत की अन्तिम ध्वनि भी, पता नही, कहाँ खो रही।

सामने जो कुछ था उसे खुली आँखो देखते रवि सोचने लगा—देर हो गयी, ठण्ड भी लगने लगी, बीच-बीच में आते ठण्डी हवा के झकोरे बताने लगे कि जल्दी ही अब विश्राम करना चाहिए, और होना चाहिए विश्राम करने के लिए कोई ऊष्मा-भरा घर। फिर तो कल सुबह से नौकरी।

और वह चल पडा पाँव बढाकर विपिन के घर की ओर....

रात के लगभग नौ बज चुके है। दूर से संगीत सुनाई पड रहा है। हारमोनियम के साथ-साथ मनुष्य के गले की आवाज। उसपर तबला। शायद तीनों एक सुर मे मिल नही रहे। जाना चाहें तो प्रत्येक के लिए अलग-अलग कई दिशाएँ है पर जा रहे हैं सभी एक ही जगह, एक समय में। उस संगीत मे मिल जाता है अन्य लोगो का शोर, हँसी-हुँसी, खान की बोली—'नौ बिन'। सबका मिला-जुला संगीत। उसमे कम-से-कम एक आवेग तो है।

संगीत लहरा-लहराकर लोकीला हो रहा है। एक सहज शब्द पकड मे आया। शब्द है....'चोर'। 'चोर' शब्द को इतना मधुर बनाकर इतने प्रकार से उसकी आवृत्ति की जा सकती है—यह तो उसकी धारणा में ही न था। बार-बार वही—'चोर' 'चो....र' 'चो ओ र अ अ अ " और फिर "ब्रज को चोर आया रे...."

वह भला आदमी विपिन 'चोर' शब्द पर गला साध रहा है, माने शब्द रूप धर रहा हो। रवि पास आ गया। साथ ही साथ संगीत में एक और स्वर जुड़ गया। वह एक कुत्ते की चिचियाहट थी। तबला बजानेवाले मोटे डॉक्टर बाबू ने जोर से कहा, "अरे ओ टॉमी, भूँक मत, रहने दे"। विपिन ने अपने भाव गद्गद 'चोर' 'चोर' की आवृत्ति के बीच में ही अटककर देखा। उसके साथ और कइयों ने भी उधर झाँका। रवि ने भी उधर देखा। देखने की अधिक सुविधा उसे ही थी, क्योंकि वह तो है अँधेरे में और अन्य लोग रोशनी में हैं। एक बड़ा काला कुत्ता उसकी ओर लपकता-सा आ गया। डॉक्टर बाबू 'टॉमी-टॉमी' पुकारते हुए कहने लगे, "डरिए नहीं, खसिया है, कुछ नहीं करेगा"

रवि देख रहा था, वही परिचित घर। अगल-बगल दो कमरे, एक में रसोई और दूसरे में सोना-उठना-बैठना। सामने बरामदा और उसके आगे खुला मैदान। चेहरे को बाँहों में ढँककर विपिन का मुँह लगा रसोइया बावर ऊँघ रहा है। रसोई के किवाड़ बन्द है। सोने के कमरे में पेट्रोमेक्स जल रहा है, बिजली इधर आना भूले हुई है। पेट्रोमेक्स के उजाले में तम्बाकू का नीला धुँआ साफ पहचाना जा सकता है।

उन लोगों की निगाह उस पर गयी, मौज मस्ती के बीच अचानक बिन बुलाया मेहमान। खिझानेवाली बात! व्यक्ति भी नहीं। या कोई बीमार है? डॉक्टर बाबू ने सहज शान्त गम्भीर स्वर में पूछा, "कौन? क्या चाहिए? क्यों, किसी को कुछ हुआ है?"

सब इन्स्पेक्टर बाबू ने तीखी नजर फेंकी, उनके पिचके गाल तेज रोशनी में चमक रहे थे। नाक के नीचे आधी मूँछों पर दोनों होंठ सामने से ठूँसे हुए-से लग रहे थे। हेडमास्टर, पशु-डॉक्टर, ओवर-सीयर, कोऑपरेटिव अफसर, कण्ट्राक्टर अमरसिंह सब ने देखा। कोई आदमी बढ़ता आ रहा है। विपिन की आँखों में कौतूहल भर आया, इसके बाद ठहाका मारकर वह खड़ा हो गया, और जोर से कहने लगा, "अरे रवि! आओ आओ, भई, ठीक मौके पर आये। खैर, श्रीपंचमी को रात में बन्धु-मिलन सम्पूर्ण हो गया।"

हँसमुख विपिन। अब भी कॉलेज के दिनों जैसा ही विपिन—जिसे वे स्नेह से 'पिन' कहकर पुकारते। उसकी पिंजर देह के ढाँचे पर मांस ने मानो चिपटने से इन्कार कर दिया हो। माँग ने सिर के बालों को दो भागों में बाँट दिया है। बाल एकदम चिकने सँवरे हुए, तेल कुछ अधिक लगा है। शायद छोटा कंघा जेब में पड़ा होगा। रंग लाली लिये गोरा, चेहरे का गठन कई ओर से अधूरापन लिये होने पर भी रंग सबको छुपा लेता है। घनी भौंहें धनुष की तरह न होने पर भी माथे के नीचे समानान्तर खिंच गयी हैं, इस सिरे से उस सिरे तक। नाक छोटा ही सही, उसकी नोक सीधी ऊपर उठ गयी है, अतः दोनों नथुने साफ दिख रहे हैं, चपटे गाल, और थोबड़े पर सीधे दीवार की तरह खड़े हैं। दोनों कान अपेक्षाकृत कुछ बड़े, सिर के साथ मेल न खाते

हुए टेढे खड़े हैं । चार बरस की नौकरी में छोटे से कुछ बड़ा हुआ है । यहाँ वह एक आंचलिक विकास अधिकारी है, माहवारी डेढ़ सौ मिलती है ।

विपिन ने एक-एक कर परिचय करा दिया । सबके साथ रवि का और रवि के साथ सबका । जैसे, "ये डॉक्टर बाबू हैं । उजाला देख रहे हो न ? ये हमारे अँधेरे घर के चिराग हैं । जिसे इनके हाथ ने छू दिया, मरता हुआ भी उठ बैठेगा । दवा से तो ठीक होगा बाद में, पहले यह काया देखते ही उठ बैठेगा ।"

"तुम कुछ मोटे नहीं हो सकते दवा-पानी से ?" रवि ने पूछा । विराटकाय डाक्टर ने कुछ गम्भीर बनते हुए सिर हिलाकर उत्तर दिया, "उनके लिए बन्दर की ग्लैण्ड खोजी जा रही है । लोग पेड़ों पर चढ़-चढ़कर खोज रहे हैं । मिलने पर देखा जायेगा । सरकार ने तो आदमी लगाकर बन्दर मरवा डाले, वरना अब का काम बन जाता ।"

सब हो-हो कर हँस पड़े । विपिन ने बताया, "ये अपने इन्स्पेक्टर बाबू । विचक्षण हैं । इन्हें पहचान रखो । चीज चोरी हो गयी हो तो चोर को पकड़ो, माल जब्त करो, साक्षी खड़े करो और इत्तला दो तब देखो, उस चोर का फैसला जरूर होगा, सजा होगी, सब कुछ होगा ।"

"हम तो सबके हैं, हुजूर !" तब इन्स्पेक्टर ने बताया ।

फिर हँसी ।

"और ये हमारे पशु-डाक्टर बाबू । इनकी महिमा अपार है । गाय-बैल, भेड़-बकरी, मुर्गा-अण्डा—रास्ते में जो-जो आप ने देखा होगा, सब इनके जजमान हैं पर ये सदा अच्छी-सी बकरी कटवाते हैं ताकि अच्छा मांस मिले । अहिंसा के ठहरे अवतार ! अच्छे नस्ल का खस्सी तैयार करते हैं । अच्छे नस्ल की गाय । यहाँ तक कि कृत्रिम प्रजनन आदि सारी विद्याएँ इन्हें ज्ञात हैं । खुद भी बहुकुटुम्बी हैं । क्यों ? कितने हैं ? नौ तो हैं न हुजूर ?"

बूढ़े-पशु-डाक्टर बाबू नकली दाँत हिलाते संस्कृत चबा-चबाकर कहने लगे, "या देवी ...सा देवी वरदा भवेत्, सब कुछ देवी प्रसादात्, हुजूर !" मोटे काँच का चश्मा, छोटा-सा सिर, पर शरीर का गठन सुन्दर । चमकदार सिर । सफेद बाल और दाढ़ी, मानो चाँदी के बारीक तारों का समूह ।

फिर हँसी ।

विपिन ने आगे कहा, "और ये हैं अपने कृषि अधिकारी भागी बाबू । इन भागी बाबू को पहचान रखो, ये प्रगतिशील किसान हैं । क्यों रवि बाबू, बाँटने के लिए यदि आप के पास आलू के बीज आयें, यानी उस समय जब साधारण किसान की बाड़ी में आलू के फूल खिलते हों, तब आप बंजर जमीन के परीक्षण के लिए वे बीज इन प्रगतिशील किसान को आसानी से बेच सकते हैं न ?"

इस तरह एक-एक के साथ हँसी-मज़ाक में स्वागत-परिचय दोनों हो गये ।

"ये पी. डब्ल्यू डी महकमे के काफी तेज ओवरसीयर बाबू हैं। अँधेरी रात में नहर के किनारे केवड़ा और नागफनी के बीच चार अंगुल चौड़ी पगडण्डी में तीर की तरह साइकल चलाने में धुरन्धर। इसके लिए यदि कोई पुरस्कार होता तो ये उसके हकदार होते।"

"और ये रहे कण्ट्राक्टर अमरसिंह। कभी रिफ्यूजी थे, अब तो इस देश के नागरिक हैं। जो कहोगे ये जुटा देंगे; हाँ पैसे जरूर कुछ अधिक लगेंगे।"

अमरसिंह ने अपनी दाढ़ी सहलायी। ये भी हँसने लगे।

अब विपिन ने उसका परिचय दिया। समझाया कि वह भावी नेता हैं, क्योंकि बी. ए. पास कर चुका, तब भी न तो नौकरी की और न शहर में रहा। गाँव में रहता है, लोगों के साथ हिल-मिलकर एक हो गया है।

रवि को लगा, वह और भी छोटा बन गया है। लाज से झुककर, कई तरह का विनम्र भाव दिखाते हुए उसने बात काटी। वह कुछ भी तो नहीं, नेतृत्व उसकी कल्पना में भी नहीं।

हेडमास्टर ने जोड़ा, "जो अच्छा पढ़ते-लिखते हैं वे नौकरी करते हैं, फिर थोड़े से रुपयों में छटपटाते हुए, खींच तानकर गृहस्थी चलाते हैं। और जो वैसे नहीं, या नौकरी-चाकरी में नहीं घुसे, उनमें तो कई खूब मजे में हैं। कोई नेता हैं, कोई व्यापारी। रुपयों की भी सुविधा है—कोई कमी नहीं। ऐसा ही मेरा एक छात्र था। चोकड़-खली, देशी और विलायती खाद का बहुत बड़ा व्यापारी हैं। कौन जानता था कि छोकरे में इतनी बुद्धि है। दो वर्ष फेल हो चुका था। अन्त में मेरे ही कारण पढ़ाई छोड़ घर बैठ गया। अब जब वह कहता है—सर, आप की ही दया से मेरा व्यापार-धन्धा हुआ तब मैं सोचता हूँ, कि बात सच है। अगर वह पास करता तो वह भी कहीं कोई किरानी बनता।"

पशु-डाक्टर चिड़िया की तरह चहके, "सा देवी वरदा भवेत्। देवी प्रसादात् सब होगा, हुजूर—"

"जैसा आप का हुआ," डाक्टर बाबू ने जोड़ा, "ये महा धुरन्धर ठहरे। पशुविद्या, मानुष-विद्या—दोनों में पारंगत हैं। जिसे सव्यसाची कहा जाता है, यानी बाँयां हाथ भी चलता है। अमरसिंह बाबू इनके पड़ोसी हैं। उनकी धर्मपत्नी के हाथ में एक फोड़ा हुआ। ऐसा ऑपरेशन किया कि...."

अमरसिंह ने आगे बताया, "बकरी काटनेवाली छुरी से, देवी प्रसादात्।"। और डॉक्टर बाबू ने बात पूरी की—"हाथ में विष फैल गया।"

अमरसिंह ने कहा, "इतना फूला कि पहचानना कठिन था कि यह हाथ है या पैर। अन्त में पेनिसिलिन देकर...."

पशु-डाक्टर बीच में बोले, "हूँ, बस आप ही सिर्फ ऑपरेशन करना जानते हैं। और सब तो निपट गँवार हैं। अरे बाबा! सकल घटे नारायण, मनुष्य क्या और पशु

क्या ? कहीं फरक है तो मुझे बताये कोई !"

अमरसिंह बोले, "मैंने पत्नी से यही बात कही थी। उन्होंने डाक्टर बाबू की श्रद्धा भी खूब की थी। करने की बात ही है। ये इतना पूजा-पाठ करते हैं कि मुझे भी कभी-कभी श्रद्धा हो आती है। मैंने पत्नी को बताया, कि तुम में और पशु में कोई फ़र्क नहीं।"

पशु-डाक्टर बाबू क्षुब्ध होकर कुछ संस्कृत के श्लोक बोलने के लिए तैयार हो ही रहे थे कि बात की दिशा बदलते हुए सब इन्स्पेक्टर बाबू ने कहा, "बुरा न मानना। नेता होने के लिए कुछ निम्नतम योग्यताएँ हासिल करनी पड़ेंगी। उसका दायित्व हम लोगों पर रहा।"

सब हँसते-हँसते लोट-पोट। फिर रवि ने भरे चावलों के ट्रक को लौटा देने की बात बतायी। सबइन्स्पेक्टर बाबू ने खड़े होकर लुंगी पर, कमर पर और कमीज़ पर, तिरछे कन्धे होकर, छाती तक हाथ फेरा। चूँकि वे सरकारी पोशाक में न थे, अतः बेल्ट वहाँ नहीं था। कन्धा उचकाकर खड़े थे, "बहुत जरूरी खबर दी हुजूर ने। फिर कौन-कौन नेता बनने के उम्मीदवार आ गये ? ऐसा तो हमेशा ही होता रहेगा ! मारे गये ! जाकर तहकीकात करनी पड़ेगी, अच्छा भई नमस्कार।"

उनके साथ-साथ काम-काज और समय के बारे में सचेत हो सभी उठ खड़े हुए। सिर पर कण्टोप बाँधना था, गले के बटन लगाने थे। जूते पहनना आदि काम चालू हो गये अपने आप। असुविधा हुई तो डाक्टर बाबू को। मोटे आदमी ठहरे, झुककर जूता ढूँढ रहे हैं, मिलता ही नहीं। बोले, "अरे, भई, किसी ने मेरा जूता लिया है ? टॉमी, तू ने देखा है ?"

"यह रहा, हुजूर, आपका जूता।" अरखितिया ने उनके पैर के पास ही जूता दिखा दिया।

"कहाँ किधर है रे, दिख ही नहीं रहा।" जूता खो गया है, मानो भूगोल के चित्र में पृथ्वी को गोलाकार साबित करते हुए कोई जहाज उसकी ढलान में खो गया है।

बाउरिया ने मदद की। डाक्टर बाबू भी चले गये।

"हाँ, तो फिर रवि, इतने दिन बाद, कहाँ से ?" उसके दोनों हाथों को पकड़ विपिन उसके चेहरे को देखता उत्तर खोजने लगा।

रवि हँस पड़ा।

विपिन ने पूछा, "किसी शुभ कार्य के लिए बुलाने आये हो ? कब है ? कहाँ है ?"

इसी बीच देखा गया कि पशु-डाक्टर बाबू हड़बड़ाये लौटे आ रहे हैं। दरवाज़े के पास रुककर सरस्वती के चित्र की ओर देखते हुए हाथ जोड़कर बुदबुदाने लगे, "या कुन्देन्दुतुषारहारधवला......।" फिर कसरत किये किसी थके व्यक्ति की तरह कहा,

"रास्ते में याद आ गया, सो लौटना पड़ा, हुजूर! भगवान् को हाथ नहीं जोड़े थे। बिना हाथ जोड़े ही चला गया था।"

"आपने घर पर पूजा-ऊजा नहीं की क्या?" रवि ने पूछा।

"....घर में कौन देवता नहीं है? फिर भी भगवान् सब जगह हैं। यहाँ आपने जिन्हें पाया है, उन्हें भी अगर हाथ न जोड़ूँ तो यह मेरे कर्तव्य के विरुद्ध होगा। भगवान् हों या आदमी, हाथ जोड़ने में असावधानी क्यों, इसमें कोई पैसे थोड़े लगते हैं। समय पर काम ही आते हैं!"

अपनी प्रवीण विज्ञोक्ति पर स्वयं मुग्ध होकर वे हँस पड़े। तुरत बोले, "वह अमरसिंह की स्त्री के हाथवाली बात....उसमें मेरा जरा भी दोष नहीं है। फोड़े को चीरा लगाकर पट्टी बाँध आया था। न कर आता तो वैसे ही रात-रात-भर 'माँ रे-बाप रे' कर रही थी। क्या बतायें, किसी ने, पता नहीं, थोड़ा बहका दिया कि कच्चा अण्डा फोड़े पर बाँध दो तो और भी आराम आ जायेगा। फल हुआ सेप्टिक। किसने यह उलटी बुद्धि दी, जानते हैं? हमारे स्टौकमैन बानाम्बर राउत ने। आपको पहले ही बता चुका हूँ कि यह बड़ा बदमाश आदमी है। यह उलटी विद्या सिखाकर अमरसिंह से एक रुपया ऐंठ चुका है। अमरसिंह क्या कहे? बेचारा भला आदमी ठहरा, उस राउत को यहाँ से भगाये बिना आपकी योजना-फोजना नहीं चल पायेगी, हुजूर!"

...ठीक है, आप जायें, देखेंगे। नमस्कार!"

आशीर्वाद या श्लोक उच्चारते वे चले गये।

गये ही थे कि इतने में खाँसने की आवाज आयी। कम्बल लपेटे घनी काली अँधेरी रात में से कोई निकल आया, चारों ओर सुनसान, शान्त चन्द्र डूबने को था, ढेंगू अन्धकार पास सरकता आ रहा था।

विपिन ने पूछा, "कौन है?"

"जी, मैं बानाम्बर, स्टौकमैन।" बानाम्बर था पशु-डाक्टर के अधीन छोटा कर्मचारी।

"बानाम्बर? अरे, इतनी रात गये, कैसे?"

"जी, आपके पास लोग-बाग बैठे थे।"

"अच्छा कहो, क्या बात है? जल्दी बोलो, मेरे साथ एक मित्र है, हमें भूख लगी है—जोर की।"

"जी, हुजूर, आप लोग थाली पर बैठें, मुझे क्या कितनी देर लगेगी। ठीक लगा रे अरक्षित, सब ठीक-ठाक है न? नीबू काटा? नहीं तो ला, इधर मुझे दे। इतनी देर हुई, इसमें तो भात सूखकर कंकड़ हो गये होंगे? गरम किया है या मैं आऊँ अन्दर?"

"तुम छोड़ो। वो सब। जो कहना है, कहो। नहीं तो, तुम ऐसा करो, कल आना।"

"नहीं जी।....तो कहे ही देता हूँ। आपको तो बता चुका हूँ कि वे कैसे

अस्पताल की दवाएँ बेचकर अपना व्यापार चलाते हैं। फिर जो कोई कुछ अस्पताल में लाये, उसपर उनका कब्जा रहता है। डाक्टरखाने की सारी चीजें घर के काम में लगा डाली हैं। यहाँ छुरा तक भी नहीं। फिर खुद पशु-डाक्टर और जायेंगे लोगों को देखने। कोई कुछ भी दे, चवन्नी या रुपया। मुझे कहेंगे, पशुओं का इलाज करो, खुद आकर नाम कमायेंगे। होते-होते अब आज झगड़ा हो ही गयो, मुझे गालियाँ दीं। बोले, तेरी नौकरी खा जाऊँगा, तुम्हारे नाम पर ऐसा लिखूँगा, वैसा करूँगा, नहीं तो मेरा नाम नहीं। पता नहीं क्या-क्या अण्ट-शण्ट लिख दिया है।"

लम्बी कहानी।

विपिन ने कहा, "अच्छा जाओ, सो जाओ।"

"अब, क्या करूँ हुजूर?"

"इस बारे में कुछ भी करने की जरूरत नहीं। शान्त होकर सो जाओ, सुबह उठकर काम करो।"

"आप अगर कुछ नहीं करेंगे तो—"

"तुम उन्हीं पशु-डाक्टर के आगे गुहार करो, वे ही सब ठीक-ठाक कर देंगे।" विपिन हँस पड़ा।

और कुछ ही देर बाद वहाँ पर वह न था, चाँद डूब चुका था। फिर वही सुनसान।

"भात लगा रे छोकरे!" विपिन ने कातर होते हुए कहा, "अच्छी जगह आकर पहुँचे कि भात भी चैन से नहीं खा सके। सूखकर चना हो गया होगा।"

दोनों खाने बैठे। रवि ने खाते-खाते पूछा, "क्यों, काम-धन्धा कैसा चल रहा है?"

विपिन हँस पड़ा, "हाँ, चल रहा है। काम तो रोज ही होता रहता है।"

"लोगों की अवस्था कुछ बदली?"

"बदलेगी, बदलेगी। हम योजनावाले किसी चीज में पीछे नहीं हटते, कभी आशा नहीं छोड़ते। फिर समय तो लगेगा ही, तुम्हारे गाँव में भी पहुँचेंगे हम। ठहरो, थोड़ा सब्र करो।"

रवि ने उत्तर दिया, सब्र तो हम कर ही रहे हैं। देखते ही हो, आज से नहीं, जमाना गुजर गया, इतिहास के पन्ने पर पन्ने उलटते जा रहे हैं, लोग प्रतीक्षा कर रहे हैं, सत उपजेगा। पर सत उपजता ही नहीं। गरीबी जायेगी, पर जाती ही नहीं। जिनके पास है, उनकी और भी बढोत्तरी हो रही है, जिनके पास कुछ नहीं, उनका और भी छीज रहा है। कॉलेज में इतने ऊँचे-ऊँचे विचार बखाना करते थे। कहा करते थे, हालत कितनी ही असम्भव हो, मन को मजबूत करो और लोहे के चने चबा जाओ! कर सकते हो? मन मानता है तुम्हारा?"

विपिन ने कहा, "हमारी जीभ में हड्डी तो है नहीं, बस एक ही बात जानते

हैं—बौछार का रुख देखकर छाता घुमा दो। तभी दोनों किनारे बच सकते हैं। आस-पास इस तरह के लोग हैं। उस ओर वे हैं जो आधी रात को सपना देखेंगे और सुबह हमसे कहेंगे कि सपने को साकार किया जाये!"

चिन्तित हो अचानक रवि पूछ बैठा, "सुनो विपिन, बुरा न मानना, एक बात पूछ रहा हूँ, तुम्हारा यदि इस योजना में विश्वास नहीं तो फिर इसमें रह क्यों रहे हो?"

रवि का अस्तित्व भूलकर, स्वर में विरक्ति का भाव भरते हुए विपिन ने कहा, सीधा-सा उत्तर है। मैं यहाँ हूँ अपने पेट के लिए। मात्र पेट के लिए ही नहीं, अपने कैरियर के लिए भी। हर्ज क्या है?" क्षण-भर में वह फिर बदल गया, हँसकर बोला, "धत्तेरे की, ऐसी बात का मैं क्या उत्तर दूँ। नौकरी करने जो आता है, अपने विश्वास और अपनी रुचि के अनुसार वह काम और जगह पायेगा ही—क्या इसी लिए आता है?"

"फिर क्यों आयेगा?"

"आयेगा नौकरी करने। नौकरी तो नौकरी ही है।"

"यह आत्मप्रतारणा नहीं है क्या?"

"वैसे समझो तो यह सारी दुनिया ही आत्मप्रतारणा है, खाली मेक बिलीव। बहादुरी इसी में है कि आत्मप्रतारणा इतने जोर से हो, इतनी पूरी मात्रा में हो, कि आदमी में आत्मविश्वास पैदा हो जावे, कि वह एक महापुरुष है! दूसरों में भी यही आत्मविश्वास पैदा कर दो।"

उसकी आवाज़ में गर्व भी था और अपने आप पर दया भी। रवि को बड़ा आदमी बनने का संकेत देकर वह मानो अपने श्रमजीवी होने की घोषणा कर रहा है। आगे कहा, "तुम क्या समझोगे, भई, तुम्हें तो ट्यूशन कर पढ़ाई चालू रखने की आवश्यकता पैदा नहीं हुई, भूख-प्यास के पास कभी फटके तक नहीं। नौकरी की तुम्हें गरज़ नहीं, अतः तुम शौकिया आदर्श की बातें कर सकते हो। मुझे यह सब करना पड़ा है। और अब मैं अपनी उस पुरानी अवस्था में लौट जाना नहीं चाहता।"

'विपिन की यह लम्बी कैफ़ियत सुनकर रवि का मन और भी भारी हो गया।

चार वर्ष बीत गये कॉलिज छोड़े, उससे पहले कॉलिज में चार वर्ष का परिचय! फिर कौन किसकी देखभाल करता है, कौन किसके बारे में सोचता है।

हाथ धोकर वे बरामदे में बैठे। विपिन ने सिगरेट जलायी, रवि को देने लगा तो उसने इनकार कर दिया। विपिन ने कहा, "कॉलिज में तुमने देखा होगा, ये सारी बुरी आदतें मुझमें नहीं थी, यहाँ से आ लगी हैं। इसे भी इस नौकरी के कारण अपने व्यक्तित्व का ह्रास ही मानना पड़ेगा। लोगों के साथ मिलना बन्द करें तो योजना बन्द।"

रवि ने पूछा, "तुमने योजना-कार्य करने के तरीके भी सीखे, अमल भी सीखा, फिर भी कहते हो, योजनाओं में तुम्हारा विश्वास नहीं?"

"विश्वास नहीं, यह कब कहा? कुछ भी नहीं हो रहा, सो मैं नहीं कहता। कुछ तो हो ही रहा है। कई गाँवों में रास्ते बन रहे हैं। कहीं कुँआ, या तालाब-पोखर

मे मछली बढ़ाना, कही साग-सब्जी, यह सब हो तो रहा है। हम जो कुछ कर रहे हैं, उसकी संख्या गिनने बैठें तो बहुत दिखेगा, इतना कि आदमी डर जाये। किन्तु दूसरी ओर जब नज़र डालते हैं, कि हम क्या नही कर सके तो उनकी संख्या अनगिनत हैं। कही दस-बीस कुँआ या पोखर खोद डाले, बहुत अच्छा काम हुआ। किन्तु सैकड़ों गाँव ऐसे भी पड़े है, जहाँ सिर–फुटव्वल हुए बिना पानी की बूँद तक नही मिलती। और नही तो कोसों जाओ। रोज़ लम्बी कतार लगती है। हम सिखाते हैं स्वास्थ्य की रक्षा करो, सफाई जीवन का मूल मन्त्र है। और नदी में चल रही है हैजे की जययात्रा, पुआल में आग पकड़ने की तरह यह तुरत फैल जाता है। सहयोग का कितना प्रचार ज़ोर-शोर से समाज मे बढ रहा है। उधर बढ रहे हैं 'टाउटर', मुनाफाखोर। दलो मे बँटकर घर-द्वार उजाड़ना। जितनी भी रोशनी जलाओ, वह बस जैसे अँधेरे आकाश में एक तारा भर है, चाहे जितने झाड-झंखाड़ जलाने पर भी लगता है जैसे बियाबान बीहड के बीच कही-कही एक आध टुकडा साफ-सुथरा खेत हैं। रास्ते के किनारे-किनारे हमारे शो-केसों की तरह। यार, इसी बात का तो दुःख है, हम भी कोई आदमी हैं। इतने नीचे जिसकी गणना नही हो सकती। फिर भी मन नही मानता, मुझ से क्या काम हो सकेगा ? अत. बौछार की ओर छाता घुमाता हुआ हुकम की तामील करता नौकरी बजाये जा रहा हूँ। यहाँ जो ज्यादा बकबकाता है वही लाठी की पहली चोट खाता है, अत यहाँ 'ये करूँगा-वो करूँगा' डीग मारकर छटपटाने की भी सुविधा नही। संगीत, सिगरेट और समाज। हर बात में 'हाँ जी' 'हाँ जी' कहना, 'नही' कभी ज़बान पर भी न लाना। बस, इसी तरह मेरी नाव चल रही है। सामने है शायद प्रमोशन, पदोन्नति। दुनिया भी असन्तुष्ट नही, मालिक भी असन्तुष्ट नही। केवल—कभी-कभी इस जीवन और इनसानियत के इस अभिनय पर घिन आती है, बस।"

रवि चुपचाप झुककर दोनो हथेलियो पर मुँह रखे, तन्मय होकर बैठा सुन रहा था, मानो उसका अस्तित्व उस अन्धकार में घुल गया है। सुन रहा था कि विपिन के अन्तरात्मा से आवाज़ निकल रही है। वह विपिन भी नही है, बस एक स्वर है।

स्वर स्वयं अपना भाव प्रकट कर रहा है, केवल भाषा नही—यह तो एक बहाना है। नाना परदो पर नाना अवलय और नाना अनुप्रास मे उसके भावों का प्रकाश है। हो सकता है, यह सूनी अँधेरी रात, सामने का अँधेरा मैदान और पास बैठे मित्र के वेश में अतीत की स्मृति, ये सब मिलकर उस भाव को रास्ता दिखाती ले आयी है। या यह एक अनहुति प्रकाश है जिसका हेतु समझ में न आये, केवल उसका अनुभव किया जा सकता हो।

रवि ने अनुभव किया जैसे यह किसी पीड़ित अन्त करण का क्लिष्ट आर्तनाद है, यह करुण है अत प्राणस्पर्शी है। लगता था जैसे उच्चाग संगीत सुनते-सुनते उसने उसकी सूक्ष्म कारीगरी में मन को डुबो दिया हो।

अँधेरे में विपिन की अधजली सिगरेट का अंगुली-भर गुल गिरकर भभक उठा। रवि का ध्यान टूटा। विपिन ने एक लम्बा कश खींचा और पीछे की ओर झुककर बैठ

गया मानो वह कोई अभियुक्त हो। मन खोलकर अपनी लम्बी स्वीकारोक्ति पूरी करने के बाद किसी अदृश्य शक्ति के आगे आत्मसमर्पण कर हलका हो गया हो। अब उसे और कुछ नहीं कहना।

कुछ क्षण चुप्पी में कट गये।

रवि ने मन ही मन विपिन को तौला, उसके भाव को नहीं। सोचा—स्वयं वह कितना छोटा है, पर स्वयं बन गया है विचारक। वह स्वयं यात्रा (नाटक) में द्वारपाल के भेष में है, रवि, विपिन नहीं। मानवता के पक्ष में उत्साही, सहानुभूतिशील। शालीन स्वरूप को विपिन केवल जान-बूझकर कई फक्कड़ बातों के जाल में ढाँपे हुए है। उसे चोट लगी है, दौड़ने को चाहकर सामने जुड़े किवाड़ पाये हैं, सामयिक विफलता मिली है। उसमें उदासीनता नहीं, अनुशोचना है।

विनीत भाव दिखाकर रवि ने पूछा, "तुम्हारे खयाल से ऐसा क्यों हो रहा है? कोई प्रतिकार भी है इसका?"

विपिन ने सिगरेट का वह टुकड़ा फेंक दिया, दूसरी सुलगा ली। कहा, "मैं समझता हूँ इसका प्रतिकार हमारे-तुम्हारे हाथ में नहीं है। जिनके लिए हम काम करना चाहते हैं, प्रतिकार भी उन्हीं के हाथ में है। वे अभी इसके लिए राजी नहीं हैं।"

रवि ने कहा, "उन्हें मनाने के लिए क्या-कुछ हो रहा है?"

विपिन ने पहलेवाला मज़ाकिया ढंग दिखाते हुए बताया, "नींद से जगाने के लिए ढोल पीटना, अर्थात् प्रचार। उन्हें सचेत करने के लिए और अधिक ढोल पीटा जाये, अर्थात् खूब प्रचार किया जाये। कम से कम हमारी पढ़ाई तो यही कहती है।"

"ढोल पीटने से क्या किसी सुननेवाले के कटे पैर का दर्द कम हो जायेगा? काने की आँख ठीक हो जायेगी। भूख कम होगी? आदमी क्यों मानेगा? इस समाज में एक को दूसरे के साथ बाँधने के लिए आज क्या रहा? सब अपनी-अपनी डफली बजा रहे हैं। एक के नष्ट होने पर दूसरा पुष्ट हो रहा है। घर-घर में अलग-अलग देवता हैं, वे उसके स्वार्थ के लोभ के प्रतिरूप हैं। वह जानता है कि अगर वह खुद गिर पड़ा तो और कोई सहारा नहीं, किसी पर भरोसा नहीं। वह चलता रहा तो चलता जायेगा, अतः चारों ओर से खींच-तानकर अपना झोंपड़ा बाँधने में वह व्यस्त है। इन्हीं खण्ड-खण्ड लोगों के आगे आकर खड़ा होगा—योजना का मार्ग, सामूहिक उन्नति। उसमें फाँक जुड़ने की बजाय और चौड़ी हो जायेगी, इसमें कोई सन्देह है? साझे के बाग में आम के ढेर झड़ें तो लोग उन्हें धीरे-धीरे लाकर रखते हैं और अगर सब अपने लिए चुनने बैठें तो फिर आम ही सर फुटव्वल का कारण बन जाता है। सब आतुर हो जाते हैं, क्या बूढ़ा क्या बच्चा, क्या मल्ल क्या कमजोर। बुड्ढा धक्का खायेगा और बलवान हाथ मार लेगा। यह कौन-सी विचित्र बात है?"

"सब जगह यही बात है। किन्तु इसका उपाय क्या है? क्या किया जाये कि एकता बढ़े? क्या केवल कहने से सब हो जायेगा?"

"तुम्हारा क्या विचार है ?"

"इस तरह बढ़ते रहे तो एक न एक दिन हम भी आयेंगे वैसा । यह हो सकता है कि वह दिन दूर है । वह दिन हमारे देखने में न आये ।"

मानो विपिन पकड़ में आ गया हो । वह आशावादी और रूमानवादी भी है । उछलकर कहा, "ऐसे हो धीमा-धीमा जैसे भी हो, काम चलेगा, जो भले होंगे—भले रहेंगे । जो नहीं होंगे वे नहीं । उन्नति हो रही है, होती रहेगी और उसका परिणाम फैलता रहेगा धीरे-धीरे ।"

रवि ने कहा, "पर तुम अपना आदमी नहीं संभाल सकोगे इतना । जिस गणना के परिणामस्वरूप इतने युगों तक हम सब बढ़ते आये हैं, उसे बदलेंगे नहीं । हर क्षेत्र में शासन-तन्त्र और धनतन्त्र को अक्षुण्ण बनाये रखते हुए वैज्ञानिक योजना के समय यदि यह कहा जाये कि—विचार समन्वित हो तो फटी दीवार पर चूना पोतने की तरह, ऐसा हो नहीं सकता ।"

"अन्तिम आसरा भगवान् का है, दैवी शक्ति पर ही भरोसा है, जैसे भी सम्भव हो । वे ही देंगे आदमी को सद्बुद्धि, और कोई नहीं ।"

विपिन ने और सिगरेट नहीं सुलगायी, रवि ने भी कोई बात नहीं छेड़ी । गुमसुम बैठे दोनों खाली मैदान की ओर देखते रहे । आकाश में था फीका फीका अन्धकार, छिटके तारे, वैसी झिलमिलाहट ।

व्यापक जनसमूह की धारणा हो वहाँ पर मूर्तिमान् है, बारम्बार एक ही विचार—एक नहीं अनेक, एक नहीं अनेक । एक चला आता और चला जाता है, पर समूह नदी की तरह सरकता रहता है । उसके सामने 'मैं' और अपना स्वार्थ सिर उठाने में संकोच करता है । रवि सोचने लगा—वह एक नौकरी पर जाने के लिए आया है । सोचने भी खेद लगता है, कि वह अपने आप को बाँधने आया है, बेचने आया है । उदार देश-प्रेम के कारण नहीं, पेट के लिए ।

उसे अपने पिता याद आये । पत्थर के दाँत हैं उनके मुँह में । दृष्टि और भंगिमा की गति से नीति और नियम की नपी-तुली छटा । पहले ही अन्दाज हो जाता है कि किस बात का क्या फल होगा । किस बात पर क्या प्रतिक्रिया होगी । उसने कल्पना में वही कठोरता और क्षमाहीनता देखी । फिर उसे स्नेह-ममता से भी पूरी, प्यार-सहानुभूति की मूर्ति अपनी माँ और गाँव की याद आयी । मालियों के डर से पाठशाला जाते समय मन जैसे करुण भाव से सिकुड़ जाता, आँखों की रुलाई से मन की रुलाई कई गुना बढ़ जाती ।

बहुत दूर तक पसर जाने के लिए प्रस्तुत होकर आया है यह जीवन । घेरा काटकर उसे दूर से देखा—उसका जीवन ऐसा क्लिष्ट और संकुचित नहीं होगा, वह अपनी रुचि से काम करेगा, बढ़ेगा, आनन्द प्राप्त करेगा और उसे बाँटेगा ।

विपिन बैठा है । अब बातचीत बन्द है, सिगरेट भी नहीं जलायी । उसके चार्ये

की आलोचना अब रूप बदलकर आयी है गाँव से शहर में, उसे आमने-सामने बिठाकर दो बातें पूछ रही है। उसका नाम है रवि। गहरे मन में चोट लगी है। वह सोचता है कि ये इसी तरह आलोचना करेंगे। बिलकुल समझेंगे ही नही कि ऑफिस में कितने घण्टे वह काटता है, कितनी मील वह दौड़ा है, लोगों को कितने प्रकार से समझाया है, कितने कागज रगड़े है, कितनी चिट्ठियाँ आयी और गयी है।

बस, फल क्या हुआ, यही नाप-तौलकर देखेंगे—निर्दय जनता केवल फल देखती है, कारण नहीं। पर जनता की धारणा गलत हो—उसका मन यह नही मानता। उलटा सोचता है—जनता ठीक कहती है।

विपिन ने स्वयं अपने अयुक्त मित्र के साथ तुलना कर देखा। मन ही मन जैसे कहीं टूट गया।....कोई जंजाल नही, नौकरी की नहीं, शादी रचायी नहीं, जो दो बन्धन हाथी को भी क़ाबू में कर लेते हैं वे उसके पास नहीं। कितना मजे का होगा उसका जीवन।

और खुद, विपिन! इसी में कितना उलझा-पुलझा है। घर पर दो बच्चे। स्त्री। अब नौकरी मामूली जरूरत ही नहीं, उसका आधार है। समाज में संस्थिति के लिए एकमात्र आधार। योजना चाहे कच्ची हो चाहे पक्की, उसका काम है आँख मूँद आज्ञा मानकर सुख-शान्ति से नौकरी करना। वह इसकी आलोचना नही कर सकता। अँधेरे में अपना बायाँ होठ चबाते हुए उसने अपने आपको सान्त्वना दी—"घर में दो मुट्ठी न अन्न होता, न ज़मीन या जीविका, फिर मेरी तरह बहन के ब्याह का कर्ज़ भी उतारना होता, स्त्री का पेट भरना, बच्चों का दूध लाना—इनकी चिन्ता भी होती, सुबह आँख खुलते ही तो पता चल जाता कि विचारों की धारा कौन-सी राह पकड़ती है—"

और फिर उसने इतना-भर कहा, "आओ, रवि, सोया जाये।"

रवि बोला, "तुम्हारी योजना की बातें सोच रहा था।"

जम्हाई लेकर विपिन ने कहा, "मैं घर की बाबत सोच रहा था। देखो, मैं यहाँ, वे सब वहाँ, माँ और बापू के लिए ही सबको तो गाँव में रहना पड़ता है, चिट्ठी आयी थी कि छुटके को हरे-पतले दस्त लगे है।"

रवि कहने लगा, "हाँ, चिन्ता होती ही है। छुट्टी लेकर घर क्यों नही जाते?"

"छोड़ो।" गहरी साँस फेंकते हुए विपिन बोला।

"पहले तुम घर की बात समझो विपिन! बच्चा बीमार है, यहाँ तुम्हारा मन कैसे मानेगा? तुम कल ही छुट्टी लेकर घर जाओ।"

"कल कोई आनेवाले हैं। परिदर्शकों का आजकल कुछ अधिक ज़ोर है।"

अरजिलिया खाट के पास फोल्डिंग खाट पर बिस्तर लगा चुका था। घर की रोशनी कम की गयी, किवाड़ भिड़काये गये। बिस्तर लगे। अन्धकार। विपिन ने कहा, "ब्याह करने को तुम्हारा मन नहीं करता? क्यों रवि, कहीं कोई बात पक्की हुई?"

रवि ने कहा, "धत्, फिर विवाह! आ बैल मुझे मार! और क्या?"

गया। छवि ने करवट लेकर गरदन घुमायी, वहाँ कोई बन्दर न था। मनुष्य था।

उसके चेहरे पर सहानुभूति झलक रही थी।

छवि के चेहरे और आँखों में मानो सचमुच फूल खिल आये हों। कितना कुछ कहना चाहती हैं ये मौन आँखें। पर चेतना टूटना ही नहीं। सारी देह में फैल गयी है एक सरसराती सिहरन भरी पुलक, फिर देह में शक्ति-सी भर उठती है, हल्का-सा कम्पन-जैसा महसूस हो रहा है। छवि उस नये व्यक्ति की खोजती-पूछती-सी निगाहों में अपनी नजर डालकर अपने आपको भूल-सी गयी।

जान न पहचान। समय जैसे जमकर अधर में लटक गया था।

छाया ढल चुकी थी। ऊँचा-नीचा सब्ज झुरमुटा।

यहाँ-वहाँ अकेला-दुकेला झाड़ और उसकी भाँति-भाँति की छायाएँ, लम्बी, पसरी हुई। पेड़ के तने से कुंजलता घनी होकर लिपटी, उसमें अकेले-दुकेले लाल फूल। झुरमुटों के साये में कोइलिनिया झाड़ियों के नीले फूल! उधर बाड़ पर लदी सेम के ऊपर से झाँक रहे हैं गुच्छे के गुच्छे लम्बे अरहर के पौधे। फूलों से लदे। पर की छान के सिरे पर घीया और कद्दू जिनमें फूल आये हुए हैं, कुछ फल भी झूल रहे हैं।

सामने वह अकेला व्यक्ति।

पिछवाड़े छाजन की ऊँचाई में नदी का लम्बा किनारा—ऊपर अपरिमित आकाश। पीठ पीछे अमराई, उससे हटकर जंगल, बाँस के झुरमुटों से सांय-सांय की आवाज सुनाई दे रही है, सतभैया मैना की धीमी बातों के बीच गजन के जोड़े की आवाजें आ रही हैं। समय का एक मामूली टुकड़ा, पाँच-सात बार भी पलकें झपकी होंगी या नहीं। छवि को मन ही मन लग रही थी—एक निश्चिन्त निर्भरशीलता के भीतर एक तृप्ति। बीजों भरी घास की महक, कहीं-कहीं तेल की तरह झिलमिलाहट तो कहीं छाया से घिरे रूप की चमक। सभी जगह उसी तृप्ति का रूप फैला था।

वह क्षण बीत गया। छवि अचानक अपनी स्थिति के प्रति सचेत हो गयी। लहँगा पहने है, जिसमें लोच पड़ गये हैं, पैर मुड़ने के कारण वह झुरमुट में लुढ़क गयी है। किसी ठूँठ से टकराकर टखने में खरोंच आ गयी है, खून अब भी रिस रहा है। कौन है यह अनचीन्हा युवक, सफेद धोती-कमीज पहने झुका हुआ है उसके पैर के ऊपर?

बिजली की लहर जैसी फैल रही है। कान-गाल लाल पड़ते जा रहे हैं, आँखें भी मुँद गयी हैं। वह शायद कुछ पूछ रहा है, सब गड्मड्। कुछ भी तो दिमाग में नहीं आता। अपनी धोती की चुन्नट को दाँतों से पकड़ा और फट से चीर डाला, धीरे से पैर को टेककर रखा और फिर पट्टी बाँध दी हल्के से। छवि जी-जान से अपनी थरथराहट को वश में करने के लिए साँस रोके निढाल पड़ी रही, मन ही मन कह रही है, वह मर चुकी है, तलुवों की ओर से मर चुकी है।

"दर्द बहुत हो रहा है क्या?"

"स्वर में वही संवेदना। छवि कोई उत्तर नहीं दे पायी। सिर नीचा किये

लँगड़ाती-लँगड़ाती घर की ओर चल दी।

वह अनजान युवक भी अपनी राह पकड़ने के लिए किनारे की ओर मुड़ गया। पर जल्दी-जल्दी नहीं, कुछ सोच-विचार में खोया-खोया-सा चल रहा है।

पीछे से सुनाई पड़ा, "वो कौन गया रे छवि ?"

'छवि' नाम तो सुन्दर है। गाँव की माटी का ताजा फूल! श्रम से चेहरा कुछ मुरझा गया था, अब चमकने लगा हो। उमर यही कोई सोलह या अठारह। डील-डौल उभरा हुआ, काम-धाम स्वयं करती होगी। केवल खाकर सो पड़ने वाली नहीं लगती। उसने होश सँभाला तबसे कभी ऐसा नहीं घटा, मन को किसी महक ने थोड़ा छू लिया है।

वह अपरिचित किनारे की ढलान में उतरा। मुड़कर नारियल के पेड़ की ओर देखा। जाने से पहले उस मोटे बन्दर को फिर एक बार देखने को मन हो रहा है। वो-वो वहाँ है, उस फुनगी के नीचे। पेड़ को कसकर पकड़े हुए उधर ही किचकिचाकर देख रहा है। हँसी आ गयी। इधर से जाते समय याद रहेगा।

छोड़ो, अब और क्यों ? सामने घने नीले आकाश की ओर दृष्टि फेरी और क़दम आगे बढ़ाया। फिर भी चाल धीमी, मानों कहीं कुछ उलझ गया है, मन में वही कोई अनजाना दर्द।

सोचने की फुरसत नहीं। आगे चलना है, आगे। परन्तु सामनेवाले पिछवाड़े में बाड़ी की ओर से आकर किसी प्रौढ़ा ने कहा, "अरे ओ, सुनो, जाना नहीं।"

गम्भीर, शान्त स्वर। वह चौंका। लगा कि छाती में कुछ जैसे दबा जा रहा है। मानो उससे कुछ अनुचित हो गया हो, जो उसे नहीं करना था। खैर!

"बाबू, कौन हो ? घर कहाँ है ?"

"मुझे रवि कहते हैं।"

घूँघट खिंच आया। सिर गोल दिखाई पड़ रहा है। नाक पर दण्डि[1] और गोल चेहरे का कुछ भाग दिखाई पड़ रहा था। उतनी गोरी नहीं। मोटी साड़ी से सारी देह ढँकी है। कहने लगी, "आज तुम न आते तो यह सत्यानाशी कटखना बन्दर मेरी बेटी की क्या दशा कर देता! बेटे! किसके लड़के हो ? तुम्हारा गाँव ?"

"मेरा घर बन्धमूल है। मैं बट महान्ती का बेटा हूँ, काम से शहर गया था, घर लौट रहा हूँ। रास्ते में ऐसी घटना देखी, अपने को रोक न पाया। देखा कि न जाऊँ तो यह काट खायेगा। बन्दर के काटने पर घाव विषैला भी हो जाया करता है।"

"बहुत अच्छा किया! भला हो। भगवान् चिरंजीवी करें तुझे बेटे! है, तुम बट महान्ती के बेटे हो और हमसे ही....अरे उनसे तो हमारा पुराना नाता है। अब वह जमाना थोड़े ही रह गया। कौन किसे जानता-पहचानता है आजकल ? तुम तो लड़के हो, कैसे किसी को चीन्होगे ? आओ, घर में तो आओ, बेटे! नहीं मत करना, आओ,

---

१. दण्डि—नाकमें पहनने का आभूषण।

आओ। पिता बिगड़ें तो कह देना, पाटेली गौवयाले चौधरी के घर अटक गया। है, ठीक है तो ? आओ बेटे, आओ !"

रवि उसके पीछे-पीछे हो लिया। कहा, "देर न हो जाये इसीलिए कह रहा था कि...."

"हाँऽऽ, रास्ता तीन कोस भी शायद ही हो। इस जुग में सब दूर लगने लगा। अरे, तुम क्या जानोगे कि बन्धु-कुटुम्बियों के दरवाजे आकर इस तरह नहीं लौटा करते। करते क्या हो ? पढ़ते हो ?"

"पढ़ाई पूरी हो गयी ?"

"नौकरी-चाकरी ?"

"नौकरी नहीं करनी है।"

"करोगे ही क्यों, घर में क्या कमी है ? दूसरों के दरवाजे सिर बेचते-फिरने की क्या जरूरत ? इधर से आना, कोई काँटा न चुभे। देख क्या रहे हो, बेटे, सब तो टूटा-फूटा है। जरा सँभलकर आना। सिर न टकराये। लक्कड़ को जितना उधर धकेलती हूँ, उतना ही यह आगजला इधर रास्ते की ओर सरक आता है। क्या देख रहे हो ? नेवला ? अरे, ये तो यहाँ रेवड़ के रेवड़ हैं, वो देखो हमारा घर। आगे इसे कहते थे—चौधरियों की हवेली ! अब इसे क्या कहोगे ?"

पीछे से खिलखिलाहट। झुरमुट के उस ओर तीन नारी मूर्तियाँ खड़ी हो गयी थीं। तीनों लाल साड़ी, नीली साड़ी और बैजनी-साड़ी पहने हैं।

नाक और मुँह में कपड़ा ठूँस लिया है।

"अरी आ जीजी, जल्दी चल काम निपटा दे, देख उधर रवि को माँ किसे बाँधे लिये जा रही है। अरी, देख तो सही, यह तो अपूरब है, कलजुग की बात। देख, आ, दौड़कर आ—"

चौधरी की फूटी हवेली के अन्दर जाते समय रवि का सिर छाजन के किसी कुन्दे से नहीं टकराया, किन्तु आखिरी बातें चुभ-सी गयी थीं। सिर में कुनमुना रही थी, धीरे से जम रही थी। पसीने की गरम-गरम बूँदें बहने लगीं।

अन्दर पैर रखकर रवि ने चारों ओर दृष्टि घुमायी। कितना बड़ा मकान। पर सब खाली, कुल कितने कमरे ! उस फाँक में से साफ दिखाई पड़ रहा है—चकवड़ और घास के घेरे में रंग-बिरंगे छींट की तरह के फूलों का जंगल उगकर जगह-जगह ऊँचा-नीचा हो गया है। चारों ओर ऊँची दीवार खिंची थी, साफ-साफ पता चलता है कि झुरमुटों में वह ऊँची-नीची होती हुई टीलों तथा गड्ढों के रूप में झंखाड़ के नीचे सोयी है। जगह-जगह घनी घास, तराट, मधुमालती, कनेर इत्यादि के पेड़, भरे हुए

हैं। टूटने-फूटने के बाद भी दीवार के टुकड़े जगह-जगह अब भी दिखाई पड़ रहे हैं। कंकड़ और ठिकरियों को मिट्टी मिला बेल के गोंद में पगाकर बैल के पैरों तले रौंदी गयी ओडिया रीति से किसी ज़माने में यह दीवार तैयार की गयी होगी। ऐसी दीवार जो सैकड़ों वर्ष बिता सके। पर समय तो सौ वर्ष से भी बड़ा है, दो सौ से भी।

लम्बे-लम्बे पेड़, अन्दर भी और बाहर भी। नीचे झाड़-झंखाड़। टूटे-फूटे कमरों के खण्डहरों का ढूह, इधर-उधर कहीं ऊंचा-नीचा आँगन। धराशायी खूँटे और धँस गयी सीढ़ियों के पत्थर। इन्हीं में कुछ कोठरियाँ। मनुष्यों की भीड़-भाड़ ज़रा भी नहीं। केवल खोये हुए समय की ज़रा-सी झलक सब्ज़ घेरे के बीच किसी तरह रह गयी है। अन्दर जाने पर सब कुछ प्रकट हो जाता है।

रास्ते में एक जगह दीमक खायी चौखट मिट्टी में दबकर टेढ़ी हो गयी है। काठ के टुकड़े को देखने पर अब भी उस पर की गयी सूक्ष्म कारीगरी पढ़ी जा सकती है। पत्थर और मिट्टी की ढेर में एक जगह बड़ी गोल काठ की जाली है। काले चमचमाते काठ के टुकड़े पर बारीक काम। रवि ने पास जाकर देखा। काठ की जाली में एक बड़ा-सा कमल बनाया गया है, पंखुड़ियों की फाँक में और कई छवियाँ—लता, चिड़ियाँ, फूल-पत्तियाँ। और वहीं ऊपर उठा दिख रहा है काठ की जाली का पहिया, उसपर घनी बेल पसरी है। कासनी फूल खिला है। ऐसा कि किसी प्रदर्शनी में स्थान पा जाये।

रवि को उधर उलझा देख छवि की माँ ने आवाज़ दी, "ये सब उस ज़माने के जाली-झरोखे हैं, तुम्हारे यहाँ भी होंगे? ऐसे कितने ही छितराये पड़े हैं, कौन सहेज-कर रखे?"

उसने आगे कहा, "मुझे पता है, दस घर थे। इससे पहले और भी कितने होंगे। अब कहाँ? धूल-माटी के घर। काठ की सीढ़ी, काठ की बल्ली, जहाँ भी देखोगे काठ का कोई रूप आँका हुआ है। वैसा ही झरोखे में, किवाड़ों पर भी....

"कहीं दशावतार आँके गये हैं। एकदम साक्षात्। सजीव। किसी पर राम-रावण युद्ध, कहीं महाभारत का युद्ध। इतनी सुन्दर कारीगरी थी उनके हाथों में! दीपदान देखो, कितनी सुन्दर औरत है, और उसके सिर पर दीपक; हलदी की काठदानी पर भी कैसा रूप आँका है! कितना कुछ गल-सड़कर खाद हो गया, अब इन सबको देखकर क्या होगा? आदमी तो तितर-बितर हो गये, घरों को कौन पूछता है!"

उनके कहने की भंगिमा में थी, उदास आन्तरिकता। रवि का मन हिल उठा। घर-द्वार। घनी झाड़ियाँ। जगह-जगह घास-फूस उग आया है छाती तक ऊँचा। चलते-चलते वह सुन रहा है, मच्छर भी भन्न-भन्न करने लगे हैं।

सब कुछ कैसा अस्वाभाविक-सा लग रहा है। यह समय, यह स्त्री,—कैसी अनुभूति है इस जीवन में जहाँ इतनी क्लान्ति, इतनी उदासीनता साधारण बातचीत में भी टपक रही है।

देखे बिना भी वह अनुमान कर पा रहा है कि दो क़दम आगे जाकर वह क्या

देखेगा। हो सकता है—एक कतार में छोटे-छोटे कमरे, छप्पर पर कुम्हड़े और लौकी, दरवाज़े के पास पुराना सहिजन का पेड़, सामने की छपरी पर सूखती हुई अधमरी पोई की बेल, सन्तरा और केले का कुंज। उसके बीच टूटी मुँडेरवाला कुँआ, कुछ हटकर आधी भरी पोखरी, बाँस के झुरमुटे और केवड़े के पौधों का झाड़। अमराई में बूढ़े आम के पेड़, जिनमें कभी फल लगते नहीं, और लगते हैं किसी साल तो बस छोटे-छोटे टिकोरे। बूढ़े नारियल के पेड़ भी अनेक हैं, जहाँ चील, अबाबील और बन्दरों के रहने की जगह भर है। कभी नारियल फलते हैं तो भूत खा जाते हैं। लगता है, देश-भर में खानदानी घरों की हालत ऐसी ही होगी, जिनका नाम-भर रह गया, और कुछ बचा नहीं। मन्दिर होंगे तो वहाँ मिलेंगे कबूतरों के झुण्ड, चमगादड़, गोलमुँहे उल्लू....। इन खण्डहरों के ये ही निवासी हैं। उनकी बीट की तीव्र गन्ध ही पुराने आभिजात्य की देह की गन्ध है। इस कोने में पुराने जीव-जन्तु होंगे! मोटा नाग, गोखर, धामन, बूढ़ा गोह। और यहाँ कोई अलिखित किंवदन्ती होगी, कि यहीं सोना गड़ा हुआ है और यक्ष उसकी रखवाली करता है। अँधेरी रात में उजाला करता वह घूमता है, कोई भूतनी चीखकर रोती सुनाई पड़ती है कई बार। लोगों का कहना है कि वह कोई भटकती आत्मा है जो मोक्ष नहीं पा सकी। ऐसे ही कितने भूत-प्रेतों की बातें बिखरी होंगी। सब कुछ तो अनुमान किया जा सकता है। अँधेरी रात में जुगनू बैठकर सफेद सराट फूल की तरह झिलमिलाते हैं, या निःशब्द चाँदनी रात में टूटी दीवार के उस ओर पुराने आम पर उल्लू चीखता-पुकारता होगा—किसी सोये अतीत को जगाने के लिए। उसकी कल्पना में यह सारी चौधरी की हवेली तैर रही थी। झालरदार काम-झाम। मगरमुँही पालकी, उसपर बनौती कपड़ा, मखमली तकिया, पलंग, मोरपंख का पंखा, पॉलिशदार चाँदी का दर्पण। कहाँ थे ये सब, अब किधर गये? झुण्ड के झुण्ड दास-दासियाँ, नौकर-चाकर, फरमाबरदार-ताबेदारी का समूह, कहाँ गये वे सब? इस रंगीन फूल के रंगवाली रेशमी साड़ियाँ,—रंग-बिरंगी, सोने की जरी और रुपहली जरी की कामदार साड़ियाँ—कहाँ छुप गयी वे रेशमी चीजें?

भरे-पूरे घर-भण्डार, धान के कोठे, सैकड़ों गाय-बैल, बीसियों काम करनेवाले, कितने ही हाज़िरी बजानेवाले, बेशुमार चहचहाती चिड़ियाँ, कबूतर—जो समृद्धि की गन्ध पाकर आन लेते हैं। फिर चूहे-बिल्ली। जिधर देखो, कुलबलाकर व्यस्तता-चंचलता दिखा रहे हैं। बारह भाइयों का कुटुम्ब एक साथ। उसी में कोई माथेपर लम्बा तिलक, देह पर रामनामी डाले, सारे शरीर पर छापा-तिलक-लगाये, पलथी मार व्याघ्रासन पर बैठे। कोई वृद्ध ताड़पत्र के ऊपर मग्न मन से लेखनी की नोक चला रहे हैं, जिनके बारे में कहा गया है—'भग्नपृष्ठकटिग्रीवा तुब्धदृष्टिः अधोमुखः। दुःखेन लिखितं ग्रन्थं पुत्रवत् परिपालयेत्'।

किसी ने कुछ लिखा था? कब? लगता है, कुछ लिखा होगा। माटी पर कदम धरते समय सब याद आता जा रहा है। ऐसा ही तो है सब जगह, सब घरों में। यह

सारा उड़ीसा ही तो ऐसा है, और यह तो उस जमाने की हवेली है।

कितना कुछ वे लिख गये। कितनों ने पढ़ा, कितनों ने भोग-विलास किया। जिसने जो किया सो तो किया, फिर जाते समय ऐसा कर गये कि इस हवेली से घास-चकवड़ उखाड़नेवाला भी कोई न रहा!

फिर भी कोई बात नहीं। घास का भी तो अन्त है, कण्टकारी, चकवड़, चौलाई, रंगन, चाव, सिवालु आदि की दीवार लाँघकर छवि की माँ ने रवि को जहाँ ले जाकर खड़ा किया, वहाँ आँगन में घास का तिनका भी न था। गोबर से लिपा-पुता साफ़-सुथरा घर। बीच में पत्थर पर एक जगह सुन्दर शिल्पकला से पूर्ण तीन हाथ ऊँचा मन्दिर, लाल-काले पत्थर से बना। वहीं पास ही घना वृन्दावती का पौधा था।

उसके पीछे तीन बखरी की लम्बी क़तार। आड़ी तरफ़ दो छप्पर, रसोई और ढेंकीशाला। नदी के किनारे की ओर पीठ किये मिट्टी पर छप्पर के तीन घर बने हैं। सुन्दर पत्थरों का चबूतरा, पत्थरों की ही सीढ़ियाँ, उन पत्थरों में भी जगह-जगह कारीगरी, मानो कलापूर्ण किसी खण्डहर या मन्दिर के पत्थरों को लाकर यहाँ सजा दिया गया है। चबूतरे के नीचे दो-चार मिर्चों की पौध लगा दी गयी है, सूरजमुखी के मोटे-मोटे फूल ऊपर की ओर मुँह उठाये हैं। पूरब की ओर एक छोटा-सा केलों का कुंज जिसमें पाँच-सात पौध होंगे, एक दो में केले झूल भी रहे हैं। पश्चिम की ओर दो ऊँचे सहिजन। मोटा तना। चारों ओर टहनियाँ पसारे हैं। मानो कोई छाता उलट गया हो। उसके उस ओर दूसरे घर की छप्पर है।

रवि को लगा, इस घर के दरवाजे से कोई अन्दर तेज़ी से चला गया। पैर पर सफ़ेद कपड़े की पट्टी बँधी है। कपड़े की पट्टी नहीं, मानो दस्तख़त हैं ये तो। चकित-चकित-सी दो चंचल आँखें। वे आँखें हँस भी रही थीं या नहीं? रवि के मन में एक नयी समस्या थी। तुरई फूल के रंगवाले वे हाथ-पैर बिजली की तरह चमककर, लहराकर क्षण-भर में अँधेरे में कहीं छुप गये। उसके साथ अँजुरी-भर हँसी भी बिखरी थी या नहीं?

सहिजन के नीचे जाकर छवि की माँ उधर के झुरमुट की ओर लक्ष्य कर ऊँची आवाज़ में बोली,—"गुरु की माँ, अरी ओ....!" और उसके साथ घास के झुण्ड के उस ओर से आवाज़ आयी, "हाँ—जी!" एक नंगा लड़का, होगा कोई आठ-नौ साल का, दौड़ता आया। साथ में एक कुत्ता भी है। अपरिचित को देखकर 'भालू' भौंकता हुआ दो-चार क़दम पीछे हट गया, भूँकने के बाद गरदन आगे कर नथुने फड़काता हुआ रवि के चारों ओर घूम गया। कभी एक क़दम आगे तो कभी दो क़दम पीछे हटता हुआ वह गुर्राने लगा, मानो उसका सारा अभियोग निराशा में करुण होकर फूट रहा है। या यही उसका चरम आर्तनाद है, फिर उसका नश्वर मरणशील पिण्ड उसको इस प्रिय धरती पर टें कर देगा। नंगा बच्चा उसका सिर सहलाते हुए, पीठ पर सवार हो गया। भालू कुछ हटकर बैठ गया और बीच-बीच में अपना अभियोग दुहराने लगा, मानो कोई

कितना ही समझाये पर उसका मन मानता ही नही कि कोई बाहरी आदमी चौधरी की हवेली में कुंज की तरफ से घुस आये। वह भी उसके जीते जी।

"हमारे जेठ का पोता है।" छवि की माँ ने बताया, "जिद्दी इतना है यह छोकरा कि कितना ही पहनाओ, तन पर एक भी कपडा नही रहने देगा। इधर जाकर चटशाला में बैठने लगा है।....जा, पैण्ट पहन आ। जा....आ...."

"ऊँ—ऊँ—कहाँ है मेरा कपडा?"

"है तो, अरे जा पहन आ!"

"हाँ, बच्चा ही तो है, कपडे नही पहने तो न सही, क्या हुआ?" रवि ने कहा।

"हूँ! पगला!" छवि की माँ ने बताया, "चार के मरने के बाद यह एक बचा! बस यमराज की जूठन समझो!"

तभी आ पहुँची कोई जीर्ण-शीर्ण स्त्री। गुरु कुत्ते को छोडकर छलाँग मारकर कहने लगा, "माँ, माँ, ये देख!"

नाक के नीचे तक पल्लू से ढँककर महिला ने पूछा, "कौन?"

"अरे, गुरु की माँ, आ तो सही, किस से लजा रही हो? ये तो बन्धमूल वाले घट महान्ती के लडके हैं, हमारे पुराने बन्धु-कुटुम्बियों में है।"

"अजीब बात है!" धीमी आवाज में कहती हुई खडी रह गयी गुरु की माँ—"अरे काकी, अजब है, ये कहाँ से मिल गये तुम्हें? फिर ये तो हमारे हँसी-मजाक के नाते वाले लोग है। तुमने कुछ हँसी-मजाक किया या नही?"

चेहरा घूँघट में कही छुप गया है। चमडी को ढँके एक मैली-सी साड़ी बाँस पर खोल की तरह झूल रही है। नंगा गुरु उस महिला के पैर पर झुक गया। चीं-चीं सुनाई पडी। मिट्टी कुरेदती हुई गुरु की माँ कहने लगी, "न कोई दिन है, न समय, एकाएक ये मेहमान कहाँ से टपक पडे? या कोई सपना देखा है? पैर धोने के लिए पानी का लोटा तो दो इन्हें। बैठने के लिए आसन भी नही दिया! क्या पहुनाई करोगी?"

छवि की माँ ने कहा, "छि, अरे लडके से भी ठट्ठा करती हो?"

गुरु की माँ ने तपाक से कहा—"लडका! ब्याह होता तो सात बच्चों के बाप हो जाते। क्यों पाहुन जी?"

बरामदे में चटाई आ गयी। रवि बैठ गया उस पर। गुरु की माँ ने आवाज दी, "अरे छवि, पान की डलिया तो बढा देना।" घर से निकले बिना, पलक झपकते ही गोरा-सा हाथ सामने कर छवि ने डलिया पकडा दी और फिर वह अपने हाथ के साथ अन्धकार में मिल गयी। छवि की माँ ने सरौता लेकर खटर-खटर करना शुरू किया। जुबान चलने लगी, "चौधरी तो गये हैं चटशाला, आते ही होंगे। धूप हो या बरखा या शीत, चटशाला लगेगी ही, लगेगी। बच्चे तो चीटियों की धार की तरह

लगे होंगे। चटसाला के गुरु का काम, जिनका है वह उन्हीं को शोभा देता है। वे तो कहते हैं—यह बहुत बड़ा काम है, पूर्व जनम का पुण्य फल होने से ही आदमी विद्या दान कर सकता है। उनके तो बहुत पुण्य फल है न! तभी जमींदारी गयी। घर टूटा। पहले वहीं नौकरी की थी विदेस में रजवाड़े में, वह भी गयी। बस अन्त में खाली रह गया यह नाम, और एक चटसाला।"

"और दो चीज़ें छोड़ गयी काकी!" गुरु की माँ ने मज़ाक़ किया। बोली, "एक तो उनका चरखा, और दूसरा एकमात्र कन्यारत्न।"

घर के अन्दर धप् से कोई गया। गुरु की माँ ने आवाज़ दी, "अरी, देखना काकी, उस घर में बिल्ली गयी क्या?"

छवि की माँ ने कह दिया, "आकर तू ही देख जा ना!"

रवि का ध्यान अपनी परिस्थिति की ओर चला गया। न कभी भेंट, न देखा-देखी, पर कोई उससे मनमानी ठट्ठा किये जा रहा है। और दूसरे की स्थिर सहानुभूति मिल रही है; पर दोनों में ही सहज आन्तरिकता।

छवि की माँ समझा रही है, "सरदेईपुर तो जानते हो? वहीं गुरु की माँ की पीहर है। चेम उसके चचेरे भाई हैं। सेटलमेण्ट में अमीन का काम करते हैं। तुम तो जानते होगे।"

रवि ने स्मृति पर ज़ोर डाला, चेम, सेटलमेण्ट में अमीन, वहाँ कहीं भी तो यह बात लिखी नहीं मिली!

आदमी के सम्पर्क की कहानी अटूट है। यह सोच वह कुछ याद भी करने लगा।

छवि की माँ ने बताया—"दो पीढ़ी छूट गये तो क्या हुआ? एक ही खून तो है। फिर एक ही परिवार। चेम उसे इतना मानते हैं कि कोई देखे तो लगेगा जैसे सगी माँ-जायी बहन हो। अब न बूढ़े हो गये—"

"ऐं बूढ़े क्या, कोई बैंगन या भिण्डी है मेरे भैया?...कहती है....बूढ़े?" गुरु की माँ ने टोक दिया।

"अरे तुम्हारे भाई को लेकर कोई भाग नहीं रहा, ऐसी क्यों हुई आ रही हो! हाँ, तो चेम की ससुराल चन्द्रपुरी गाँव है, वहाँ तुम्हारी माँ की बुआ का गाँव है, तुम्हारी माँ के फूफा और चेम के ससुर चचेरे भाई हैं। एक ही परिवार है। तभी गुरु की माँ तुम्हें अपने भाई का साला मान रही है। और बात यहीं पूरी नहीं होती। तुम्हारे बाप की मौसी का घर मेरे बाप के परिवार में ही है। मैं तब छोटी थी, तुम्हारे बापू हमारे घर आया-जाया करते थे। मैंने खुद देखा है। बन्धु-कुटुम्ब का हिसाब करने बैठो तो डोर लम्बी खिंच जायेगी, सब गुँथा-मुँथा है, जिसे कहते हैं दूब के तार।"

रवि हँस पड़ा।

"रहने भी दो गुरु की माँ !" छवि की माँ ने रोकते हुए कहा, "नाहक लड़के को छेड़े जा रही हो। अब कैसा सम्बन्ध ?"

रवि की छाती धँस-सी गयी। तनिक रुककर छवि की माँ ने बात बढ़ायी, "वे दिन नहीं रहे, अब वह स्नेह कहाँ ! वह युग गया।" गहरी साँस छोड़कर कहती गयी, "तब लोग खोज-खोजकर नाते-गोते का हिसाब लगाते और जोड़ते थे। सौगात, आना-जाना, देन-लेन, मेल-मुलाकात सब चलता ही रहता था। निमित्त-पर्व होते तो सब एकत्र होते। इस जुग में वह सब कहाँ रहा ?"

गुरु की माँ कहने लगी, "अब तो बस खाली अपनी बात, और किसी की बात ही नहीं। यह कलिजुग है न, खाली छल-कपट, स्वारथ। ब्याह के चौथे दिन बूढ़े-बुढ़िया को और बड़े-बड़को को पीछे छोड़ नयी बहू भी चल पड़ती है दूल्हे के पीछे-पीछे परदेस !"

"छोड़ो—" छवि की माँ ने कहा। उसने एक बार फिर आज की कहानी गुरु की माँ के आगे कह डाली। गुरु की माँ भी मानो पहली बार सुन रही हो, ऐसी दिख रही थी।

छवि की माँ चट से घर के अन्दर गयी। बात करते-करते उसी क्षण थाली में चिउड़ा, दही, गुड़ आदि मिलाकर ले आयी और पास रख दिया। चेतावनी-सी देते हुए कहा, "देखो इतना तो खतम करना ही पड़ेगा।" सामने वे दोनों। अँधेरे में एक ओर। लजाता-लजाता रवि सचमुच पाहुन बन गया।

खाते-खाते उससे उन लोगों ने उसकी रामकहानी भी पूछ ली। पढ़ाई करने से लेकर नियुक्ति पाने तक की। धीरे-धीरे लाज टूटी। घरवालों के सामने बातचीत करने की तरह वह बखानता गया अपना निर्णय, कुछ तर्क भी। उन्होंने उसके विचारों का समर्थन भी किया। उसे लगा मानो वह किसी नये धर्म का आविष्कार कर उसका प्रचार कर रहा हो, और ये दोनों उसके प्रथम शिष्या हैं। इसी तरह की कुछ आत्मीयता और मन में पुलक का अनुभव हो रहा है।

समर्थन में छवि की माँ ने कहा, "न हुई तो न सही वह नौकरी, तुम्हारा क्या बिगड़ा ? इनकी ही बात लो न, तीन बार नौकरी की और तीनों बार छोड़ दी। नौकरी करने में इधर सारी सम्पत्ति उजड़ गयी। यही मिला न, और क्या किया ?"

गुरु की माँ ने कहा, "मनुष्य का जनम कोई नौकरी के लिए थोड़े हुआ है— किस लिए हुआ है, जानते हो न ?" हँसकर अचानक फिर पूछ बैठी, "शादी-ब्याह किया या—?"

रवि अपने आपसे बातें करनेवाले की तरह बोलने लगा, "मैं विवाह नहीं करूँगा।" पर अपने ही कानों को कैसा तो अस्वाभाविक-सा लगा। गुरु की माँ ने पूछा, "ठीक कहते हो पाहुन, तुम ब्याह मत करना। तुमसे पहले तुम्हारे बापू, उनसे पहले उनके बापू, सभी ने एक दिन यही कहा था। खा-पीकर मस्त रहनेवाला जीव व्यर्थ ही क्यों ब्याह करे ?"

छवि की माँ लय-सहित पान कूटते-कूटते बीच में ही कह उठी, "जो जब होना होगा, सो तो होगा ही। लड़के के साथ क्यों झूठ-मूठ इस तरह मुँह-फट बन रही हो, गुरु की माँ!"

गुरु की माँ ने कहा, "मुझे लड्डू-पेड़े मिलेंगे—इसलिए। और नहीं तो क्यों कहती, बता!"

छवि की माँ हँस पड़ी। गुरु की माँ कहने लगी, "समय रहते ब्याह कर लेना। ओ भाई के साले जी! पीछे फिर दाँत झड़ जायेंगे, सिर की चाँद निकल आयेगी, तब ब्याह रचाओगे तो क्या सुख मिलेगा?"

सब हँस पड़े। क्या अँधेरे में से भी हँसी सुनाई पड़ी? हाँ, दबी-दबी सी हँसी आयी थी। रवि का मन उलझा हुआ था, कान उसी ओर उन शब्दों को पकड़ने में लगे हुए थे। पर अब कहाँ, सब शान्त। बाहर की यह हँसी मानो उसके घर जाने का संकेत हो। वह खड़ा हो गया।

अब की दोनों महिलाओं ने आपत्ति की, "अरे, तुम जाओगे, इस बेला? क्यों, कोई शत्रु के घर में हो? आज रात यहीं काटकर कल सुबह हो जाने से क्या नहीं चलेगा?"

रवि ने इनकार कर दिया। कहा, "घर पर काम है।"

"दण्डवत्! दण्डवत्! लम्बी उमर हो! फिर आना ओ भाई के साले! जान-पहचान न थी, अपने आप डोर जुड़ गयी। पोंछ न देना मन से। माँ से कहियो, तुम्हारी कोई समधिन थी जो ऐसा कह रही थी। प्रणाम....! आते रहा करो बेटा, तुम्हें देखकर ही जी भर जाता है। पर आज तुम आ न जाते तो छवि का क्या होता, पता नहीं। आज उसे भी सबक मिल जाता कि बन्दर के साथ छेड़खानी करने से क्या मजा आता है। अच्छा बेटे, भगवान् लम्बी उमर करें तेरी! हमें न भूल जाना कहीं! और अपनी माँ से कहना, बड़े-बड़े कौर खाये।....और हाँ, उस बन्दर ने भी बहुत दया की जो तुम्हें यहाँ लाकर भेंट करा दी। कल उसे पेट-भर भोजन दूँगी। अच्छा, फिर आना पाहुन! भूलना नहीं।"

इसी तरह किनारा पास आने तक बातें होती रहीं। वे पीछे रह गयीं। फिर एक बार सारा दृश्य आँखों के आगे फिर गया। नंगा बच्चा माँ से सटकर सब कुछ भूल, पल्लू को चबाने में लगा है। जीर्ण-शीर्ण स्त्री किस तरह रह-रहकर चमक उठती है, मानो कोई दीपशिखा हो। आशा जल रही है वहाँ। दूसरी, छवि की माँ, कितनी धीर, कितनी स्नेही, कितनी भली है।

प्रकाश क्या उसी अँधेरे घर से निकल रहा था?

केवल एक हल्की-सी सूचना, मानो अपने पास ही कोई कुछ कह रहा हो, एकदम दबे-दबे स्वर में। किन्तु इतना सोचकर ही उसका सारा व्यक्तित्व सिहर उठा। कान लाल हो गये। साँस तेज और गरम। समग्र रूप में जब एक नये बन्धन में उसका

मस्तिष्क उथल-पुथल रहा है, उसे लग रहा है—मानो वह मुक्त हो गया हो।

उस घर के अहाते में जाने से पहले आकाश क्या इतना विस्तृत नीला था? या घास इतनी घनी थी?

अत्यन्त स्पष्ट और सहज लगी उसे अपनी निष्पत्ति उतनी ही निश्चित, जितना कि सीधा मार्ग। लगा जैसे उसने आत्ममर्यादा और शान्ति का मार्ग खोज लिया हो। शुरू में ही उसे लग रहा है जैसे कि वह विजयी हो गया हो।

चौधरी के घर में बात छिड़ी हुई है। छवि की माँ रवि की प्रशंसा कर रही है। कहते हुए बार-बार याद आ जाता है कि उसे कोई लड़का नहीं है। वही जो पेट छह महीने का हुआ तो फिर पता नहीं क्या हुआ कि पेट में ही मर-गुजरकर तीन दिन बाद निकला। गाज गिराकर। यदि वही जनम लेता तो शायद वह इकलौता होता—यह धारणा उसके मन से गयी नहीं। छवि के जनम से भी पाँच बरस पहले की यह बात थी। किन्तु अपनी दुरवस्था याद कराने को, जब कभी भी वही घटना याद आ जाती है—कपड़े झुलाने के लिए अलगनी की तरह वहाँ कई चिन्ताएँ झूलती रहती हैं।

छवि की माँ कहने लगी, "हाँ, कितना सुन्दर चेहरा है, कैसी मीठी बातें करता है, कितना सुन्दर बरताव है, फिर इतना पढ़ा-लिखा भी।"

गुरु की माँ कहने लगी, "हाँ, काकी, सचमुच कितना अच्छा है और फिर कितना सहनशील। इतनी ठट्ठा-ठिठोरी की, पर एक बात भी मुँह से न निकली। सिर नीचा कर हँस देता, बस।"

"भाग्य से ऐसी सन्तान होती है। सब पिछले जनम के पुण्य होते हैं। हमारा होता तो—अपना क्या नहीं हो जाता?" छवि की माँ ने गहरी साँस छोड़ी।

विचारों को मोड़ते हुए गुरु की माँ ने पुकारा—"छवि!"

"क्या है?"

"अँधेरे में क्यों बैठी हो? बाहर आ जाओ न।"

"दीया-बत्ती करना है, दियासलाई नहीं मिली। अभी आयी।"

"अभी क्या दिया-बत्ती! अँधेरा तो होने देती—"

"पहले दियासलाई तो—"

"चूल्हे के पास रखी होगी," माँ ने बताया, "ढिबरी और दियासलाई वहीं रहती हैं।"

छवि ने दीया जलाकर तुलसी के बिरवे के पास लाकर कहा :

"दीपं ज्योति परंब्रह्म दीपं ज्योति जनार्दन।
दीपं ज्योति पापं दीपं ज्योति नमो नम॥"

दीपशिखा उल्लसित होने की तरह जल रही है। छवि ने प्रणाम किया। गुरु की माँ, छवि की माँ, सबने एक साथ प्रणाम किया। दो मिनिट तक ज़मीन पर माथा टेककर झुक गयीं। फिर उठकर छवि गयी लालटेन जलाने। दीपशिखा को प्रणाम करते समय वे लोग जैसी बातें कर रही थी, उसी धागे को बढ़ाते हुए गुरु की माँ कहने लगी, "हाँ, बहुत अच्छा होगा, काकी! कैसे होगा, यही बात मैं ठाकुर जी के आगे रख रही थी।"

"तेरे मुँह में घी-शक्कर, गुरु की माँ! पर, यह कोई मामूली बात है! कितना धन दहेज माँगेंगे, कमर में बल हो तब न।"

"डरना क्या काकी? चौधरी घराने का नाम तो कहीं उड़ नही गया। उसकी भी तो फिर एक मरजादा है, क्या पैसे देकर यह ख़रीदी जा सकती है?"

"आजकल और नाम? तू पगली हो गयी है गुरु की माँ!"

वे धीमे-धीमे बतिया रही थीं। अबकी आवाज को और भी धीमी कर फुसफुसाती हुई गुरु की माँ कहने लगी, "सारी बातें अपने जगह होती हैं, लड़के का मन अपने जगह। लड़का यदि कहे कि मैं यही ब्याह करूँगा तो माँ-बाप क्या मना कर सकेंगे?"

जीभ दाँतों के बीच दबाते हुए छवि की माँ ने कहा, "छि: छि: छि:, तू क्या कह रही है! दैव योग से लड़के के साथ जान-पहचान हो गयी, तो क्या यह भी कहूँ कि माँ-बाप की बात की राय के ऊपर उसकी राय से वह यहाँ ब्याह करे?"

"मैंने क्या कहा काकी, यह लड़का तो अपने आप सब कुछ देख-भाल कर गया है। क्या उसने अपनी कोई राय नही बनायी होगी?"

"नही रे, गुरु की माँ, जो माँ-बाप को पूछे बिना अपनी राय से रास्ता निकालते हैं, उन्हें चैन नही मिलता। असल में माँ-बाप राजी न हुए तो वहीं प्रस्ताव टूट जायेगा।"

"सो तो है," गुरु की माँ बोली और गुरु को साथ लिये चली गयी।

दीये की बत्ती जल रही थी।

थोड़ी ही देर में सिन्धु चौधरी घर लौट आये। पचास के आस-पास होंगे। पुरानी परम्परावाला चेहरा-मोहरा जिसे देखने से ही लगे कि किसी खोल या ढक्कन से ढँका है। ठीक पता नहीं चलता। कोई पुराना बड़ा अँगोछा या सफ़ेद धोती और अंगरखी। पहली निगाह में पता ही न चले ऐसी देह। लम्बे गोरे तो सहज ही है, चौड़ा और ऊँचा ललाट किस ढंग से कितना ऊपर तक उठा है। मानो वहाँ कोई हलकी चाँदनी बोर दी गयी है। गठन से दिख रहा है—चौखटा कसा शरीर, सिर के बाल पतले हो आये हैं पर उतने कम भी नही हुए। माथे को दो भागों में बाँटती सिंथी जिसके दोनों ओर घुँघराले से बाल, थोड़े-बहुत पक भी गये हैं और उससे एक प्रकार के

संभ्रम की भ्रान्ति पैदा कर देते हैं। आयत आँखें और दृष्टि भी स्थिर शान्त। सामने सुग्गे की तरह थोड़ी तीखी होती गयी नाक, लम्बी, ऊँची, दम्भ लिये-सी। देखने पर थोड़ापन का आभास देती-सी। नाक—एक खास नाक जिसको अनेकों के बीच भी साफ पता चल जायें। कन्धे चोड़े, सीधी गरदन, साधारण से बहुत अधिक हेंगू आदमी।

कुल मिलाकर अतीत का ही साँचा।

जमींदारी गयी। जवानी में कभी रजवाड़े में नौकरी की थी, पहाड़ी पानी देह को नहीं लगा। नौकरी का जंजाल और वहाँ का कूट-कपट देख सारा धीरज गों बैठे। दे दिया इस्तीफा। सत्रह बरस की नौकरी का जंजाल जाने के साथ-साथ नौकरी की चटक-मटक भी गयी और पाती भी। इसके बाद वही घर। अपनी छाया तले समय काटने के लिए गाँव में एक चटशाला खड़ी कर बच्चों को पढ़ाने लगे। मूत कातना, भागवत पढ़ना और चटशाला—जीवन में समन्वय हो गया था। बचपन की इस परिचित जगह में सहज भाव से घुल-मिल गये थे।

घर में बड़े भाई सिन्धु। उनसे छोटे दो और हैं मधु और विधु। मधु बहुत दिन हुए नयागढ़ जाकर बस गये। वहीं काठ की पैठ लगाकर व्यवसाय करते-करते ब्याह किया और वहीं रह गये। विधु पुरी-कलक्टरी में किरानी हो गये। गाँव नहीं आते, उनका सारा सम्बन्ध उस चाकरीवाले गाँव से सम्बद्ध हो गया है। पेट पालन करते-करते परिवार समेत गाँव से कितनी दूर दूसरे स्थान पर उन्होंने अपना संसार बसा लिया है।

तीन भाइयों में वे अकेले घर पर हैं। बेटा नहीं, वही इकलौती सन्तान ठहरी—छवि।

और उस मकान में रहते थे उनके चचेरे भाई शम्भू के लड़के सत्यवान की स्त्री, गुरु की माँ और गुरु। शम्भू मर चुके थे। सत्यवान रोगी आदमी, ज्वर लगा रहता है किन्तु जाकर यों ही एक मिठाई के व्यापारी के घर रहकर उसकी जमीन-जायदाद व्यापार-धन्धा देखते हैं और गुजारा करते हैं। रहते वे डिंगिसर गाँव में हैं। बाट छह कोस ही है गाँव से, किन्तु आया नहीं जा सकता। साहू का धान-चावल का व्यापार ठहरा, गाँव से संग्रह कर शहर भेजना पड़ता है। इसका जिम्मा भी सत्यवान पर ही है। माहवारी चालीस रुपये।

कहलाते हैं जमींदार का घराना, पटेली गाँव के चौधरी।

पुराने लोगों की जबान पर उस जमाने की कहानी रह गयी है, खरीद-फरोख्त, व्यापार-बट्टे की कहानी नहीं, देन-लेन बाँटने-उड़ाने की कहानी, पुश्त दर पुश्त की। किसने नहीं सुनी है नअंक[1] की बातें, जब इसी हवेली के सामने इस सिरे से लेकर उस सिरे तक चूल्हे खोदकर रसोई बनती थी, सैंकड़ों लोगों को मुफ्त खिलाया जाता था,

---

[1] नअंक – भीषण दुर्भिक्ष का समय इस वर्ष ओड़ीसा में।

दो-चार दिन नहीं, दो महीने तक चौधरी घराने ने अपना भण्डार उडेल दिया था। वैसे ही उस भयंकर बाढ़ के दिनों में जब यह चौक बाढ़ के पानी से भर आया था, यह चबूतरा ही इलाके भर के लिए घाट बन गया था, डोंगियाँ जाती और लोगों को बाढ़ के घेरे से निकालकर लाती, अपने रहन-सहन के दो-तीन कमरों को छोड़ बाकी सब में इन लोगों को मिला आसरा, ठसाठस भर गये थे सारे कमरे। और फिर चौधरियों के घर आना-जाना लगा ही रहता था—आज रामलीला, कल भरतलीला, परसों बादी-पाला[1]। और सबसे ज्यादा नाम था—रासलीला का। पैसा पानी की तरह बहाते थे। राधा-कृष्ण की विशेष लीला जो ठहरी। बाढ़ में पुराना मन्दिर टूट जाने के बाद विग्रहों की पूजा चौक में ही एक छप्पर-घर में होने लगी है। तब वह मन्दिर इस इलाके में बहुत प्रसिद्ध था, चौधरियों के इष्टदेव का देवल, उसके पीछे बाड़ी-बगीचा कितना कुछ न था। रासलीला होगी इसके लिए ही तो राममण्डप के चारों ओर चम्पा, बकुल, नागेश्वर आदि पवित्र पंच वृक्ष रोपे गये थे, सूआ-मारी, मयूर आदि पाले-पोसे जाते थे, रास चलती, अतिथि अभ्यागतों के लिए घी की मिठाइयाँ बनती। कड़ाही चालू ही रहती, उतरती नहीं।

संकीर्तन की धुन से सारा चौक मुखरित रहता, अनेक बाबाजी-वैष्णव आते, दल के दल। वो सारी कितनी बातें।

वह केवल एक घर ही नहीं था। एक अनुष्ठान बन गया था, चौधरियों का तो नाम था। उसी को लेकर गाँव में देन-लेन में एक प्रकार की समाजनीति चली आयी थी। मान-मर्यादा, आचार-व्यवहार, विचार-मतवाद सब पर एक दिन चौधरियों का प्रभाव पड़ा था। लोग उधर ही देखकर बात कहते अपने चलन पर विचार करते। घर में मिठाई बनती तब कहते, "तो क्या हुआ, चौधरियों के आरिसा पिठा[2] का कोई मुकाबला है?" कोई भोज खाकर लौटते तो कुछ इस तरह कहते, "कितना भी हो, चौधरियों जैसा भोज कैसे हो सकता है?" नहीं तो कहते, "मछली का झोल बना था, बस मानो चौधरियों के घर के जैसा हो।" परामर्श की जरूरत हुई तो कहते, "चलो, चौधरियों की हवेली।" तब बाहर घुड़साल थी, उससे पहले दो ठान हाथी बाँधने के लिए भी थे, ऐसा कहा जाता है। बारीक काम की, झालर लगे बनौनी कपड़े से ढँकी मगरमुँही पालकी, रंग-रंग के चित्र आँकी हुई कतार में रखी होती सन्दूक, कितनी ही।

और आज जो इतनी बड़ी हवेली सुनसान पड़ी है, वहाँ चप्पे-चप्पे पर आदमी, घर के लोग-बाग, नौकर-चाकर, साहब-मुसाहब। कुत्ते, बिल्ली, चिड़ियाँ, कबूतर, मैना,

---

१. बादी पाला—एक ओड़िशी लोक नृत्य। सत्यपीर की पूजा के साथ यह नृत्य होता है जिसमें कथा वर्णन के साथ-साथ संस्कृत और प्राचीन उड़िया साहित्य की पाण्डित्यपूर्ण आलोचनाएँ होती हैं। पाला की प्रतियोगिता को बादी पाला कहते हैं।
२ आरिसा पिठा—चावल का चूरा और गुड़ से बनी पीठी।

अँधेरी दीवारों पर किलबिलाते तिलचट्टे। बाहर कतार बाँधे छप्पर थे जिनमें गाय-बैल, भेड़-बकरी—रेवड़ के रेवड़, बाड़ी में खूब घना बगीचा, भरा-पूरा घराना था।

बाहर से देखने पर दुरुस्त मटमैला घर। आभिजात्य के चिह्न के रूप में उसकी चौड़ी सीढ़ियाँ—चौधरियों की पालकी के दोनों ओर की मशालों की तरह।

बच्चों की आवाज! ठाकुर-पूजा के समय घण्टी। मन्दिर में आरती के समय के घण्टे-झांझ। बाहर बाल-लीला, कंगाल-भोजन। कितनी चहल-पहल रहती!

सब को जोड़ें तो, वह एक विराट संस्था जैसी थी। बाहर से आदमी देखे तो लगता—यह सब रहेगा, हम रहेंगे, दुनिया आज जैसी है कल भी ऐसी ही रहेगी, आज जो पौधा लगाया गया है। कल वह बढ़ेगा! फूल खिलेंगे, उसमें फल लगेंगे।

पर वह संस्था नहीं रही, एक जीवन की अनुभूति पूरी होने से पहले ही पता नहीं कहाँ लुप्त हो गयी। यही अनुभव करते हैं सिन्धु चौधरी, क्योंकि उन्होंने यह सब कुछ अपने जमाने में देखा है। और अनुभव किया है उनकी स्त्री और गुरु की माँ ने। दुनिया के चलते चक्के में घूमते-फिरते कभी उनका मन घेरे से बाहर आकर सोचता तो लगता कि जो था वह नहीं है।

चटशाला का काम पूरा कर बाहर एक चक्कर लगा आने के बाद जब अन्दर जाते हैं तो कई बार सिन्धु चौधरी चौंककर सोचते हैं, कि उनके जाते समय सब कुछ था, लौटकर आने तक कुछ भी नहीं रहा। यही था वह घर, यहाँ तब आदमी थे अनेक लोग। सब अपने-अपने कार्यों द्वारा अपने को दूसरों की नजरों में ले आते। वही दस अंश के कुटुम्ब के लोग थे। किसी के चेहरे पर एक झलक-सी मिल जाती, कोई वृद्ध बैठ जाते पोथी के पास, व्यासासन पर खुली पोथी। गले में श्लथ चर्म पर झूल रही है तुलसी माला, सिर के बाल गोल-गोल कटे हैं, चोटी सीधी नारियल की तरह। किसी बरामदे में कोई स्त्री पैर पसारे सीप डुबोकर बच्चों को दूध पिलाती होती, कोई किसी का जूड़ा करती होती—सिर एकदम चमकता दिखता। कोई जोर से चला जा रहा होता इस कमरे से उस कमरे में—वही तो, वे हैं वैसे के वैसे। क्षण-क्षण में चलती तसवीरें आ-जा रही हैं स्मृति-पटल पर, उनमें से कोई दिख जाती है।

और नहीं.. .नहीं!

छवि की माँ ने हँसते हुए कहा, "कहाँ थे जी, इतनी देर हुई? कुछ सुना भी?"

फुसफुसाकर कह गयी सारी बातें। "कैसी सुन्दर जोड़ी होगी? कितना सुन्दर भला लड़का है! लीला नायक को जरा भेजें तो सही! कौन जाने बेटा-बेटी होने पर संसार में ऐसे ही बाउ रंगी जाती है। हम भी रखेंगे, शायद भाग्य में हो तो—"

हँसकर सिन्धु ने कहा, एक विचित्र भंगिमा में, मानो जीवन के किसी गहन अनुभव की तराजू पर तोल लेते हैं और वजन देख लेते हैं—"याद करो तो ब्याह से पहले मैं क्या तुम्हारे घर गया था? क्या कटखने बन्दर ने तुम्हें दौड़ाया था और मैं छुड़ा लाया था और कुछ किया था? बोलो, किया था कुछ मैंने? सच कह रहा हूँ या झूठ?"

"हैं हैं, बात तो पासंग में भी नहीं आयी, दिन-दिन आप बच्चा बनते जा रहे हैं ?" कही कोई बात की, बस उड़ा दी हँसी में। हूँ, मगर के मुँह से खींच लाये तो बात-बात पर उसी का उलाहना...."

"बच्चा मैं नहीं, छवि की माँ, तुम हो। छोड़ो, मन में चिन्ता न करो। ब्याह तो जहाँ लिखा होगा वहीं होगा। इतना छटपटाने से, इतनी जगह बात चलाने से ही क्या कुछ हो जायेगा ? होने का जोग आयेगा तो अपने आप होगा, इसके लिए तमाशे में स्वांग भरने से क्या होगा। छवि किधर गयी ? देखें, कैसी चोट लगी है...."

"बात कानों में डालो तो सही एक बार।" छवि की माँ ने बहुत गम्भीर होकर कहा। मानो यह बरसने से पहले का मेघ हो।

सिन्धु ने बच्चों को बहलाने के ढंग से कहा, "ठीक है ! तुम्हारी बात ही सही, लोका नायक जाये। हो-हा न करना ज्यादा। बचपना तो बहुत कर लिया, अब ज़रा शान्त हो। इतने ठगे जाने के बाद कम से कम यह तो सीखना था कि ऐसा इन्द्रधनुषी आदमी कहीं देखा या जाना है ? जब अपना भाग्य भी उपहास करता है। कहाँ गयी छवि ?"

छवि की माँ छाया की तरह उठकर चली गयी ? "दीया जला देना तो, छवि।"

साँझ का पहला पहर। रसोई आधा-पुरता हो चुकी थी, किसी की कुछ अधिक। गेल्ही की माँ भात-दाल उतारकर सब्जी खोजने सोनेवाले कमरे की ओर गयी। उसको सहारा दे रही थी गेल्ही। उसके हाथ में एक बड़ी पीतल की ढिबरी थी, क़रीब उन्नीस वर्ष पहले जब गेल्ही की माँ इस घर में आयी थी, गेल्ही के जनम से कोई पाँच वर्ष पहले, तब यह ढिबरी उनके साथ आयी थी।

ठीक उससे कुछ पहले गेल्ही के पिता बाउरी बस्ती से अरबी के पत्ते में लपेटकर कुछ सौरी मछलियाँ लाये थे। अतः मज़ेदार तरकारी बनेगी, सबके मन में यही आशा है। आप ही रसोई के सामने ढिबरी जलाकर मछलियों पर राख मलकर काटने के काम में लगे थे। कैसे अबल लड़ाकर मछली पायी है, वह बात तबतक पूरी नहीं बतायी थी।

पाटुआ-भाटुआ दो भाई—पाटुआ उनमें बड़ा, कुछ दुबला। और भाटुआ छोटा किन्तु हृष्ट-पुष्ट। कोई दो वर्ष हुए एक बकरी को लेकर दोनों भाइयों में झगड़ा शुरू हुआ। किसने ली, किसने खायी, राम जाने, पर भाटुआ का कहना है कि भाई खा गया। बस तब से खूब झगड़ा। और वह खतम होता ही नहीं। चार-चार हाथ के कमरे बने हैं, दीवारें खड़ी कर दी हैं, किन्तु दरवाजे खुले पड़े हैं कलह के लिए। दोनों भाई मजूरी करने चले जाते हैं, तो घर में दोनों देवरानी-जिठानी कलह चालू रखती हैं।

गले की शरारत के साथ कमर की भी। दोनों भाई जब आ पहुँचते हैं तो वे भी सम्मिलित हो जाते हैं। फिर चलता है घमासान झगड़ा, गाँव की पूरी बस्ती धिधक उठती है।

आज साँझ को भी भिड़ गये थे दोनों। कोई किसी से कम नहीं। एक की उमर इक्कीस है तो दूसरे की बाईस, गुस्से में पाटुआ की स्त्री अनजाने में ही झट दौड़ गयी देवरानी के पास, क्या करने जा रही है कुछ सोचा तक नहीं, और उसके माथे के घने बालों से भर ली मुट्ठी, नाक पर ऐसी एक मुक्की जमायी कि बस टप-टप खून की धार और "ईलो बाप रे मर गयो—"

जिठानी को पकड़ उसके साथ मल्ल-युद्ध करे, उससे पहले ही भाटुआ की स्त्री ने अपनी हालत लोगों को बताने के लिए इतने जोर से चीख मारी कि उधर से आ रहे नीलूदास धड़ाम से उनके आँगन में घुस आये।

भाटुआ ठीक इसी समय मछली लिये घर आ रहा था, मछली की टोकरी कन्धे से झूल रही है, पहना हुआ गीला अँगोछा टपक रहा है, तभी नीलूदास और उसकी भेंट हुई पूहर के पेड़ के पास। नीलूदास ने जोर से कहा, "भाटू है क्या, अरे देखता क्या है? दौड़ा जा। मछली छोड़, पहले आदमी को सँभाल, देखता क्या है?"

भाटुआ जैसे ही मछली का दोना बरामदे में रखकर झगड़े की ओर दौड़ा कि बीच में कटारी लिये पाटुआ बिजली की भाँति आ पहुँचा। कहने लगा, "देख खबरदार, औरत-औरतों का रार है। मैं कहता हूँ भाई-फाई नहीं मानूँगा, यहीं इसी वक्त सिर जमीन में लोटता नजर आयेगा।"

उसकी वह भीमाकार मूर्ति देख भाटुआ अवाक् हो रुक गया। पाटुआ ने आवाज लगायी, "खूब ताकत हो गयी भुजाओं में....खूब ताकत हो गयी है तेरी! तेरी रोज-रोज, पर मेरी एक दिन। तू एक कदम आगे बढ़ा कि मैं फाँसी चढ़ जाऊँगा। तू भूत बन देखा करेगा—यह मेरा प्रण है।"

ऐन ऐसे उस समय जब भाटुआ की ऐसी विषम स्थिति थी—कि पता नहीं आगे बढ़े तो क्या हो जाये, और बिना गये उसका शरीर अपने पुंसत्व के प्रति धिक्कार से भरकर थर्रा उठता, नीलूदास ने एक हाथ में मछली पकड़े हुए दूसरे हाथ से भाटुआ को पकड़ लिया। बोले, "अरे तू पगला मत बन। मेरी बात सुन, इधर आ।" पाटुआ का यह उग्र रूप देख दोनों औरतें अपने आप अलग हो गयीं। एक दूसरे पर गालियों की बौछार करने लगी। भाटुआ को भी मौका मिल गया। चिल्लाकर बोला, "मुझे पकड़ लिया बाबू, नहीं तो आज देखते किसका सिर कटता है। अरे कटार चलाना उसे ही आता है या और कोई भी जानता है?"

नीलूदास उसे पकड़े, खींचते हुए कहने लगे, "लड़ने-मरने की कोई जरूरत नहीं, मैं एक दरखास्त लिखे देता हूँ। थाने भेज दे। 'थोड़े-से पैसे ही तो लेंगे, फिर देखना अपने आप इनक्वारी होगी, सब भाव मालूम हो जायेगा।"

भादुआ ने कहा, "जो लगे लगने दो। आज ही लिख दो।"

उसने कहा, "आज तो रात हो गयी, अब कल लिखी जायेगी। आज तो चुपचाप सो जाओ।"

कहकर मछली लेकर वे चले गये।

दो कदम ही आगे गये होंगे कि पलट आये। कहने लगे, "अरे तेरी मछली तो मैं लिये जा रहा हूँ, ले यह तेरा दोना,....कल सुबह जल्दी आ जाना।" दरखास्त जरा-सोच-विचारकर लिखना है, तुम्हें सब कुछ बताकर फिर मैं अपने काम पर जाऊँगा। आज जाकर चौकिया को खोज निकालना, उससे कहकर रखना, जरा इसमें से दो-एक मछली देना। मैं पैसे कल भिजवा दूँगा।"

और भादुआ ने कहा, "मैं अब और क्या मछली खाऊँगा। आप ही ले जाओ तो ठीक रहे।"

बिल्ली मछली की ओर निगाह किये म्याऊँ-म्याऊँ कर रही है, पास सरकी आ रही है। इस बार हाथ बढ़ा ही देगी। जोर से बोले, "अरे तू जाती है या नहीं? अरे यह भी एक ही है। इतनी चटोरी हो गयी है तू! और ले, पहले तुझे ही देता हूँ—भले का तो जमाना ही नहीं रहा।"

काठ का पीढ़ा उठाया और उसका पीछा किया, पर लौटते तक सबसे बड़ी मछली को मुँह में दबाकर बिल्ली भागी जा रही है। चिल्लाये, "गयी, गयी, ले भागी!" बिल्ली का गुस्सा बेटी और पत्नी पर उँडेलते हुए कहने लगे, "अरे, तुम तो कोई आओगी नहीं, फिर बिल्ली न लेगी तो कौन लेगा? मैं बेकार ही तुम लोगों के लिए इतने जाल-जंजाल में पड़ता हूँ। अरे गेन्ही, तू क्या कर रही है?"

"ढिबरी पकड़े हूँ। माँ आलू छाँट-छाँटकर ले रही है जो।"

"हूँ, ढिबरी रख देने से क्या नहीं चलता, मन ही मन बड़ी आदमिन बन गयी, बस—और तुम भी देखो न, आलू बीनने में ही तुम्हें एक जुग लग गया, इतनी देर में तो आलू के बीज बोकर गाछ भी हो आता, जरा सोचो तो सही—"

"जो आलू थोड़े खराब होने को आये, पहले उन्हें चुनकर साग कर लें तो ठीक रहे। नहीं तो सड़ जायेंगे।"

"हाँ, ऐसे ही छाँट-छाँटकर आदमी को सदा सड़े आलू ही तो खिलाती हो! छोटे घर की बेटी न होती तो ये बुद्धि आती कहाँ से?"

"क्या बोले? क्या कहा? फिर से जरा बोलना! सब छोटे घर की बेटी है—बस ये ही तो हैं बड़े आदमी मेरे ब्याह में दायजा मिला, तो बरतन-भाँड़े बेचकर देन-लेन चुकाया और सब जाकर खाने को दो मुट्ठी मिलने लगा। ये हैं बहुत बड़े आदमी।

कहते भी हैं न, घर में दाने नहीं, बने फिरते हैं बीसमार खाँ।"

"रहने दो तुम्हारे मायके की बातें। अपना घमण्ड। रौब तो देखो! सब के सब खंट[1] कहीं के! कहा भी है—"बालोऽपि खंट, धनिरोऽपि खंट, यति गती सर्वजनोऽपि खंट।"

"क्या बोले? क्या कहा? फिर बोलना तो जरा। दिन पर दिन जवान बढ़ती ही जा रही है। भले आदमी कहीं ऐसे आधी रात गये लड़ते-झगड़ते हैं। स्वभाव ठहरा, और करोगे भी क्या?"

झगड़ा और कुछ बढ़ता, किन्तु तभी बाहर के दरवाजे पर दस्तक हुई। गेल्ही ने कहा, "कोई बुला रही है।" गेल्ही की माँ ने बड़ी कठिनाई से अपने को संयत किया। कहा, "ठीक है। बाद में देखेंगे।"

नीलूदास भला किस झगड़े से डरनेवाले! कहा, "मछली धोना—साफ करना तो हो गया, तुम बनाती हो या मैं बनाऊँ? क्या कहती हो, कह दो—"

"ऐसे ही यदि हाथ कुलबुला रहे हैं, तो जो करना हो करो न! बैठे क्यों हो?"

नीलूदास ने अवज्ञा करते हुए कहा, "इधर न सेटलमेण्ट का कुछ दिन हुए बुलावा नहीं आया। तभी तुम्हारे हाथ की रसोई जीमने आदमी घर में पड़ा है, नहीं तो कहाँ थी तुम! या हम कोई भूखे थोड़े पड़े रहते तुम्हारे न पकाने से? कितने पहाड़-पर्वत में अपने हाथों के भरोसे ही रातें काटी हैं। इन्हीं हाथों से ठीकरा बैठाया है। तुम क्या किसकी हो सकती हो? खण्डस्य पुरी रण्डस्य नगरी, बिनानुखण्डे प्रसवन्ति—"

"हाँ हाँ, रहने दो अपनी पण्डिताई, उधर कोई आये हैं।"

सचमुच आ भी गयी कोई। वह कन की माँ। गेल्ही की माँ गंगाजल[2]। सात घर छोड़कर उनका घर है, वहाँ जहाँ गली मुड़ती है, बाड़ में तीन आम के पेड़ हैं। उन्हीं की सीध में उनका घर है। घूँघट और भी बित्ता भर खींचकर आगे सरका लिया। देह को धीरे से झुकाकर आयी और ढिबरी की रोशनी से हटकर खड़ी हो गयी। गेल्ही की माँ ने तुरन्त कहा, "वे उधर है, अरी, इधर कोई नहीं। कैसे आयी?"

कन की माँ ने घूँघट पीछे कर लिया और हँसता हुआ चन्द्रमुख दिखाया। किन्तु वह चन्द्रमा पूर्णिमा का नहीं कोई पंचमी या षष्ठी का होगा। माथे पर गंजापन ऊपर तक बढ़ता गया है, दीवार की तरह काफी दूर तक, दोनों गाल गुठली की तरह हैं, किन्तु दोनों के बीच की दूरी भी कम होती गयी है, मानो मुँह एक ही फाँक-सा दिखेगा। पान खा-खाकर दाँतों की जड़ें निकल आयी हैं। दाँत खूब बड़े-बड़े दिख रहे हैं। वैसे ही दाँत सड़ गये हैं पान खाने के कारण, उसपर काले दीख रहे हैं। नथुने उठ रहे हैं, दाढ़ थरथरा रही है, उसी से गेल्ही की माँ ने समझ लिया कि गंगा-

१. खंट—डाकू।
२. 'गंगाजल'—एक सस्नेह सम्बोधन।

जल' कोई खबर लायी है। कहा, "गेल्ही, तू जा, ये आलू लेकर जा, बाबू अकेले—" और गेल्ही चली गयी।

चटाई बिछा दी। दोनों 'गंगाजल' बैठी। गेल्ही की माँ के चौड़े चेहरे के पास सरक आया कन की माँ का फाँका चेहरा। और अधिक पास। एक की साँस दूसरी के गाल को छू रही थी,....और थोड़ा पास—और नजदीक हो गयी। एक के देह की गरमी दूसरी ने अनुभव की अपने गाल पर। फुस-फुसाहट। बस फुस-फुस दबी आवाज में, गला दबाकर। मुँह के सामने दूसरा चेहरा, और कुछ दीखता नहीं, अस्तित्व इतना ही, संसार इतना ही, भौंहें नाच रही हैं, और आँखों की पुतलियों में बिजली चमक रही है। खुद अपने अन्दर टटोल कुछ न पाकर जो व्यक्तित्व जीवन में विचित्रता को खोजना भूल गया था वह ईर्ष्या में उन्मत्त होकर फूल उठा है।

दोनों का सब एक दूसरी के प्रति आबद्ध ध्यान टूटा, जब अचानक 'कें-कें' कर कोई आवाज हुई। घर की बिल्ली खाट के नीचे से एक बड़ा चूहा पकड़, बाहर भाग गयी थी।

"अरी कितना बड़ा चूहा ले गयी!"

"ऐसे कई ले गयी है 'गंगाजल'! भूलू की खूब शिकार करती है। बैठी रहेगी ताक में, चुपके से ऐसी झपटेगी कि ठीक गला दबोचेगी, और छू! हाँ, तो तू कह रही थी क्या सच? आदमी क्या पहचाने इस कलजुग के आदमी को, बहन!"

दोनों हँस पड़ीं। दोनों मुँह धीरे-धीरे एक दूसरे से दूर होते गये।

बाहर सुन्दर चाँदनी रात। हलके कुहासे की चादर तान वसुन्धरा की छाया मानो एकीभूत होकर कितने अर्थों में नयी अवस्थिति में आविर्भूत हुई है। माघ शुक्ल षष्ठी की रात। समुद्र के किनारे चन्द्रभागा तीर्थ की मरुभूमि पर बटोही यात्री-परिवार की तरह बढ़ गये होंगे हजारों परिवार, अरहर के झाड़ पर कपड़ा फैलाकर रात-भर के लिए दीवार बनायेंगे, बालू पर केवड़े के फल को चूल्हे का मुँडेर बनाया गया होगा। हाँड़ी चढ़ी होगी, बड़ी तड़के से ही माघ सप्तमी का स्नान।

यहाँ उस चन्द्र का आदर नहीं। छान न होती तो चाँद दीखता, बस इतना ही व्यवधान है, पर उतने में ही आकाश तले के विराट् चेतना-समुद्र से अलग होकर वह एक अँधेरी गुफा हो गयी। वहाँ चन्द्र नहीं, तारे नहीं, है तो बस ढिबरी का प्रकाश, फूल पर फूल हो गये ढिबरी की बत्ती के ऊपर, प्रकाश नाच रहा है, दो चेहरों की छाया नाच रही है, उस नीरवता में दो मन-कन्दराओं का हिंस्र औत्सुक्य नाच उठता है। टें टें ईं टें टेंईं कर हलचल मचाती हुई मुक्ति का संगीत सुनाती ऊपर ही ऊपर उड़ गयी चिड़िया। किन्तु रसोई की तेज चें चों लगी रही। बाड़ी की ओर से हिना की महक और दरवाजे की ओर से शेफाली की सुगन्ध व्यर्थ ही चेष्टा कर रही है उस घर में घुसने की, घुस सकती नहीं।

छुट्टियों में आया था। कितना सुन्दर सरसों फूलिया चाँद उगा था। बेटियाँ सब गीत गा रही थी फिर क्या हुआ कि—"

गेल्ही की माँ कहने लगी, "तो मैंने जो कहा, यह उससे अधिक, आँखों देखी बात से भी बढ़कर है, और क्या ?" कन की माँ कहने लगी, "अधिक दिन बेटी को ब्याह किये बिना घर में रखने पर ऐसा ही होता है। किसकी निन्दा की जाये ? और उसकी माँ क्या कम सयानी है ? बात जैसे ही उसकी निगाह में आयी, वैसे ही जाल फैला दिया, छोकरे को बाँधकर ब्याह कर दे तो बस। फुसलाकर बुला ले गयी। हम सब खड़ी देखती रह गयी।"

"कौन जाने यहन होता होगा।" केला की स्त्री ने हँसकर कह दिया।

फिर उठ गयी। सामू की हाजरी। अब और देर नहीं की जा सकती। पर उसकी हँसी से सब पता चल गया। असल बात वह जान गयी। अब वह दम को और कहेगी।

गेल्ही की माँ और कन की माँ भी खुश हुई। सब एक साथ उठ गयी रामायण सुनने।

गूँटे-सी बैठी थी परी की माँ। उसका चेहरा भी एक विशेष प्रकार का है, मानो कोई छोटी बछिया का सिर सँवारकर आदमी का सिर बना दिया गया है, ऐसा गढ़न है उसके मुँह का। बहुत वर्षों के आमाशय के रोग के कारण चेहरे का पानी सूख गया है। खाली हाड़ के ढाँचे पर मलिन हुए पीले चमड़े की चादर पड़ी थी। दोनों आँखें बड़ी-बड़ी। बजान्त, चकित-चकित-सी, मानो संसार की सारी बातों में वह अकबकाई-सी है। दो सूखी मुट्ठियों पर चेहरा टिका हुआ था।

कहानी समाप्त होते ही उन्होंने कहा, "इलो, मार्दरी, इतनी बातें चल रही है। पर जब टूटता है तो मान-महत्ता भी ऐसे ही झर जाता है। सीधे-सीधे विवाह कर डाले तो बात भी है। यह सम्बन्ध, अच्छा ही रहता। पर हाँ—देन-लेनवाली बातें भी तो हैं। बड़ महान्ती वे ठहरे! और अब क्या है इनके पास जो देंगे ?"

गयनी की माँ खड़े होने पर डेंगू लगती है, इकहरे बदन की है, उनका भी पेट ठीक नहीं रहता, थोड़ा खाने पर भी पेट भरा-भरा लगता है, खट्टी डकारें आती हैं।

खड़ी होकर कहने लगी, "वह ब्याह करे या न करे यह प्रश्न नहीं है, पहले इसकी बातें तो देखो। जरा भी शरम नहीं उसके मुँह पर ? छि—छि—छि, क्या जुग हो गया रे! कैसा जमाना है ?"

सब दीक्षा पाकर लौट गयी। अपना-अपना रास्ता पकड़ा। रास्ते में एक जगह बाड़ के सहारे परी की माँ गेल्ही की माँ का हाथ थामकर खड़ी हो गयी। दोनों ओर की बाड़ियों के मालिकों ने अपनी सीमा बढ़ाते-बढ़ाते बीच में आने-जाने का रास्ता सँकरा कर डाला है। एक ओर की बाड़ में एक झाड़ अपना मजबूत हाथ बढ़ाकर बटोही को पकड़ने लगता है, तो दूसरी ओर घनी हो गयी आ रही है मयूमालती।

लाल-लाल गुच्छे के गुच्छे सजाये खड़ी हैं। सिर पर छत्ता ताने है एक सहिजन का पेड़। बहुत सारे सूँड़ी (कीड़े) चिपके हुए हैं, मानो वृक्ष ने गरम कोट पहन लिया है। उसपर लहलहा रहे हैं कच्चे-कच्चे सहिजन।

वही पदी की माँ ने गेल्ही की माँ का हाथ पकड़कर फुस-फुसाते हुए पूछा, "उई, इतना सब हुआ। सच कहना, तुमने देखा? क्या देखा?" उस बछिया के से सिर में कही धक-धक होने लगी थी, अतीत की कोई लहर। सहिजन पर लम्बी चोंच-वाली चिड़ियों का जोड़ा कूद रहा है, टप-टप कर सूँड़ी झर रहे है, उस ओर निगाह किये बिना पदी की माँ उत्सुकता से उत्तर की प्रतीक्षा कर रही है। पूछा, "तुम्हें मेरी सौगन्ध, सच बोलना, तुमने क्या देखा?"

गेल्ही की माँ ने हँसकर, फुस-फुसाकर कहा, "अरी जीजी, मैं झूठ बोलूँगी तो तुम जल नही जाओगी। तुम्हारी सौगन्ध खाती हूँ। फिर मेरी क्या अवस्था होगी? तुम्हारे जैसा मैं कहाँ से पाऊँगी, बताओ भला। सच न कहूँगी तो क्या तुम्हारे आगे झूठ बोलूँगी।"

"सच-सच बता, क्या देखा है?" उनकी मुट्ठी थरथरा रही थी, एक बार ढीली की, पुन. कसकर पकड़ ली। गेल्ही की माँ ने कहा, "छिः मुझसे क्या पूछ रही हो, तुम क्या कभी उमर पाकर बडी नही हुई थी? या ऐसी ही थी सदा? देखो तो सही: ऐसा होता है। सब कुछ क्या कोई देख सकता है....पराया बेटा, क्या हक है उस पर? उसे आया देखा। फिर इसे देखा, उसे भी देखा और सारी बात समझ गयी। जो देखा-जाना वही तो तुम लोगों के आगे कहती हूँ—"

पदी की माँ की उत्तेजना कम नही हुई थी, कहा, "पेट-कपटी है तू तो, सब कुछ पेट में रखे है। कहती कुछ नही।"

"तुमसे कुछ भी नही छुपाती जीजी! देखने से भी बढ़कर समझना होता है। आदमी की चाल पहचानी जाती है। मैंने सब समझ लिया। छवि की माँ तो खैर, एक तरह से अच्छी ही है, उसकी सास तो विचित्र मूर्ति थी। वह क्या कम बात पकड़ती थी? याद है, मैं जब नयी-नयी ससुराल आयी थी, माँई रे, क्या कहूँ; उन्हें देखकर ही तो मेरी छाती का खून सूख जाता। उन्ही का घर है तो।"

"ईलो देख, नटिया ओझा की बाड़ी में गाय घुसकर किस तरह बैंगन उखाड़-उखाड़कर खा रही है।"

"है, हमारा क्या जाता है!" गेल्ही की माँ ने कहा।

"खा गयी रे खा गयी—" पदी की माँ ने ऊँचे स्वर में कहा।

गेल्ही की माँ ने कहा, "कहाँ कोई क्या खाता है, उजाड़ता है—हम क्यो सिर खपायें।"

वे चली गयी। पीछे-पीछे पदी की माँ।

आरत अमीन के घर में ढेंकीशाल में बात चली थी, पधान बस्ती की सिखरा

की माँ ढेंकी के गड्ढे में हाथ डाल उलट-पुलट कर रही थी। ढेंकी पर खड़ी थी केवट बस्तीवाली चम्पी की माँ, तेली बस्ती की रघु की माँ। ये तीनों ही गाँव में पेशेवर धान कूटनेवालियों में अग्रणी हैं। इसी से गुजारा करती हैं। एक-एक झोपड़ी हैं। इस जून मिल गया तो ठीक, पर उस जून का ठिकाना नहीं। शिसरा की माँ के आधे बाल पक गये हैं, खूब बलिष्ठ गठन, गाँव में कोई-कोई तो उसे हनुमन्त बुढ़िया भी कहते हैं। गोरे गोल चेहरे पर गलफड़े में दो पान ठूँसकर बुढ़िया हँसती-हँसती बात कहती है। काकरा पीठा की तरह दिखते हैं उसके दोनों आलू-जैसे फूले गाल। चम्पी की माँ चिक्कण काली सीधी-लम्बी छड़ी की तरह। उसका मँझला बेटा गंगा गाँव में रामनवमी की लीला के समय रावण बनता है। माँ को पता है। चार हाथ से ऊपर लम्बा होगा। चम्पी की माँ के ढेंकी पर चढ़ते समय उसके अंग संचालन में जल्दबाजी से युद्ध में जाने की भंगिमा है। आलस वह नहीं सह सकती।

रघुआ की माँ उमर में इन तीनों से छोटी है! नाम है रघुआ की माँ, रघुआ की उमर आठ बरस की भी नहीं हुई। रघुआ की माँ गेंदे की तरह गोरी है। पाँच वर्ष हुए पति कलकत्ते में रह गये, फिर लौटे नहीं। मायके में भी कोई नहीं रहा। दो बरस भूख-प्यास बुझाने के लिए घर का गहना, गाय-गोरू, बर्तन-भाँडा सब बेच-बाचकर बहूपन की लाज बचाये रही। जब खबर आयी कि पति ने अपना अलग संसार बसा लिया, तब से जो काम पाती है कर लेती है। इसके बाद ही रघुआ की माँ धान कूटने और दूसरे काम-काज करने बाहर निकल पड़ी। 'उसका भी जीवन व्यस्त हो गया। हजार बार नाखून पक गये हैं, पंजे-भर में लाल-लाल चिह्न हो गये हैं।

पान के पत्ते की तरह उसका धारदार चेहरा है। गोरे चेहरे में चिबुक पर लाल रेखा है। बचपन में गुदना गुदवायी थी। पान खाने की आदत डाल ली है, सफेद निर्लिप्त सटे हुए दाँतों पर लाल पान की पीक का रंग खूब फबता है। ठीक कानों पर घने बालों की काली लट। मामूली मैली-सी सादी साड़ी पहन धान कूटते समय अपने अनजाने ही वह यौवन और रूप की छाया बिखेरती जा रही थी। पहले हताशा और अवसाद उसके चेहरे पर एक काला साया-सा डाल रहे थे। अब जीवन का स्वच्छन्द सहज विकास मानो उसकी मैली चमड़ी को ठेलकर नयी चमड़ी ऊपर लाता जा रहा था और वह काली छाया आहिस्ते-आहिस्ते पीछे हटती जा रही थी।

रघुआ की माँ! उसके माँ-बाप का दिया नाम तो नीली है। पर इन सारी बातों को तो वह पीछे छोड़ चुकी है।

आरत अमीन की स्त्री ढेंकीशाल में बैठी चौराई के साग में से पत्ते खोंट-खोटकर एक ओर रख रही थी। एक-एक लाल मिरच और एक-एक लहसुन। छोटी-छोटी मछलियाँ वगैरह जो मिला, कुछ-कुछ लेकर परस्त के परस्त कुम्हड़े के पत्ते में लपेट सुन्दर 'पत्तरपोड़ा', तैयार करना है। बेटे-बेटी खायेंगे। सबसे छोटा, जिसका नाम चगला है, दस वर्ष का लाड़ला बेटा है। अब भी नंगा रहता है। इसके बाद और होना

नहीं। ज्यादा रुचि उसी की है 'पत्तरपोड़ा' खाने की। आरत अमीन ने तो अमीन का काम करते-करते विदेस घूम-फिरकर उमर काट दी। घर सँभालना, जमीन-जायदाद, कोठी-बाड़ी हलवाहों-मजूरों की देख-भाल का सारा दायित्व उन पर ही है।

शिखरा की बुढ़िया माँ ने बातों ही बातों में कहा, "तुम्हारी बाड़ी के पास उस ओर काँटोवाले साग के पौधे कितने बड़े-बड़े भालू की तरह बढे हुए हैं, तुम तो उन्हें छुओगी नही। मुझे कहती तो एक मुट्ठी खोंट लेती। साग हो जाता।"

"मैंने ही तो बढ़ाया है," उसने तुरन्त जवाब दिया, "साग रख छोड़ा है, 'पत्तरपोड़ा' बनाने के लिए। डाली पड़ेंगी कांजी में। आज पत्ते खूँटने की सोची थी। तू ने तो डाल ही तोड़ दी।"

शिखरा की माँ घुसकर काँटों में से दो डाल तोड़कर लायी थी। उसका पावना इतना ही हुआ है।

साहसी स्त्री है आरत अमीन की पत्नी। देह का अंग-प्रत्यंग जैसे पम्प मार-मारकर फुला दिया गया है। इतना बड़ा मुँह, केतकी-सी गोरी, ऊपरवाले होंठ पर भूरे रोओं की रेखा। वैरी कहते हैं कि शंखो की माँ आधी मरद है, अमीन तो उसकी बकरी है। शंखी की माँ की मसें हैं।

धान कूटते-कूटते शिखरा की माँ ने वही दूसरी बात दे दी थी। उपक्रमणिका देकर कहा, "देखो तो सही, समय ऐसा हो गया।" उपसंहार में कहा, "अब इस गाँव में धर्म-अधर्म, मान-मानता रहेगी कहाँ से?"

शंखी की माँ ने खोद-खोदकर पूछा, "अरी, इतनी बात हो गयी? कहाँ, हमें तो कोई खबर ही नही। घर में बुलाकर छवि की माँ ने क्या किया? कन्न की माँ ने आकर आज सुबह खुद बताया है, चूल्हे से दो पतंगे लेने उतने घर लाँघकर आयी थी।"

शिखरा की माँ ने कहा, "मैं स्वयं तो थी नही, जो सुना सो कहा। घर में ले गयी, बाद में उनके बीच क्या हुआ, कौन देखने गया? तो भी आखिर माँ ही ठहरी न, जनम दिया है, कुछ तो किया ही होगा। और क्या ऐसे ही छोड़ दिया होगा? जो हो, पर दोष क्या हो गया? जो बाद में होता, पहले हो गया। असुविधा इतनी कि जिसे कहते हैं मर्यादा...."

चम्पी की माँ ने कहा, "मर्यादा ही तो असल है, वही गयी तो क्या बचा? हमलोग दो मुट्ठी बही काम धन्धा कर ले आती हैं, पेट भरती हैं, पर इज्जत को कितना डरती हैं! इसीलिए देखती हो अपने दूधमुँहे बच्चे को, किसी की बात न सुनकर, हाथ-बेहाथ कर दिया। कौन सी उमर बढ गयी थी? तेरह पूरे कर चौदहवाँ लगा था। उसके बापू ने चाहे जितना भी मना किया, नही मानी मैं तो। हमारी तो वही पूँजी है—इज्जत। हाँ, तुम बड़े लोगों की और-और बात है—"

रघुआ की माँ ने कहा, "तुम भले कह रही हो, पर मुझे तो सुनी बात पर विश्वास नही आता। लोग तो ताजा फूल पर भी कीड़ा डाल देते हैं—"

शिखरा की माँ ने कहा, "तुम क्यों नहीं कहोगी ?"

चम्पी की माँ भी हँस पड़ी।

रघुआ की माँ लाल पड़ गयी, बात पकड़कर कहा, "मेरे कहने न कहने पर इतना बावेला क्यों ? मैंने किसकी पत्तल में धूल डाली है ? किसके मुँह में आग लगायी है ?"

शिखरा की माँ ने कहा, "यह लो, गुस्सा क्यों हो रही हो ? तू भली है, तेरी आँखों में सारी दुनिया भली है। पर राज भर के लोग जो घुसर-फुसर कर रहे हैं।"

रघुआ की माँ ने कहा, "बता तो, जीजी, ऐसा भी कहीं होता है ? जान नहीं, पहचान नहीं, घाट में आते आदमी से भी कोई पहचान करेगा ? पहचान तो पहचान, फिर दुख-सुख की बातें, हँसी-ठट्ठा करेगा ? माँ-बाप को खबर नहीं, मोहल्ला-बस्ती को पता नहीं, पर घाट में—घाट में और क्या आदमी नहीं है ? फिर बेटी का यह गुण देख उसके गले में कटार न डाल कहीं कोई पराये आदमी को घर बुलाकर यह थोड़े ही करता है कि जो हुआ सो हुआ, तू अब ब्याह कर ! यदि आदमी दोषी होगा तो वह मुँह छुपाकर भागेगा या उलटा मेहमान बनकर उस घर में जायेगा ? जिसके जो मन में आये कहे—और हम क्यों विश्वास कर लें ? अपना क्या विवेक ही नहीं ?"

चम्पी की माँ ने कहा, "छोड़ो भी, सारा विवेक-विचार बस इसी के पास है। गाँव-भर के लोग क्या कहते हैं, जा सुन आ, तब आकर कहना।"

अमीन की स्त्री ने कहा, "इसका यह मतलब नहीं री, कि तू जाकर उनके ही घर में उगलने लगे, री रघुआ की माँ ! सबहु घर में आग लग जायेगी ! हमारा क्या लेना-देना किसी की बात से ?"

नदी के किनारे से गाँव तक आने के लिए ठीक जहाँ ढलान शुरू होती है, उसके नीचे ही शुरू होती है पगडण्डी, वहाँ से उतरते समय बायें हाथ उठान पर हरि साहू की दुकान और थोड़ा छोड़कर किणेई ओझा का लुहार-शाल है। घाट पर ही घना बरगद, उसके नीचे खूब चौड़ी जगह है। जमाने की, बहुत पुरानी दुकान है उसकी, तेईस बरस पूरे हो गये, उसे तीस वर्ष हुए थे, एक दिन पण्डित को कहकर मुहूर्त निकलवाया, कारीगर को जगह दिखा-परखाकर, चौधरी के हाथ दो बीघा जमीन गिरवी लिखकर, रुपये लिये और अपनी दुकान खड़ी की थी। हाथ में तासीर है। उसके सोलह प्राणी का कुटुम्ब, बेटा-बहू, पोते-पोती—सबों के खाने-पीने के बाद भी दो पैसे बचते हैं। दुकान का चेहरा भी बहुत बदला हुआ है। पहले थी एक छोटी गुफा, फिर छान-फूस का ही सही, एक खुला-सा घर बना। इसके बाद वह बना कच्ची ईंट का छप्पर-घर। एक कोठरी से बने दो कमरे, फिर तीन। वहीं अटक गये। उनमें से एक कमरा दुकान, दो कमरा गोदाम।

लोगों ने कितना समझाया कि छप्पर की क्या हालत हो गयी है, सफेद-सफेद लोहे का पत्तर बिछाकर छत कर दो तो काम निवटे। हरि साहू उस बात की उपयोगिता को कितना ही क्यों न समझे, पर करने को उसका मन कभी नही करता। कहता कि वैसा करने पर दिखावा-सा लगेगा। "भगवान् ने जो दो अंगुल जगह दी है, उससे घास-फूस भी तो मिल जाता है, काम चल जाता है। कभी अटकाव आयेगी तो देखा जायेगा।"

हरि साहू का पक्का विचार है कि दुकान के सामने बरगद पर देवी की प्रतिष्ठा न हो सके। बहुत बार चेष्टा हुई है—तने पर सिन्दूर पोतने की, माटी के बने हाथी-घोड़े आदि खिलौने लाकर बरगद के नीचे रखने की। कम से कम गाछ की डाल पर एक सफेद पताका ही फहरा दी जाये। पर हरि साहू खंखारकर पीछा करता है। कहता है, यह आदमी के रहने का थान है, इसे देवों का थान न बनाओ। आदमी को भी असुविधा, देवों को भी असुविधा।

उसका एक और पक्का मत है कि वह झगड़े-रगड़े में नही फँसेगा। उसका कहना है, "तरफदारी करना मुझे आता नही। बस, घर कैसे सही-सलामत चले, उतने के लिए ही बुद्धि पूरी नही पडती, दूसरे को देने के लिए कहाँ से लायें।"

गाँव के 'टाउटर' अगणि राय और गदेई लेंका ने नाना उपाय रचे कि किसी प्रकार उसे मुकदमे में खींच लें। कुछ न सही, किसी के बहकावे में आकर वह थोडा आगे ही बढ आये। पर हरि साहू ने उसमें भी पैर नही रखा। यहाँ तक कि गाँव की दलबन्दी में यदि कोई पूजा-ओझा के नाम पर चन्दे में कमी आ पडती, तो दूकानदार हरि साहू के नाम से वहाँ शून्य होता—केवल अष्ट प्रहरी नाम कीर्तन, बाललीला, भागवत-सप्ताह और झूलन को छोड़कर। इनमें वह खुलकर देता है, और किसी में नही। युद्ध के समय कण्ट्रोल आया, चीनी, मिट्टी का तेल आदि कितने ही कारोबार आये। उसके पीछे-पीछे आ पहुँचा काला बाजार, रातोंरात न सही, तो भी कुछेक महीनों में बडा आदमी बनने की बलवती आशा के सम्बन्ध में सज्जन बनकर, हितैषी बनकर कितने लोगों ने आकर रास्ता बताया किन्तु हरि साहू चौंका तक नहीं। कहा, "यह कण्टरोल जायेगा नहाने, यह युद्ध का पानी फट जायेगा, यह नया कारोबार धँस जायेगा। यह पुरानी दुकान भी टूट सकती है, तब दिन का दिन और रात की रात रह जायेगी—युग-युग के लिए। मुझे और किसी की आस नही।"

वह सबको धकियाकर रहना सीखता आया है। किसी के चबूतरे पर जाता नहीं, किसी को अपने चबूतरे पर बैठाकर आप्यायित करता नही, किसी दल या पण्डाल में कभी दिखाई नही पडता। सुबह सूरज जैसे ही दुकान के आगे किरण बिछाता है, वह भी वैसे ही जाकर बैठता है दुकान की गद्दी पर। चीकट लगी छोटी धोती बाँधता है और एक चीकट भरा अँगोछा कन्धे पर डाले रहता है, पसीना पोछने के लिए। सदा पान चबाता रहता है। दुकान बन्द कर लौटते समय किसी से ज्यादा बात-चीत करता नही, केवल कमर से घड़ी टटोलकर सारे बरामदे पर लीलावती के सूत्र, चाट इच्छावती

के सूत्र, अन्धे नायक के सूत्र आदि पुराने ढर्रे के हिसाब निकालता रहता है। कोई पूछे तो बताता नहीं, समझाता नहीं, खाली अंक लिखता रहता है, वही उसका खेल, उसकी खुशी है। रात होने पर कभी-कभी अरण्ड के तेल का दीया लगाकर वही सारी पोथी पढ़ता है।

बस एक बात पर वह बाहर के लोगों से बहस करता है, और वह है अखबारों से गढ़ी राजनीति। किन्तु उसमें भी वह अगणिराय, गदेई लेंका आदि के जाल की पकड़ में नहीं आता, क्योंकि उसकी राजनीति की चर्चा में अधिक भाग भारत के बाहर की बातें होती हैं। वह देश होता है जिसका भौगोलिक मानचित्र भी उसने कभी नहीं देखा। वह केवल इतना जानता है कि वह कोई स्वतन्त्र देश है। और वह चर्चा किया करता है। भारत का महत्त्व कितना है, कितना आदर है हमारे देश का, कितना काम करते थे ऋषि मुनी, कैसे देवताओं के अंश हैं हमारे इस देश के महात्मा गान्धी, गोपबन्धु वगैरह। ऐसी ही सारी बातें। इनमें भी कोई झगड़ा-फ़साद नहीं। थाने में रपट करने जैसी भी कोई बात नहीं। गाँव की बातें और लोग करते, हरि साहू पत्थर की तरह बैठे होते। ग्राहक आते तो सौदा-सुल्फ़ा दे देते। लोग जानते हैं, उससे कुछ मिलेगा नहीं—ऊँ या हूँ, सो चले जाते।

उस दिन, दिन ढलने के समय चेमेइं बेहरा के साथ बात आ पड़ी थी भारत के बाहर गोरों में वर्ण-भेद को लेकर। चेमेइं उसका हमउमर, कोई तिरपन या चौवन, दोनों चटशाला में साथ बैठते थे।

अखबार में उसी वर्ण-भेद का नमूना निकला है। दक्षिण अफ़्रीका। हरि साहू कह रहे थे, "अफ़रीका कहो चाहे अमरीका कहो, सब जगह एक बात है। ये गोरे साहब लोग काली छाया पड़ने पर ही कूदते हैं, यह तो मैंने जिस दिन अखबार पढ़ा तब से देखता आया हूँ। आज सुनो कि काले आदमी को पकड़कर आग में भून डाला, तो कल सुनोगे कि काले आदमी को अलग कर दिया, वहाँ लोग काले होकर जनमे कि उनके भाग फूटे। उसके बाल-बच्चे गोरों के साथ पढ़-लिख सकेंगे नहीं, मानो उनकी देह में कलौंस लग जायेगी। और वैसे ही लोगों को तुम बुद्धिया कहते हो ? यह तो अधरम है, इस अधरम में आदमी का नाश हो जाता है। पर उनके देस में भी हमारे देश की तरह भले लोग हैं, वे बराबर आपत्ति उठाते हैं, कालों का साथ देकर कोई-कोई तो कष्ट भी भोगते हैं।"

चेमेइं बेहरा ने सिर हिलाया। बूढ़े की दोनों चकचक करती लुरकी चमक रही थी। बोला, "पाप है यह !"

हरि साहू ने कहा, "और वहाँ के बिचौलिये टाउटरों की बात तो देखो; साधारण आदमी तो सब जगह भला ही होता है, उनको बिचौलिये-टाउटर उकसा रहे हैं कि इसकी ओर होकर उसे मारो, उसकी तरफ होकर इसे भस्म करो। युद्ध करो युद्ध, नहीं तो फिर आदमी ही क्या ? वे सब असली बिच्छू हैं ! इस दुनिया में घर

फोड़नेवालों का वंश बढ़ता है, अरे बाबू, आप भला तो जग भला, सो तो नहीं, वे तो खाली ओर-छोर ढूँढ़ते है कि कैसे झगड़ा लगे ! मार-काट, लहू-लुहान होकर आदमी मरे। बुद्धि तो इतनी ही है, और कहते हैं कि हमारी गोरी चमड़ी है, हम बड़े है, हमारा यह है वह है, बम है, बुद्धि है। भले आदमियों की बुद्धि को भटकाते हैं। जब देखो तब झगड़ा, नारद वहीं जनमे थे या क्या ?"

चेमेई ने सिर हिला-हिलाकर कहा, "हाँ, वहीं पर।"

लुहार किणेई ओझा तभी एक आने का तम्बाकू-पत्तर लेने आ पहुँचा। कहा, "तुम खाली लीलावती घोटते रहो, बिदेस की बात सोचते रहो, इधर स्वदेश में, हमारे गाँव में, पड़ोस में क्या कुछ हो गया, खयाल तो करो जरा।"

हरि साहू ने कहा, "इधर की बातों का खयाल रखने के लिए तुम लोग जो हो ! मुझमें तो इतनी अकल भी नहीं, उधर निगाह भी नहीं।"

बूढ़े किणेई ओझा की आँख पर भौंहें जूट की तरह हो आयीं, अपने पैने चेहरे को चेमेई बेहरा की ओर मोड़कर उसने कहा, "और तुम भी सुन लो। यह सच बात है कि यदि बड़ा आदमी कर्म करे तो आदमी को मुँह में मेंढक डालकर बैठना नहीं चाहिए। दो शब्द पूछने ही पड़ते हैं। तुम्हारा क्या विचार है ?"

"पखाल।" कहकर चेमेई ने सौदे की पोटली उठायी और चल दिया।

किणेई ओझा ने कहा,"वही सिन्धु चौधरी। हम जानते हैं बाबू का घर। हाथी मरे भी तो लाख का होता है। पर इधर बाबू की पीठ पर उठा है गूमटा।"

हरिसाहू ने कहा, "तुम तो वहाँ हथियार पजाते हो, गूमटा काट दो। ये लो अपना तम्बाखू का पत्ता। हाँ,...बोल तो कुली मलिक, तुम्हें क्या लेना है ?"

"बाबा को बुखार है, सागू दो-चार पैसे का।" कुली मलिक ने कहा। बच्चों का-सा चेहरा, बलिष्ठ गठन, कद्दावर।

"अरे, कैसा बुखार है रे ? कँपकँपी होती है ?"

"हाँ, कँपकँपीवाला बुखार है। दाबकर बैठने पर भी काँपता है। उलटी होती है। सिर में दरद की तो पूछो मत, बस।"

"ले यह कोइलाइन की गोली," उसका कुण्ठित भाव देखकर हरि साहू ने कहा, "ले जा, पैसे पीछे देना, बापू को अच्छा हो जाने दे। जुड़ी ताप को कुइलाइन। तुझसे किसी का पैसा कभी डूबा है कि डूबेगा !"

किणेई ओझा ने कहा, "ये तम्बाखू के पैसे लिख लो, पीछे दे दूँगा।"

हरि साहू ने कहा, "ऐसे 'लिख लो लिख लो' अगर सभी कहने लगें तो कैसे चलेगा ? महाजन को क्या दूँगा ?"

गाँव का युवक परिया गुरुजी आ पहुँचा। वह पढ़ाता नहीं है। बापकी खेती-बाड़ी में भी नियमित सहायता नहीं करता। पर गाता खूब है, किणेई ओझा की शाला में बैठकर कभी कोई गीत सुना देता है। घर पर कभी कोई काम करे या नहीं, लेकिन

माण्डिया खीर, मुल्यी का कितना जोर है।" कहकर लड़ैत मुर्गे की तरह प्रधान मल्ल उसे बाँहों में भर खींच ले ही तो गया, और कहने लगा, "देखो भाइयो, देह दुगना होने से क्या आता-जाता है ? वहाँ ताकत तो होनी नहीं, दाँव ताकत से भी बढ़कर होता है। देखना, यह कैसे केले के गाछ की तरह धड़ाम से गिरता है।"

सण्डू ने बहुत अनुनय-विनय की, छटपटाहट दिखायी पर, मल्ल ने उसके कन्धे पर, बाँहों पर, अपनी हथेली थपथपाकर कहा, "अरे घबराओ नहीं, बच्चा, तुझे कोई खा थोड़े ही जायेगा। खाली लोगों को बताने के लिए तुम पर दाँव आज़मा लूँ। तुम्हारा कुछ होगा नहीं। पकड़ो मुझे... हाँ, मुझे फेंको...."

"आपने मेरा क्या बिगाड़ा है, जो फेंकूँ आपको ?" निरीह सण्डू ने कहा।

"अरे, यह खेल है, खुद उस्ताद बुला रहे हैं तुझे, तेरा बड़ा भाग्य है।" किसी ने कहा, "हाँ भिड़ जा, भिड़ जा, डर मत यार !"

सण्डू ने कितनी ही आपत्ति की, पर मल्ल ने उसे भींच लिया। दोनों पैरों के बीच पैर डालकर एक मोड़ लगाया, और चिल्लाया, "ये देखो हाथी गिरता है, हाथी गिरता है...."

सण्डू को ज़रा दर्द-सा हुआ। पलक झपकते ही उसके देह-यन्त्र में हलचल हुई, और फिर एक ज़ोरदार 'हूँ'।

और उस मुर्गे मल्ल को अधर में यों उठा लिया जैसे बिल्ली चूहे को दबोच लेती है। दो चक्कर काटकर धड़ाम से नीचे पटक दिया। इसके बाद अपने किये का परिणाम समझकर झरझर रो उठा, "ओह, यह क्या हुआ" कहकर उसे फिर से नीचे से समेटकर कोख में लिया और उसका चेहरा देखा। कहा, "बाबू, मुझ निर्दोषी को आपने ज़बरदस्ती दोषी बना दिया।"

इसी समय ऊपर चुपचाप जनता के बीच से कैमरे की रोशनी झलकी। हनुमान् के पहाड़ उठाने की तरह उसके पूरा बड़ा चित्र अख़बार के पहले पन्ने पर ही लोगों ने देखा था, अँगरेज़ी उड़िया मासिक पत्रों में भी वह छपा, शहर की फोटो की दुकानों में लोगों ने कई दिनों तक उसकी भी फोटो टँगी देखी।

किन्तु इतनी बड़ी कीर्ति करके भी उसने नाम नहीं कमाया। उसे खुशी तब हुई जब मल्ल ने आँख खोलकर उसे देखा। रक्त में सराबोर उसका मुँह कुछ विकृत-सा हो रहा था।

जैसे कोई अपनी माँ से लिपटता है, उस तरह सण्डू से लिपटकर हँसते हुए उसने कहा, "बच्चा, समझ गया तुझे, वास्तव में पुरुष हो तुम ! मेरे मित्र बनोगे ?"

धीरे से उसे ज़मीन पर डाल सण्डू ने अपने काम में मन लगाया। चीज़ें लादनी शुरू कर दीं। उन्होंने उसका बहुत पीछा किया। पैसों की, मान की कई बातें कहीं, कुछ लोगों ने देश की दुहाई भी दी, कहा, "तुम्हारा इतना बल बेकार जा रहा है। हमारे अखाड़े में शामिल हो जाओ। कुछ दाँव-पेंच सीखकर निकल पड़ते; और देश-भर के पहल-

थानों की चोटी काट लाते। तुम पर बाजी लगाकर तो लाख-लाख रुपये मिल जाते, और क्या चाहिए तुम्हें ! हमारे उड़ीसा का नाम भी चारो ओर होता। तुम्हारा क्या बिगड़ता है ?"

"नही, नही, भाई, यह देह दिखा-दिखाकर, घूम-घूमकर पैसे कमाने के लायक नही है। छिः, मैं कोई भेड़ या बकरा या मुर्गा हूँ जो घूम-घूमकर सीग लड़ाऊँगा। अपना काम छोड़कर इस व्यापार में दीवानों-जैसा मैं क्यो जाऊँगा। ऐसा नाम, ऐसे पैसे मेरे किस काम के ?"

यह था उसकी बातों का मतलब। किन्तु इस प्रकार एकबारगी स्पष्ट वह नही कह पाया था। रुक-रुककर कहता जाता एक-एक बात, कभी उसकी दृष्टि में ऐसा दिखता मानो पापकर्म के लिए भय छा गया हो, कभी घृणा। उसके स्वर में टस से मस होने का भाव भरा था।

उसके जीवन का यह उपाख्यान इतने में ही पूरा हो गया था।

यह वही सण्टू साहू ! आम चुनने या मछली मारने, रज पर्व की डू-डू या होली की हुड़दंग किसी भी जोर-आजमाइश के अवसर के बीच में वह नही जाता, किसी भी तरह नही। किसी का शत्रु नही—अपने बाप की तरह।

"देखते हो, उन्हें, बाप ने कहा, "कैसे सत्यानाशी आदमी है, ये लोग !"

"रहने दो," सण्टू ने कहा, "अपना क्या जाता है ?"

"मैं देखता हूँ, अब इस गाँव की श्री ही समाप्त हो गयी। ये सब अमंगल के लच्छन है। लोगों की अक्ल तो देखो ! खैर जो हो, उन परमानन्द माधव की इच्छा !" सण्टू ने कुछ नही कहा !

बात बढ़कर फैल गयी गाँव-भर में। सभा-समिति कुछ हुई नहीं, किसी बड़े दल में भी कोई चर्चा नही हुई। दो जनों में चर्चा छिड़ी, एक ने दूसरे पर सन्देह किया कि यह किस की ओर का है ? यह कितना जानता है ? मुसीबत तो खड़ी नहीं कर देगा ! अतः बात को घुमा-फिराकर आधी-अधूरी कहा और फिर श्रोता पर भरोसा हुआ तो आमने-सामने पूरी बात।

छोटे-छोटे दलों में बैठकर औरतें आपस में बोल-बतिया रही हैं, किसी के बरामदे में, तो कोई भीत के पीछे। कोई बाड़ी में तो कोई कुएँ के पास। कोई झुरमुटों के पिछवाड़े आमने-सामने निवटने बैठते समय। इस तरह सब ओर एक कहानी तैयार हो गयी। मानव चरित्र में हैं साधारण अविश्वास, सन्देह, कुसंस्कार, अन्धविश्वास, अपने मन में रात ताल गहरे कीच में दबी लालसा का दुःस्वप्न। किस गाँव से किस बहू के साथ आयी कितनी पुरानी कलंक की कहानी, कितनी नानी की कहानियाँ। पाना-

नुसार इन सब में से कुछ-कुछ मिलाकर नाना स्थान पर नाना रूप में कुत्सित अपवाद गढ़ा जाने लगा, और पंख लगकर इधर-उधर उड़ने लगा।

केका की स्त्री ने भी यही कहानी कही थी। उसकी बात—नायिका का नाम उकी, नायक का नाम बताया नहीं,—वह साली 'मेहमान' था। कुआर पूनम को पकड़ में आये थे दोनों। बाड़ी की ओर पोखर के किनारे बाँस के झुरमुटे के उस ओर चाँद की ओर मुँह किये बातें कर रहे थे। बस्ती की कोई लुगाई आयी थी। थोड़ा हटकर घाट पर बरतन माँजने बैठ गयी। पानी में कलकल हुआ, फिर भी उन्हें होश नहीं।

"वह चीज ही ऐसी है! कान भी बहरे हो जाते हैं।" गहरी साँस छोड़कर केला की स्त्री कहती गयी, "छाती धक-धक कर रही थी कान साँय-साँय, बस खाली भाँ-भाँ! मानो देह में कोई गरम तूफान बह रहा है, उधर बाहर—मानो हाथ-पैर जड़, अचल, सरकने को भी मन नहीं करेगा—

बायें-दायें सिर हिला-हिलाकर आँख चटका-मटकाकर गहरी साँस लेते हुए, वह कह रही थी, मानो अपने आप उसने वह कहानी भोगी है, और सुननेवाली एक-दूसरी का मुँह देख दबी हँसी हँस रही थी।

"पत्थर पर सटे बैठकर जब वे घुसर-फुसर कर रहे थे, और होठों में पान दबाये एक-दूसरे का देन-लेन चल रहा था, मेहमान कह रहा था, हम ब्याह करेंगे, नहीं तो जीवन त्याग दूँगा। उकी कह रही थी कि मेरा भी यही हाल है। पर यह विधाता क्या सचमुच करने देगा?—ठीक तभी घाट पर गयी उस लुगाई ने आवाज लगायी, 'यह बाड़ी की ओर कौन है? माँ, देखो तो सही!' वह शहरी मेहमान—वही जो बड़ा कवी बड़ा पढ़ैमरी,—उसका धीरज पानी हो गया, कि बस एकदम दौड़ा। और उकी? वह बेचारी, खड़ी-खड़ी, वहीं धम से गिर पड़ी। कि फिर—"

उसके बाद क्या हुआ सो रहा अगली बार के लिए। साइकिल चला-चलाकर डाकिया आकर बाहर रुका, उसके पीछे-पीछे बस्ती की आठ-दस औरतें, दस-पन्द्रह बच्चे। सुभद्रापुर से आया है, आकर पहुँचते-पहुँचते दिन ढलने लगा। पहले जो पुराना आदमी आता था वैसा नहीं है यह, वह तो चार दिन के भूखे की तरह मरीज-सा नजर आता था। चौड़े कन्धे और छाती पर देह पर मांस और चमड़ा मानो ढीला हो झूल रहा है, सारे चेहरे पर बील-सी दाढ़ी, सिर पर बालों का झोंटा, मानो टोकरी उलटी है। उसकी मैली कमीज और ढीला-ढाला पैजामा! और उसके गोल चेहरे की भंगिमा भी विचित्र। मुँह के कोने से पान की पीक, मानो ढीला होने के कारण बह रही हो, उस तरह से धार छूट रही है। मुँह पर हँसी। दोनों ओर हाथ बढ़ाकर जैसे वह पान एक के बाद एक लेकर मुँह में भरता जाता है। वैसे ही घूमता हुआ बच्चों के सिर पर हाथ फेर देता है, टामरी-सा पेट दिखने पर अँगुली गोद देता है, हँसता और हँसाता है।

नहीं, नहीं, यह सिर्फ दूसरा ही नहीं है दूसरे ढंग का भी है।

केला की स्त्री ने देखते-देखते निगाह की उस दूसरे का वर्ण या भूने हुए मूँग की

तरह। सारे माथे पर रेखाएँ उभर आयी थी। उसके गाल एक ओर ढले रहते, वह बड़ी-बड़ी आँखें फैलाये मानो सबकी सुख-दुख की बातें आँखों के रास्ते पी जाता है। आहिस्ते-आहिस्ते सिर हिलाकर, सुनी बातों की पड़ताल करते समय उसके चेहरे पर सहानुभूति के तरल भाव फैले रहते, वह खाली चिट्ठी-पत्री मनीआर्डर लेकर ही नही आता, वह लाता सहानुभूति, आशा। परत पर परत से बना चमड़े का काला थैला कन्धे पर झुलाता आता। उसमें हँसी-रुलाई की कितनी कहानियाँ होती, उससे बढ़कर उसके परिचित चेहरे पर सर्व सहा अभय मुद्रा और आशा-विश्वास होते।

"क्या लिखा है? बुखार हुआ है, यही तो? वह कुछ नही है, अबतक बुखार छूट गया होगा....फिर चिट्ठी आती ही होगी....

"रुपये नही भेजे है? भेजेगा, भेजेगा, चिन्ता मत करो। आजकल खर्च कैसा बढ़ गया है, देखते तो हो। किसके पास पैसे बचते है इस जमाने में?

"चिट्ठी लिख नही रहा है, उसके लिए चिन्ता कर रहे हो? चिन्ता क्यो करते हो? चिट्ठी अपने आप आयेगी। काम की पड़ी है, काम से आकर घर मे आते तक तो समझ लो थका-हारा, आदमी चैन से बैठे तब तो दो हरूफ लिखे!"

"क्या हुआ? ओह, मरने की चिट्ठी आयी है? हाय, हाय! कितने दुख की बात है! मेरा ही भाग आज बुरा है। मैं इतनी बुरी खबर लेकर आया! पर बेटी, भगवान् के किये में किसका क्या बस है। दुख-सुख, सबके दाता वे ही है!"

कोई लड़का उसकी साइकिल की घण्टी टिं टिं टिं कर रहा है, पगला। छरहरा छनिया वाला छैल इकहरा आदमी। तीस का भी नही होगा। सिर में सीधी माँग। दोनों ओर काँटों में लगने की तरह चमक रहे है सिर के बाल। ठीक नाक के नीचे ढंग से कटी मूँछें। हरी पोशाक, देह पर फबती-सी। जरा भी छोटी-बड़ी नही। पतला तीखा चेहरा, मानो पत्थर तराशा गया हो। मन के भाव, पता नहीं, कितने तल में छुपे है। वह काम का आदमी, डाकिया!

"सबको बुला लो, आओ बेगा-बेगी ले जाओ, भाई! मुझे बहुत काम है। यहाँ सब दे-दिलाकर फिर अगले गाँव भी जाना है।....हाँ, जेमी बेवा, जेमी बेवा कोई है? ओ बचुआ, देख मेरी साइकिल से न लग। हाँ तो जेमी बेवा, लो अपनी चिट्ठी। सुदर्शन दास। वामन महान्ती, मनीआडर है पच्चीस का, गाँव के चौकिया को बुला ला, चिन्हाट देगा।"

"क्या, चौकिया चिन्हाट की दरकार है। अरे हम भले आदमी हैं। चिन्हाट देने से क्या नही चलेगा?" सुदर्शन दास ने पीठ की ओर अपनी लम्बी गरदन मोड़कर गले में एक बड़ा शंख-सा बनाकर पूछा। वे आगे तहसील पंचायत में काम करते थे। बोले, "तुमसे पहले जो आता था, वह तो कभी चौकिया को नहीं मांगता था—"

"इसीलिए शायद वे ससपेंड हुए है। मनीआडर का गोलमाल। किसी ने किसी भले आदमी को दिखाकर किसी दूसरे के रुपये मार लिये। पता नही क्या हुआ कि

फँस गये। आजकल इन भले आदमियों का विश्वास नहीं !"

"क्या बोले, क्या कहा ? बोलना तो एक बार फिर से !"

"अरे, मेरे गेण्डुना ! हे रे, काका के घर तुझे टाइफिड बुखार हुआ....अब मैं क्या करूँ ? मेरी तो अकल काम नहीं कर रही।" सिर पर हाथ रखे व्याकुल हो बिसूर रही है जेमी बुढ़िया। शशी उसको चिट्ठी पढ़ दे रहा था। शशी, सुदर्शन दास का लड़का माइनर तक पढ़ा, फिर बार-बार फेल हो पढ़ाई छोड़कर घर बैठा है। पन्द्रह वर्ष का है। डाकिया चिन्ता कर रहा है, "अच्छी मुसीबत है! आदमी के कान के पास ऐसे चीखने से कोई कैसे काम करेगा!"

"अरे चुप भी रह !" सुदर्शन दास ने लताड़ा, "आदमी का भला-बुरा देखता नहीं। उसके बेटे को टाइफाइड हुआ है, चिट्ठी आयी है, वह रोयेगी नहीं तो क्या हँसेगी ? तुम अपना काम करो न ?"

"नहीं, मेरा काम अटक रहा है। तभी तो कहता हूँ। बस कर बुढ़िया, दवा खाने पर ज्वर छूट जायेगा।"

"अरे, ऐ ! किसे बुढ़िया-बुढ़िया कह रहा है, ये गेण्डु की माँ है ?" एक बुढ़िया ने आपत्ति की, "यह भी कोई बात है, हमारे आगे ब्याह कर आयी। कितने दिन की बात है भला, गिरस्त चला गया। दुखियारी है तभी तो इतने दिन में सूख गयी, नहीं तो अभी से बूढ़ी हो जाती ?"

"हाँ, सदेई मोछेइत, उनका मनीआडर आया है बीस रुपये का, भई जरा बुला देना, तो, उनका घर किधर है ?"

बूढ़े बापू पटनायक ने बात पकड़ी। हाड़-चाम सूख गया है। एकदम डोकरा-बूढ़ा। किन्तु है खूब पक्के हाड़ोंवाला बूढ़ा। सब मर गये, यह बूढ़ा अकेला बचा है। अपने हाथों हाँड़ी चढ़ाते हैं। बोले, "तुम बाबू भले आदमी हो, दायित्वपूर्ण करमचारी बने हो, क्यों ? वह जो पाण (एक छोटी जाति) है, यहाँ कैसे आयेगा ? मान गया, मानता गयी। जमाना ही दूसरा हो गया। तुम ऐसा क्यों नहीं करोगे बाबू ? देखते नहीं सदा पाण के नाम से बीस-बीस का मनीआडर आता है, और इस बसती में किसी का कुछ नहीं रहा।"

"सहा नहीं जाता। हूँ !" छुरी भोंकने की तरह युवक डाकिया ने दिया एक खेंपा, "आदमी बिदेस जायेगा, मेहनत कर पैसा भेजेगा। गाँव के लोगों का देख-देखकर खून सूखेगा, यह जमाना ही ऐसा आ गया। देना, देना मौसी। अपना रोना बन्द करो !"

सदा के बेटे हुदा ने भेजे होंगे ! लोगों में बात चली। हुदा ने अपने मामा के साथ जाकर जहाज में चाकरी की। कैसी लड़ाकू जवान की-सी उसकी छाती हो गयी। यही कोई साल-भर पहले जाड़े में आया था। कोट-पैण्ट, जूता-टोपी, गाँव के बीच चलता था मच-मच जूते चमकाता हुआ। कहता था, बिलायत से घूम आया है, मेहतर है जहाज़ में। महीने में बीस-तीस भेजता है, सदा ने रुपये जोड़कर ज़मीन खरीदी है।

स्वयं भी खेती करता हूँ।

बामू पटनायक दबे नही। बोले, "खूब हरिजन की तरफदारी कर रहे हो? आप खुद भी वही हो क्या बाबू? घर कहाँ है?"

साफ़ पैने-पैने दांत दिखाते हुए हँसकर डाकिये ने कहा, "हमें भी हरिजन कहो, आपत्ति नही। पर बाप-दादे के जमाने से गले में पड़ी है जेवडी। इसी पोशाक में हूं। यह किसी का कुछ बिगाडती नही। जात के महापात्र, गोत्र वच्छस, घर चन्दनपुर शासन, पुरी की ओर है।"

"वच्छस?" बामू ने मज़ाक़ के लहजे में पूछा, "वच्छस यह क्या हरिजनों का गोत्र हुआ रे बाबा? आजकल बस, जात-आत की बातें सुनो—"

"वह एक ऐसा ही गोत्र है, पर पुरी के ठाकुर राजा उस गोत्र के लोगों के पैरों पड़ते हैं। तो, यों समझो कि वे राजा भी तो चाण्डाल का काम ही करते हैं। जैसा राजा, वैसा ही पुरोहित।"

"अच्छा, अच्छा, वच्छस गोत्रीय सामन्त ब्राह्मण। महाराज के राजपुरोहित—ऐसा बोलो न! बात को रहस्य क्यों बनाते हो? तभी तो इतना तेज है।"

डाकिया हँस पड़ा, "तेज ही होता तो यह चाकरी क्यों करता? पेज[1] की तो कमी हो गयी, उधर पान का बगीचा बिगड़ गया, फिर तेज आयेगा कहाँ से? छोड़ो, देर हो गयी, गोच्छेइत के इधर आने से कुछ अपवित्र हो जायेगा तो मुझे जरा राह दिखा दो। मैं उसके घर तक जा आऊँ। ठीक है न?"

उधर सुदर्शन दास बेटे के हाथ से चिट्ठी लेकर पढ़ रहे हैं, जेमी बुढ़िया की आँख से आँसू झर रहे हैं, बुढ़िया सुबक रही है। "अरे, शशी," दासजी ने आवाज ऊँची कर कहा, "तूने क्या पढ़ा, क्या कहा? 'गेण्डू को टाइपिस्ट का काम मिला है, क्या करे, गेण्डू को तो चाकरी मिल गयी। ओ गेण्डू की माँ, अरी सुन, तेरा बेटा नौकरी पा गया, और तूने क्या बाँचा रे शशी! भला तुझे क्या मुफ्त में पढ़ाया था रे! चण्डाल, खाक पढाई की, बाँचता है टाइफ़ाइड!'—'

शशी दबनेवाला नही। चिट्ठी खींचकर फिर ज़ोर से पढ़ा, "गेण्डू को टाइफ़ड बेमारी हुई है—यह देखो ना—।"

"हूँ, बेहया कहीं का, बेहयों को भी कहीं लाज-सरम होती है!" सुदर्शन दास ने कहा, "टाइपिस्ट को पढ़ता है टाइफड। काम मिला है, पढ़ता है बीमार पड़ा है। ऐसे ही आलू को भालू पढ़कर परीक्षा में लिख आता है, एक-एक कर तीन बार फेल। छोटी-सी माइनर भी नहीं हो सका तुझसे। क्या कहता है?"

जेमी बुढ़िया के होंठ थरथराकर भगवान् का नाम ले रहे थे, उसकी रुलाई थम गयी थी, शशी लजा गया है।

---

१. पेज—माँड़।

ठकठक होकर कमर टेढ़ी हुई जा रही है, छाती पर पंजर के हाड़ गिन लो चाहे, ऐसे मुरदार कहीं दावें साधेंगे ? गया, वह जमाना और नहीं लौटेगा। अरे याद कर, गाँव के बीच पड़ा वह सतमना पत्थर का पिण्ड है। पड़ा है तो पड़ा है। कौन अब उसे उठा सकता है ? मेरी तो नित्य की कसरत चलती थी उसके साथ। नीचे पैर पसारकर घुटने जोड़कर बैठता, फिर सामने झुककर कोहनी से हथेली तक उस पथरीली गेंद को दोनों ओर से उठा लेता, छाती पर रखता, सीधा होता, खड़ा होता, ऊपर उठाता, कभी पीठ पर घुमाता, कभी जाँघ पर तो कभी बाँह पर। मुझे तो लगता फूल की तरह। सच मानो वह कोई पत्थर नहीं, जैसे गोबरा की माँ हो—"

गोबरा उसका बड़ा लड़का है। हँस पड़े सब।

आँख तरेरकर सौरी पधान ने कहा, "हें-हें कर हँस दिये ! गोबरा की माँ को देखा भी है तुमने जो हँस रहे हो ? कितनी भारी औरत थी, जानते हो ? अब कहाँ वैसी ? आज की बहू-भावजें हैं, कोई उसके काम का पासंग-भर भी काम करेगी, हूँ ! बस हँस लिये ! उस ज़माने की साधना—तप ! तब था मल-खम्भ, बनेटी घुमाना, वो फरसे का खेल, कहाँ है यह सब आज ? तुम केंचुए हमारे आगे ताव दिखाते हो !"

किणेई ओझा, बिका मुदुली साक्षी हैं, वे जानते हैं कि सौरी पधान कितना बड़ा आदमी हुआ था। उन्होंने कुछ कहा नहीं। परिया ने कहा, "हाँ-हाँ, बहुत सुना है, इतने बड़े पहलवान थे कि हाण्डी-भर भात खाते थे। पत्थर सरीखा पोडपिठा खाते थे। सब कुछ तो करते थे, फिर जमींदार के प्यादे के सामने बकरी क्यों बन जाते थे—डरकर अपना राज, अपनी जमींदारी, अपनी जमीन-जायदाद सब परायों को खिला-पिलाकर तुलसी माला फेरते थे, सो क्यों ? तुम तो सात मन का पत्थर उठाते थे न, पर तुम्हें साहब लोग बकरी बनाये रखते थे, माना कि हम बैंगन तोड़ने को लाठी बढ़ाते हैं, पर हमारे ज़माने के ही लोगों ने उन साहबों को दरिया पार कराकर देश को स्वाधीन किया।

सौरी पधान ने उत्तर देने के लिए मुँह खोला, किन्तु, इस नासपीटी खाँसी ने ऐसा दबोचा कि दम बेदम कर दिया। आखिर वह बोला, "और किसी दिन जवाब दूँगा।"

चला गया उस ज़माने की रामनवमी का रावणेश्वर, किन्तु अब वह रावणेश्वर नहीं रहा। किणेई ओझा और बिका मुदुली दोनों ने परिया को गाली दी। किणेई ओझा ने तो कहा, "तू कल का छोकरा है परिया ! तू इतना बड़ा आदमी हो गया जो गाँव के बड़े बूढ़े बुजुर्गों से भी ठट्ठा करता है।"

अर्पातिया ने कहा, "बूढ़े ने वैसे ही ताव देकर बात कही, तभी तो, नहीं तो कौन कहने जा रहा था ? छोड़ो। अब उस बारे में क्या करें—बताओ। पहले इन तिन्तु चौधरी को अलग किया जाये पाँत से।"

बिका मुदुली ने कहा, "करेगा कौन ? वही तो ठहरा ठिकानेवालों का घराना। ये हमारे आदमी भी तो पहले वहीं जाकर उनके पैरों पर लोटें-पोटेंगे।"

किणेई ओझा का कहना था, "पहले उनकी वह भागवत तो उठ जाये।

जिसका अपने घर पर जोर नहीं, वह फिर क्या बच्चों को सँभालेगा, उसमे क्या कोई बुद्धि या अकल सीखेगा?" बिका मुदुली ने हामी भरी, "यही तो हुई उचित बात!"

परिया ने कहा, "क्या कहते हो! हूँ, चटशाला उठाना भी कोई काम है? एक दियासलाई की तीली उठाने-भर भी नही।"

किणेई ओझा ने टोका, "पगले, इसी का नाम तो है बचकानी बातें करना। तुम्हारी बुद्धि को असली आदमी की खाद चाहिए।"

परिया ने बात टालकर कहा, "वैसे ही कह रहा था। और—"

अर्पतिया ने कहा, "छोड़ो वह बात। वैसे नही। गाँव के पाँच भाई जब कहेंगे कि इनकी चटशाला में अपने बच्चे को नही पढ़ायेंगे तो क्या ये उन्हें हाण्डी में भरकर थाने ले जायेंगे?"

किणेई ओझा और बिका मुदुली दोनों उठ खड़े हुए। "हाँ-हाँ, यही ठीक रहेगा।"

किणेई ओझा दबी हँसी हँसकर परिया का हाथ खींच, चल पड़ा। कहता हुआ, "तू बड़ा मुँह-फट है। किसी काम का नही। आ चला आ, मागणिआ को खोज लें, उसके बिना कोई काम होगा नहीं।"

बिका मुदुली ने किणेई ओझा से कहा, "अबकी देखना।"

किणेई ओझा ने गाँजे की चिलम निकाली। 'बम भोले' कह अपना दम खींचकर बिका मुदुली की ओर बढ़ा दिया और बोला, "ये सारे घर यों ही टूटते है, ऐसे ही एक फूँक में जाते है। वे हमारा रकत चूसते थे, हम उनका नाम भी सोख लेंगे। डरेंगे किससे, भगवान् है!"

रात में छवि की माँ सदा की तरह बेटी को बगल में लिटाये सोयी थी। नींद जल्दी आ नही रही थी।

मन ही मन कितने देवी-देवताओं की मनौती कर रही थी। दिख जाता था वटेश्वर का पुराना ईंटवाला शिवाला, वही जहाँ गर्भगृह से चमगादड़ झुण्ड के झुण्ड चीं-चीं करते उड़ जाते हैं। चमगादड़ों की लेंड़ी और गर्भगृह की अँधियारी हवा। एक-एक सीढ़ी पार कर उतरते हैं नीचे। वहाँ कितने नीचे जाकर पुराना शिवलिंग, उसपर अष्ट धातु का नाग फन फैलाये है। एक साथ पड़ा है हरे-हरे बेलपत्रों का ढेर, सफेद-सफ़ेद गयदा, धतूरे के फूल, सफेद आक की डोडियाँ, गुच्छा-गुच्छा तुलसी पत्र और तुलसी के फूल, मरुआ, चमचमाती स्त्रनी और दूध-पानी, मन ही मन वहाँ घी का दीया जलाती और वह झुक जाती चिकने लाल पत्थर के नान्दिया के पैरों में। टं-टं

कर गर्भगृह को कँपाते हुए बजता घण्टा, दीये की लौ मानो चमक पड़ती।

फिर लगता, मानो उनसे उनकी बेटी को कोई छीन लेने आया है, सण्डासी की तरह लिपटती जा रही थीं दोनों बाहुएँ। एक छोड़ दूसरी है नहीं उनके पास, उतने में ही उनका सब कुछ है। आधी रात गये नींद के झोंके में ही आँसू बह रहे थे, तकिया भीग चुका था, साँस खर-खर चल रही थी।

छवि सोयी थी। वह बार-बार करवट बदल रही थी, बार-बार उसकी नींद टूट जाती।

तब वह टिमटिमाकर चारों ओर आँख घुमाती। लगता, मच्छर-खटमल काट रहे हैं, तिलचट्टे सूँ-सों करते भागे जा रहे हैं, परिचित घेरे में अनजान आतंक से देह काँप उठती। वह मुँह ढाँप फिर सो पड़ती।

पैर की चोट पर वही पट्टी बँधी है, वही, जो किसी की पहनी हुई धोती से चीरकर निकाली गयी थी। बार-बार मन उधर ही फिसल जाता, चेहरे के सामने उसी आदमी की स्मृति आकर खड़ी हो जाती। छवि डरते-डरते ऊपर की भित्ति पर उसका मुँह-ओर देखती, गूँ-गों! अपनी ही साँस में तूफान-सा खड़ा होकर स्नायुओं में ज्वार की लहरें फैल जातीं। तभी याद आता, यही माँ है, उसकी बगल में सोयी हुई। वह सहज होने की चेष्टा करती।

दूसरे कमरे में भिन्नु चौधरी। खाट के नीचे थोड़ी-सी अरवी, और कुछ आलू पड़े हैं। एक धान का कोठला, बाँस की खपच्चियों से बने टोकरे में धान है। छींके पर हाँड़ियाँ झूल रही हैं, छत से। खाट पर टूटी चटाई पर गुदड़ी बिछी है। उसपर पड़े हैं वे। जिस अतीत में एक पलंग तैयार किया गया था। तब वे हर महीने नगद रुपये पाते थे। हवेली के घर इतने ढहे न थे। शौक था, मलमली धोती बाँधते थे, चादर के साथ सफ़ेद फरफराता लम्बा कुरता पहनते थे। पटली टाँगनेवाले लोग थे। बिछावन सजा देने, या बाहर निकलते समय कन्धे पर गमछा डाले हाथ में बड़ा पान का डब्बा लिये चलनेवालों की कमी न थी। लोग थे सब धोया-उजला, साफ़-सुथरा करके रखने के लिए। धन था, यश था, क्षमता थी। लोग यों चर्चा करते—"बड़े महाराज ऐसे कह रहे थे ." 'बड़े महाराज का तो ऐसा विचार . "

और रूप था देह में बल और यौवन। गाँव के चित्रकार ने उनकी छवि आँकी थी—बिलकुल साधारण वेश में। खाली देह, कन्धे पर एक गमछा, हाथ में नागेश्वर की डाली, जिसमें दो फूल और चार पत्ते थे, होंठों पर भोलापन, आँखों की महिमा में थोड़ी-थोड़ी कौतुक-सी भावना। उस चित्र को दीमक खा गया। न चित्र रहा, न चित्रकार ही। उस ज़माने की पलंग अब भी है। कहीं साबुत तो कहीं छेद। जगह-जगह से दर्द निकल आती है।

छवि अबकी ब्याही जायेगी। बहुत दिनों से यह धारणा उनके मन में आ गयी है।

छवि की माँ जब उसके शादी-ब्याह की चर्चा छेड़ती, रात में खाट पर लेटे-लेटे, तो उसके बचपन की बातें याद आ जाती। लगता इन कुछ ही बरसों में कितनी ओर से वह बदल गयी है। पहले चुहिया-जैसी इत्ती-सी तो थी। यही बिछौना उसके मूत में भरा रहता। कैसे धीरे-धीरे बडों की तरह बोलना सीख लिया। कितना हँसाया करती थी।

दिन सरकता आ रहा है। छवि चली जायेगी। छवि की माँ की बातें उनके मन में गूँज रही थी और लगता था जैसे आगामी घटना की गन्ध उनके चेहरे को छू रही है।

मन में एक और रागिनी फैल जाती। इस बड़े घर के टूटने की रागिनी। आदमी चले जाने की, अवस्था संकुचित हो आने की। तब उसी पुरानी खाट पर पुरानी सेज पर सोकर वे बाइस्कोप देखते।

स्कूल में पढने जाने की बात आयी। दादा थे, बार-बार मना कर रहे थे। कह रहे थे, इस भाषा को छूना नहीं, यह पढाई मत पढना, यही आखिर में तुम्हारा सर्वनाश करेगी, देख लेना। पिताजी ने नम्रता से सिर झुकाकर कहा था—भाषा और इस पढाई में क्या है, सभी तो विद्या है। उस जमाने से आज का जमाना कितना बदल गया! जिस रूप में अब विद्या पढायी जा रही है और जिस भाषा में शासन-दरबार चलता है, उसे पढे-गुने बिना आदमी पिछड़ जायेगा। और लोग बढ जायेंगे, ठग लेंगे, ये इधर हड़बड़ाते रहेंगे। ये ही देखो, लोगों की जमींदारी कैसे चली गयी, यहाँ तक कि रोढंग के बखनीयों तक की न रही।

दादा ने कहा था—इसीलिए बेटे को इंगरसीजी पढ़ाओगे। बाट में गाय मूतती जाती हो वैसे तो दिखते हैं उस भाषा के अक्षर। जिसने हमें ठोकर मारी क्या उसी के पैरों तले पड़ें, जिसने हमारा राज छीन लिया उसी की जूठी पत्तल चाटें। यही अक्ल है? ठीक है। बक्सी जगबन्धु विद्याधर, पुरिया पाटजोशी, जयी राजगुरु, चाखी खूँटिया, और जाने कितने जवान जो मातृभूमि के लिए लडे थे, बलि चढ़ गये थे, उनका हो गया तर्पण इस विचार से! वे जिन्हें भगाने के लिए खून को पानी की तरह बहाते थे, तुम उनके गुलाम बनने की होड़ा-होड़ी में उनकी भाषा, उनके रंग-ढंग सब सीखोगे! भला हो तुम्हारा!

खाट पर सोये आँख मीचे ध्यान करते समय वह चेहरा याद आ जाता कभी-कभी। आरक्त सोना-सा वर्ण, इतना चौरस और ऊँचा ललाट, इतनी आयताकार आँखें, वह प्रबल दृष्टि, वह प्रकाण्ड सिर, घने बब्बर बाल, गलमुच्छे, और मोटी बल खाती मूँछें। निर्भीक, तीखे, बेफिक्रे, पर अति भावप्रवण। तराशा हुआ-सा चेहरा था उनका। सबसे ज्यादा आकर्षक उस चेहरे की सौम्य स्थिर मुद्रा थी, जहाँ उस चेहरे के गठन की प्रत्येक रेखा समष्टि के साथ पूरा समन्वित होकर मेल खाती दिखती। उस स्थिरता में टपकती एक उच्च शालीनता, प्रसन्नता में भी वह सम्भ्रम उपजाती। क्या शक्ति, क्या

तेज था उस चेहरे पर ! कितनी कठोरता थी उस गरदन में ! क्या धैर्य, क्या साहस, कितना आत्मविश्वास भरा होता उस दृढ़ छाती में ! इतनी उमर में भी उसका दबदबा मिटा न था, हालांकि कन्धे और छाती के लोम जगह-जगह सफेद पड़ गये थे ।

पिता हँसकर बोले थे, "अँगरेजी भाषा का इसमें क्या दोष है ?"

दादा ने संयतभाव से कहा था, "वह भाषा पढ़ने पर उसी रास्ते हमारे बच्चे उनके समाज की नीति-रीति सीखेंगे । वे कोई बहुत पुराने युग के लोग नहीं हैं । कहाँ, महाभारत में तो उनकी बात कही नहीं है ! तब भी रुद्रा नदी के उस पार कुछ अनाचारियों की बात•सारलादास ने लिखी है, वे जो अभक्ष्य खाते थे, अगम्य में जाते थे, वे लोग शायद ये साहब नहीं थे, तो भी इनका आचार-विचार वैसे भी हमारा नहीं है ।"

पिता ने आखिरी चेष्टा के रूप में कहा था, "साहबों में भी तो कितने भले लोग हैं, कितने साधु-सन्त हैं । अनाचारी क्या सभी हैं ? कभी पहले हम शिक्षित थे । अब तो ये ही हैं शिक्षित लोग । इनकी विद्या पढ़कर ही तो आँखें खुलेंगी ।"

दादा ने गम्भीरता से कहा, "आँखें खुलेंगी या फूटेंगी—कौन कह सकता है ? भले आदमी, साधु-सन्यासी उनमें भी होंगे । हर जात में होते हैं । तो क्या उन्होंने ही भेजा है इन लोगों को कि तुम सात समन्दर तेरह नदी पार कर परदेश जाओ, वहाँ लगाओ मारकाट, घर फूँको और देश को दखल करो, फिर चूसना चालू करो ? या उन्होंने ही बताया कि जाकर जुलाहों का अँगूठा काटो, आदमी को कुलबुलाने दो, नमक पर भी कर लगा दो, लगान पाँच गुना बढ़ा दो, गाय काटो, चिड़ियाँ मारो, और जो चाहो सो करो । बूढ़ा घोड़ा—मार दो गोली । कुत्तों के ढेर सारे पिल्ले हो गये—छोड़ दो एक-एक को उबलते पानी में और फिर मार । कितनी दया है—देखो ।"

पिता ने कहा, "जो जैसा करेगा, उसे वैसा फल मिलेगा, विद्या में कहीं लिखा है—उलटी बातें करने की बात ?"

दादा ने कहा, "क्या लिखा है सो तो जो पढ़ेगा वह जानेगा । पर उनका तरीका एक भिन्न प्रकार का लगता है । उसमें अपने यहाँ जैसे त्याग, तप, आचार-विचार की जै-जैकार नहीं है, पैसेवालों की जै-जैकार है, वे पैसे को पहले पहचानते हैं । तभी जहाज चढ़ यहाँ आये, मार-काट, लूट-कपट लगायी, जुलाहों के अँगूठे काटे । तभी ब्याह होते ही बेटा माँ-बाप से अलग । पहले अपना स्वार्थ, अपना सुख, अपने माँ-बाप भी कोई कुछ नहीं । कोई किसी की नहीं सहता, मन न माना तो औरत पति को छोड़ चली जायेगी, नया घर बसानी है । साहब की पूँछ बनकर दौड़ने से जो धन मिलेगा, क्षमता मिलेगी उसकी कीमत चुकानी पड़ेगी, क्या केवल उनकी भाषा सीखकर या पतलून और टोप ओढ़कर ? नहीं, उसका मोल चुकाना पड़ेगा—अपना विचार, आचार, धर्म, समाज की आहुति चढ़ाकर । केवल वह वेश ही चला जायेगा, क्या ऐसा सोचते हो ? विचार भी जायेगा, साथ ही आठ प्राणियों का मिला-जुला घर, यह सनातन समाज,

जहां एक डोर से सब गुँथे-बँधे, वह भी टूटकर छिन्न-भिन्न हो जायेगा। धूल में मिल जायेगा। इंगरेजी पढ़े-लिखे छोकरे अपनी-अपनी औरतों को हाथ पकड़ देहरी लाँघ साहब बनने देस-परदेस चले जायेंगे, उनके जीवन का उद्देश्य खाली अपना पेट भरना होगा! देखना, उनसे अब स्वयं यही होगा, चमड़े और भाषा को छोड़कर हर बात में साहब हो जायेंगे। धन पायें—क्षमता पायें, मन तो चला जायेगा खाली अपने को सार्थक करने के लिए। हमें बड़ा-बूढ़ा कह पानी की दो अंजुली कौन देगा? हमें वह पढ़ाई नहीं चाहिए, और फिर वह बात मत उठाना, छि.—"

दो शब्द कह देते तो भी बहुत था, पर उनकी नीति भिन्न थी, चाहे बिलाई का बच्चा ही हो, उसे समझा-बुझाकर विधान करेंगे।

उनका अँगरेज़ी पढ़ाई का प्रसंग वही पूरा हो गया होता। किन्तु बरस पूरा होते न होते दादा चले गये। अस्सी बरस पूरे होने में और बाकी थे सात मास, बक पंचकों का शेष दिन, कातिक पूनो। बड़ी तड़के ही नित-कर्म कर गये हुए थे ठाकुरजी के दरसन करने। राधा-माधव की ओर निहारते हाथ-जोड़े खड़े थे, तभी प्राण वायु उड़ गयी। देह के गिरते-गिरते पिता ने उन्हें थाम लिया। झांझ, मृदंग, हरिबोल, संकीर्तन करते हुए, फूल-चन्दन देकर बड़े समारोह के साथ उन्हें ले चले—बाईस इलाके के सती-मसान की ओर, पहले जहां इसी वंश की पड़दादी सती हुई थी। वहीं उनके पूर्वजों का दाह होता आया है। गाय का घी और चन्दन की लकड़ी से चिता तैयार कर देह भस्म की गयी, हजारों हज़ार लोगों को भोज दिया गया और बीत गया एक युग।

इसके बाद पिता ने ज़िद कर तीनों बेटों को शहर भेजा अँगरेजी स्कूल में पढ़ने के लिए। उनका कहना था, हर जुग का अपना व्यवहार होता है। अँगरेज़ी राजभाषा है, ढंग से सीखना, पीछे न रहना, रोशनी में आओ।

निकल पड़े सब नयी रोशनी में, आखिर परिस्थिति क्या हुई? दादा कैसे इतनी दूर की देख सकते थे? विधु का तो गया चरित्र और संयम, सब। मधु और विधु दोनों के मन से घर के प्रति स्नेह और गाँव के प्रति ममता भी गयी। सचमुच ही अपनी-अपनी औरतों के हाथ थामकर वे देहरी लाँघ उड़ गये। कुटुम्ब छिन्न-भिन्न हो गया। निरासरी विधवा बुआ और उनका परिवार। आस-पास के बन्धु-बान्धव, जिन्हें सहारा दिया था, और उनके परिवार, जो पहले सभी इस डीह में एक साथ पलते थे—अब अपना-अपना काम-धन्धा पकड़, इस बस्ती को छोड़कर चले गये। गये नौकर-चाकर, दास-दासियां, वे जो अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार काम कर पेट भरते थे और इसे ही मानते थे अपना घर। कैसे क्या हो गया? जमीन-जमींदारी सब चली गयी। घर टूट गया, दीवारें ढह गयीं, गाय-गोरू, आदमी सब छिन्न-भिन्न हो गये, अवस्था पूरी हो आयी।

तब महाभारत गायी जाती थी, एकाध पद तैरता आकर कानों से टकरा जाता है। सिन्धु चौधरी स्वयं को भूलकर कभी-कभी बन जाते हैं हाहाकार स्वरों की एक

क्षीण-रक्त-रागिनी। कहते चले जाते हैं—

"हा दइब पुरुष येहा मोते बनु
चित्रपटल पराये देनु हरि हरिलु।"[1]

और फिर जमीन पर साहस के साथ पैर रखते हैं, भागवत का आसरा लेकर, हाहाकार का लोभ छोड़कर, एक जाग्रत जीवन जीते हैं।

पाटेली गाँव से बन्धमूल का रास्ता है तीन कोस का, पूर्व की ओर। नदी के किनारे से मुड़कर चला गया है नीचे की ओर। पुराने गाँव का नाम था आरोल। प्रचण्ड बाढ़ में आरोल एकदम साफ पुँछ गया, यहाँ तक कि आरोलाई देवी, जिसे लोग जुग-जुग से प्रत्यक्ष देवता के रूप में मानते थे, उनके देवता का तो फिर कहीं पता भी न रहा। देवी भी डाल में या बालू के ढूह में छिपर गयी, कोई जान भी न सका। गाँव के ओझा-गुणी को तीन बार सपना भी आया। यहाँ खोदो—वहाँ खोदो, और हर जगह खुदाई भी की गयी, पर कुछ नहीं मिला। जिस गाँव से इस तरह पुरानी देवी की दया भी उठ जाये, वहाँ दुबारा घर बसा कर रहने में लोग बाग डरे। जो जानेवाले थे सो दूसरे आस-पास के गाँवों में जा बसे। बाद में जो रह गये वे थोड़ी जगह छोड़कर बालू के सपाट ऊपर पर छोटी-छोटी झोपड़ियाँ बनाकर बस गये। वहाँ से लेकर नदी के ऊपर की ओर तक सिलसिलेवार किनारे का पुश्ता बँधा। बाँध का वही मूल है, इसीलिए उस बस्ती का नाम पड़ा बन्धमूल। बाद में वही बँधाव का मूल रुका नहीं, वहाँ से पाँच कोस नीचे तक भी फैल गया। फिर भी उस गाँव का नाम रहा 'बन्धमूल' ही।

उस गाँव के खानदानी आदमी बट महान्ती। खेतीहर और महाजन। पास ही पास खेत हैं। खुदकाश्त दस एकड़ के। बगीचा, बाड़ी, जोहड़, पोखर को छोड़कर जमीदारी के जमाने की कही बेजोत जमीन भी है। नाम की खेती होती है उसमें। यह दिखाने के लिए कि उस पर भी उनका अधिकार है। कहीं अरहर के पौधे हैं, कहीं केले का बगीचा है, एक झोपड़ी. ऐसे ही और भी कुछ। ढोर-डाँगर, बैलगाड़ियाँ, खाद की कुरी, खला-बाड़ी, इस तरह सब मिलाकर देखा जाये तो उनका एक बड़ा 'असथान' है। बूढ़ा-बुढ़िया और पढ़ाई कर चुका रवि, ये ही हैं घर में। बड़ा बेटा 'कवि' पुलिस में सबइन्सपेक्टर है, पर वह अपने नौकरीवाले गाँव में ही रहता है।

बड़े बेटे के 'कवि' नाम में एक खास बात थी। बट महान्ती के बहुत शौक थे। उन्होंने अपनी जवानी में 'कवित्व' कर गये थे। गाँव के नाटक-तमाशों में उनके बनाये

१. महाभारत (सारला दास रचित) से एक पद।

कई गीत आते हैं। वह था उनका मृदंग-साधना का समय, पिता घर सँभालते थे, बेटा समय काटता था गाँव के अखाड़े में। इस वही से कुछ उतारा, उस पोथी से कुछ लिया और बीच-बीच में अपना कुछ 'कवित्व' जोड़कर रामलीला और भागवत लीला के लिए अपनी टेर में गीत रचा करते थे। इसके अलावा ब्याह-शादी के समय भी सभा में जब वर-पक्ष और कन्या-पक्ष के बीच 'कविता—प्रतियोगिता' और 'कूट वचन' पूछे जाते, तब वे 'अपनी' कविताओं के लिए कई बार प्रशंसा भी पा चुके हैं।

परन्तु गाँव के लोग जितनी भी प्रशंसा करते, उनका मन मानता ही न था। जितनी बार वे अपनी रचना को देश के नामी-गिरामी कवियों की कृतियों से तुलना करके देखते, उतनी ही बार उन्हें बोध होता अपनी कमियों का। लगता, कविकर्म उनके वश का रोग ही नहीं, बस जैसे जरा-सा उसका दो बूँद पानी पड़ गया है। रामलीला लिखते। प्रसिद्ध विश्वनाथ खुँटिया की विचित्र रामायण का एक-एक छान्द (पदावली) सामने रखकर पद की जगह पद रखकर गूँथते हैं पदों की माला। कोनेवाले कमरे में किवाड़ बन्द कर, बैठे-लेटे अस्थिर होकर पिंजरे में बाघ की तरह इधर-उधर घूम-फिर कर बिना खाये-बिना पीये भी जुटे रहते हैं। कभी-कभी माला टूटकर बिखर जाती तो मन बेचैन हो छटपटाता। और कभी-कभी वे चेष्टा करते सरल बोलचाल की उड़िया में अनंग नरेन्द्र के ढाँचे पर रचना करने की, जैसे नरेन्द्र ने लिखा है—

"खराकाल पर्वत पराये दिशे राम
नर दिशे वणपोड़ि अनलर सम"

फिर भी, सोचने-विचारने के उपरान्त भी उपमाएँ नहीं आतीं। जो कुछ भी बन पड़ता—उसी पर गाँव के लोग पीठ जरूर थपथपा देते पर मन नहीं मानता उनका।

इसके बाद गाँव में आया नये ज़माने का नाट्यागी गीत, धान कटाई के बाद खाली खेत में नाना जाति के अनाम फूलों की तरह। उसमें छुटकी-मुटकी जात-जात की रागिनी, कोई किसी थियेटर का, कोई किसी विदेशी गीत का टुकड़ा और उसके साथ आया 'हारमोनियाँ'। उसमें साहित्य हो न हो, हारमोनियम के स्वर के साथ नाटयागी गीत और उसके साथ एक-दो-तीन के ताल के साथ-साथ पैर मिलाकर नाचना। इस सब ने मानो देश भर का मन ही वश में कर लिया। बड़े-बूढ़े घृणा से जितना भी नाक-भौं क्यों न सिकोड़ें।....वे भी अपनी चोटी के बाल सहलाते, मुँह फाड़े, टकटकी लगाकर इस नये नाच और गाने का मज़ा लेने लगे। तब लम्बे-लम्बे केशों में आड़ी-तिरछी माँग काढ़े, तितली जैसी मूँछें बनवाकर छींट के कपड़े से सिली बनियान पहन, केंचुए की भाँति गरदन मोड़, गला दबाकर छोकरों ने 'हारमोनियाँ' पर गीत गाये। यह वही ज़माना था जब गाँव की दुकानों पर चाय की पुड़िया और बीड़ी के बण्डल आकर बिकने शुरू हुए थे। पत्ता बाँटकर उसकी पूँगी बनाने, उसमें तम्बाकू पीने या तम्बाकू के पत्तों को बाँटकर पिक्का बनाकर फूँकने का अभ्यास चारों ओर से सिमटता हुआ बड़े-बूढ़ों तक ही रह गया। पुराना ओड़िसी संगीत और रामलीला, भागवत लीला जाने कितने पीछे रह गये,

और उसके साथ बट महान्ती के कवित्व-प्रकाश का अन्त होने लगा।

आशा आशा ही बनी रह गयी।

बड़ा बेटा जब जनमा तब लजाते-लजाते माँ के पास बट कृष्ण ने बहलवाया—लड़के का नाम 'कवि' रखते तो क्या हरजा होता? भला-सा नाम है, दो ही अक्षर। बोलने में भी सहज।

गुरुजी और पुरोहितजी ने भी बेटे से पहले ही कुछ वसूल कर यही नाम रखने की सहमति दे दी। पुरोहितजी ने समझा दिया—कवि कौन होता है? स्वयं भगवान्! गुरु सारलादास महाभारत में लिख गये हैं—'काव्यकार पुरुष अनन्त इन इन्दु।' इतना सुन्दर नाम पाना किसी-किसी के ही भाग्य में होता है। अतः जनमपत्री का नाम चाहे रहे गोवर्द्धन धारण, वैसे लाड़-प्यार का नाम कवि शेखर रहा और संक्षेप में—'कवि'।

किन्तु कवि ने कविता नहीं लिखी। कविता पढ़ने का भी उन्हें चाव न था। बरन सब बातों में हुड़दंग और उछल-कूद मचाना, मारने-पीटने आदि कामों में ज्यादा पारंगत हुए। ज्यादा ध्यान रहता खाने-पीने और मटरगश्ती में। सेकेण्ड क्लास से ही घर बैठ गये, चढ़ती उमर में बड़े घराने में विवाह किया, फिर पुलिस के महकमे में अपने किरानी साले की मदद से पुलिस 'सबइनिस्पेटर' का काम पा गये।

बट महान्ती को लगता जैसे उनका मान बढ़ गया है। सब बस्ती के पाँच आदमियों के आगे सिर उठाकर कह सकते थे—पैसे कमाना ही बड़ी बात नहीं, वह तो भंगी-चमार भी कमा लेता है मान-इज्जत ही तो बड़ी चीज है, क्यों क्या कहते हो?

चौरस चेहरा, खड़ी मूँछें, गुलाबी आँखें। मोटी गरदन। गदराये-गदराये हाथ-पैर। चेहरे की ओर देखने पर लम्बाई से अधिक चौड़ाई ही आँखों में पड़ेगी। कन्धे भी सपाट नहीं, कुछ ढालू हैं, एक बाँह आगे, दूसरी पीछे हिलाते-हिलाते चलने पर जैसी भंगिमा दिखती, उससे लगता मानो कुछ दबोचकर पकड़े बैठा हो, जैसे कोई बनैला जन्तु हो। इसी भंगिमा से मिल गयी एक और बात—अचानक गरदन एक तरफ मोड़, बाँये कन्धे की तरफ झुककर निचला होठ काटते हुए सामने की ओर देखने की भंगिमा। ये दोनों चीजें पहले नहीं थीं। चाकरी के दो बरस पूरे होते न होते अपने आप आ गयीं। तब उसके पोशाक पहन, अदब से खड़े होने या चलने या देखने पर बाप की छाती में खून तेजी से दौड़ जाता। मानो यह उनका बेटा नहीं, यह किसी अनचीन्हे साँचे में ढला कर्मचारी है, किसी और जगह का है।

चाकरी करते-फिरते घूमते-घूमते कवि विदेश में ही रह गया। गाँव में कभी-कभार, साल-दो साल में कुछ दिन के लिए आने लगा। अब उसका ज्यादा सम्बन्ध ससुरालवालों से ही है, छुट्टी मिलने पर वह उधर ही जाया करता है।

चाहे फूटी कौड़ी तक घर न भेजे, बट महान्ती का पेट उतने से ही भर जाता है। उलटे, चावल, धान, नारियल, चिवड़ा, साग-सब्जी वगैरह लेकर, साल में दो-चार बार टिकट कटा, रेल चढ़, वे बहू-बेटों, पोते-पोतियों को देखने जाते हैं। हँसते-खेलते

चार बच्चे : नौ बरस की सुना, उससे छोटा कुना सात वर्ष का, फिर पाँच की रुना, और सबसे छोटा मुन्ना तीन ही बरस का है। सुना और कुना 'इसकूलिया' हो गये, पढ़ाई करने लगे हैं। चार-चार बच्चों की हँसी-खुशी विदेस में फल-फूल रही है, गाँव में तो उसकी छाया भी नहीं पड़ती। बूढ़े का मन होता—काश अपने पास ये सब रहते तो वे पोते-पोतियों को खिलाते। मन की मन में मारकर रह जाते हैं। बच्चों को आँखों से दूर करने या खुद जाकर गाँव-देहात में रहने को बहू का विचार नहीं।

फिर भी, खुद ही वट महान्ती उन्हें देखने जाते। सिपाही सलाम करता—दारोग़ा बाबू के पिताजी जो ठहरे!

कवि के बाद दस वर्ष यों ही निकल गये। इसके बाद आया रवि। वटकृष्ण अबकी बार उसका नाम रखने लगे तब न उनके पिता थे, न माँ थीं। वे स्वयं ही मालिक थे। उमर भी चालीस पार कर चुकी। जमीन और बन्धक रखे, मूल-ब्याज वसूल कर जमीन में जमीन मिला बढ़ाते गये, पुराने बँटाईवाले किसानों को बदल या हटाकर अपने अंश में ऊपरी 'लाभ' प्राप्त कर सम्पत्ति और प्रतिपत्ति बढ़ाने के लिए कई तरह की हेरा-फेरियाँ कीं। चेहरे पर भी उमर की छाप और अधिक घनी हो गयी है। पान चबाते-चबाते दाँतों में भी फाँक हो गयी, ऊपर की पंक्ति में सामने का दाँत खो गया। सिर के बाल पतले होते गये और ऊपर चढ़ते गये, चिकनाहट पाता गया जगह-जगह से दवा ललाट, धक्के देकर ऊपर की ओर उठे गालों के हाड़। नीचे की ओर कुछ फूली छाती पर माँस की परत, और बाहर की मांस-पेशियों के साथ वह एक दाँत फाँका चेहरा उनके गाम्भीर्य में वृद्धि कर रहा था। इस उमर में आयी एक सन्तान। वे चिन्तित हो उठे।

कवि के नाम के साथ तुक मिलाने के लिए लड़के का नाम रखा गया 'रवि'—रविनारायण। नाम रखने की ओट में छुपी थी एक लालसा—रवि! यानी वह एक तेज बालक हो। वंश का नाम रखे।

बचपन में उसकी चाल-ढाल से ऐसा लगता कि उसका नाम रवि न रखकर चन्द्र रखा जाता, तो शायद अधिक जँचता। कुछ भँवरदार लटों के नीचे चौड़ा ललाट, उसके नीचे झपती-झपती-सी दो आँखें, मानो सब ओर शान्ति ही शान्ति है, सर्वथा सन्तोष है। चुपचाप खेलता रहता, बिखेरता रहता अपनी हँसी अपने ही लिए, मानो मन ही मन वह कहीं से अपना आनन्द प्राप्त कर रहा है। किसी से कुछ नहीं, किसी चीज से लगाव नहीं। जहाँ बैठा दो, हिलेगा नहीं। न अधिक रोयेगा और न कोई जिद पकड़ेगा।

जोतसी गुरुजी बलि नायक ने (वट का उन पर शुरू से ही विश्वास है) हाथ देखकर कहा, "बालक के हाथ में विषम रेखा है, पहले ही जतन न किया तो यह कौपीन धारण कर देशान्तरी ही चला जायेगा।"

"उसके लिलार में पढ़ाई है न ? गुरुजी, जरा विचार करके बतायें।" बट ने पूछा था।

भौंहें सिकोड़कर आँखें मिचमिचाते रह गये थे गुरुजी।

गुरुजी ने खड़िया से पाटी पर चक्कर बनाकर हिसाब लगाया, कुछ यहाँ मिटाया, कुछ उधर लिखा। मन ही मन बुदबुदाते हुए से नाना श्लोक बोलते गये, अँगुली के पोरों पर अँगूठा टेक-टेककर देर तक गिनती करते रहे, बाद में जाकर कहीं उत्तर दिया था। तब बट महान्ती ने देखा, उनके आबू जैसे माथे को, वहाँ पसीने की बूँदें झलमला आयी थीं। देखा उनकी सपाट लम्बी खोपड़ी को, जहाँ धीरे-धीरे पतले होते गये। बालों के बीच तीखी चोटी है, जिससे बट महान्ती के मन में साहस, विश्वास का संचार होता है, जीवन-भर तो इन्हीं नायक से पूछकर फल के बारे में जानकारी प्राप्त कर लेने के बाद ही किसी काम में हाथ लगाते रहे। वह चाहे रुपये करज पर देना हो या फसल की आमदनी करनी हो या गाँव से बाहर जाना हो। उनका विचार है कि गुरुजी का निर्णय अकाट्य होता है, टलता नहीं।

गुरुजी ने कहा, "पढ़ाई की चिन्ता न करो। यह बालक पढ़ाई को तो बस घोस-घोटकर पी जायेगा। विद्या में तो बृहस्पति होगा। ऐंटरेंस तो मामूली बात है, एमे, एले, एफे, पास कर विद्यावान् होगा। वंश उज्ज्वल कर देगा। हृदय में भक्तिभाव, दया-माया सब बहुऊत-बहुऊत—। दान में कर्ण, मान में दुर्योधन। धन तो कुबेर की तरह कमायेगा जरूर, पर पास नहीं रहेगा, खरच कर देगा, रख नहीं सकेगा। यह हुई एक बात। माँ-बाप की सेवा करेगा, आदर-मानता करेगा। सब कुछ करेगा पर ब्याह के समय थोड़ी अड़चन लगायेगा। अपने मन के लायक कन्या से ब्याह करेगा, मना करोगे तो लेकर चला जायेगा, किसी को नहीं मानेगा, यह तो लड़ाके भेड़े जैसा, जिधर मन होगा दलता-घँसता चला ही जायेगा। किसी का मुँह नहीं देखेगा।"

इसके बाद गुरुजी ने फिर श्लोक सुनाया।

बट महान्ती ने झट पूछा, "इधर कहते हैं वैष्णव होगा, उधर कहते हैं मन इच्छा का विवाह करेगा। ब्याह किया तो फिर वैष्णव कैसे हुआ ?"

"क्या करूँ, पोथी जो कहती है वही तो बताऊँगा महाराज। हम मन में जो चाहें, क्या वही सब हो जायेगा ? स्वयं श्रीरामचन्द्र जी महाराज चौदह बरस तक वन में घूमे, श्रीकृष्णचन्द्र जी ने साधारण शबर के हाथ से प्राण त्यागे। ग्रह रूपी नारायण.... हमारे वश क्या है ?"

"नहीं, नहीं, एक बात को काटने योग्य दूसरा होता है'''दोनों साथ रहे तो एक-दूसरे को काटेंगे....और सब मिट जायेंगे। ऐसा भी हो सकता है कि न यह लड़का वैष्णव बने और न किसी के घर से लड़की भगा ले जाये।"

वे हँसकर चले गये। इसके बाद गुरुजी ने दी 'ग्रह-शान्ति' और पूजा-विधान के लिए लम्बी सूची।

पुरोहितजी ने समर्थन किया। बहुत पक्के आदमी—प्रकाण्ड बड़ा सिर, साफ़ गोरा वर्ण, लम्बे जितने मोटे-सोटे उतने ही तोंदीले, अधिकांश बाल पक चुके। घनी सफ़ेद दाढ़ी छाती तक आ गयी है। उन पर भी वट महान्ती को अगाध विश्वास था। जन्म से मरण तक घर की सभी क्रियाओं का विधि-विधान वे ही करते आये हैं। उनके हाथ से दूब अक्षत और शान्ति उदक पड़ने पर फल प्राप्त होता ही है। उनके मुख से निकले आशीर्वाद से रिष्ट कट जाता है, ऐसा महान्ती का विश्वास है।

पुरोहितजी और गुरुजी ने पुरानी पोथी-पत्रों में खोज-खाजकर, सोच-विचारकर जो व्यवस्था दी, वट महान्ती ने उसे आस्था-निष्ठा के साथ ग्रहण किया। दशावतन मूर्ति ब्राह्मणों को वरण किया। जीभ पर पानी की बूंद या पान का टुकड़ा भी रखे बिना वट महान्ती तीन दिन सुबह से शाम तक लाल पाट बांधे, पाट की चादर डाले, पसीने में तर होकर हवन की आग के पास बैठे रहे। वेदी से उठते तो एक माय दो पान। उसके बाद फिर हविष्यान्न। महादेव की जलहरी भरवायी गयी। भागवत सप्ताह, सत्यनारायण पाला, त्रिनाथ का जागरण—सब कराया। दान में दिया—बारह आने तोल का सोने का मेढ़ा, चवन्नी भर सोने का धनु, सात अंगुल की काली साड़ी और कितना कुछ। भात, दाल, खड़ा, पेठा, अरवी को एक साथ मिलाकर बनी तरकारी। कड़ाहे के कड़ाहे रांधकर दुखी-रंकों को भोजन कराया। मुड़ी, नारियल मिलाकर गांव भर के बच्चों में बांटा। बाललीला करायी। घर के सामने चौक में खजूर की डालियों से छावनी बांध, ढोल-धमाके सात दिन तक चले। इस तरह सारे विधि-विधान पूरे होने तक रवि के चार बरस पूरे हो गये।

पांच का जब हुआ रवि तो दस्त शुरू हो गये। चार महीने तक यह भी चला। जड़ी-बूटियों के साथ कच्चे बेल का भुरता, पुरानी कांजी और गांव के वैद की गोलियाँ निरन्तर चलती रहीं। रुकती-चलती दस्त बन्द हो गयी। बच्चा सूखकर कांटा हो गया। आखिर एक दिन कोई बाबाजी आये गाँव में। सिर पर नये पान की टोकरी की तरह जटा, चेहरे पर लम्बी दाढ़ी छाती से पेट तक फरफराती हुई, गले से नीचे के सारे अवयव दुर्बल, कमर एकदम पतली। बाबाजी वट महान्ती के दालान में चीमटा गाड़, धूनी लगा, उसके पास पद्मासन में बैठे। कुछ बोले नहीं। बहुत सारे लोग उनके दरसन को आने लगे। जाते समय बाबाजी धूनी से भभूत की चुटकी उठाकर वट महान्ती की हथेली पर रख दी और विदा ली। बस इतना ही, व्याधि रोग दूर हो गया। बाबाजी की महिमा बहुत बखानी, पर वे फिर नहीं मिले।

दिनों में खांसी-जुकाम-दर्द, जिसका मतलब में कभी टट्टी-कै। और तो इस सालभर गर्मी में रवि को भी छुट्टी नहीं मिली। हर बार जब वह बीमार पड़ता, उसकी माँ मुन्शी कहते, 'दिए बद नजर।' पुरोहितजी उसके सिर पर भभूत, दूब देकर मंत्र जपते। और माँ कहती, डायन यह बीमारी मेरे बच्चे को जितना दुबला कर गयी, झाड़-फूंक कर मुझे दे दे रे बेटे! पर मेरा शरीर भोरोगी हो!"

रवि बड़ा होता गया। मौसी के शहर में रहकर हाई स्कूल में पढ़ाई जारी रखी परन्तु बहुत बचपन से ही उसने घर के काम-काज में भी मन दिया था। वह बकरी का बच्चा कुल्हाड़ी उठाकर घर भाग कर देता, लाल-लकड़ी उठाकर एक जगह रखता, बाहर जो पाता उसे सहेजकर घर के अन्दर लाकर रखता। कुएँ के पास पैसे रोपता। कहता, पेड़ होगा। आम की डाल और गूलर की शाख खोद जमीन में गाड़ देता। कहता, बगीचा होगा। लोगों ने कहा, घर-वाले बुद्धि बहुत तेज होगी।

स्कूल के दूसरे बच्चों की तरह रटन्त विद्या की ओर ज्यादा ध्यान न देकर, उसका झुकाव ज्यादा था—गाय-गोरु के प्रति, खेती-बारी की ओर। गोरु कैसे पालते होंगे इसका अभ्यास उसने कर रखा है। गाय को पुचकारना, बैल दुहना आदि में तो धुरन्धर है, हलवाहे से ले लेना और हल जोतने चल पड़ेगा, ज्वार कैसे बुना जाये, बुनाई कैसे हो, मुट्ठी में भरकर कटाई कैसे करना है, कहाँ धान को कैसे डाले की तरह बिछाने हैं, पुआल का किस कायदे से ढेर लगाया जाता है—खलिहान में लाकर किस तरह मुँडेर-सी बनाकर रखते हैं कि पुआल बाहर और धान अन्दर रह जाता है, जिससे कितनी भी वर्षा क्यों न हो पर धान भीगेगा नहीं ये सारी बातें और काम उसने सिर्फ पूछ-पूछकर सीख लिये थे।

"मेरा ऊँचा सिर तूने तो झुका दिया रे कुलांगार! पढ़ाई कर अच्छा-भला आदमी क्या बनेगा, उलटा निपट मजूरा-मुग्गर होने को तेरा मन हो गया क्यों? बस बैल के गले को थपथपाकर हुई-हुई करता फिर, बैल की पूँछ मरोड़ता चल, हलिया के पैर से दबा लगा! बावरी, कंडरी, चमार-भंगी, पाणों को साथी-मितर बनाकर घूम!'

वह सिर झुका लेता, खड़ा होकर टाल जाता। जानता है कि ऐसा करने पर लहर पर लहर आयेगी, और सचमुच लहरें आती भी।

"भला बता तो, परायों के हानि-लाभ की इतनी चिन्ता तेरे ही सिर पर क्यों लदी है? किसके घर में क्या है, क्या नहीं, शहर से किसका क्या आयेगा या नहीं, किसकी गाय के पैर में घाव हुआ है, किसकी बकरी बीमार है, तू यह सब बातें देखेगा या अपनी पढ़ाई करेगा?

नहीं, पढ़ाई-लिखाई में कभी कोई लापरवाही नहीं की उसने। किन्तु स्वयं विचार कर ही बात समझने को जी करता है। वह सोचता, अँगरेजी पढ़ाई पढ़ना-रटना मानो एक बेकार का बोझ है। उसको लगने लगा कि कहीं-कहीं शब्दों का अनुवाद भी नहीं हो सकता। खाली इशारा भर करना है, नहीं तो कौन साहब हैं जो भात राँधकर

खाता है। 'राइस' कहने पर हम सब जिसे भात कहते हैं, उसे वह क्या समझेगा। चावल बीनना, चावल फटकना, चावल धोना, हाण्डी चढाना, भात पकाना—इतने काम होने के बाद जाकर चावल के दाने उबलकर भात बनते हैं, 'राइस' कहने से क्या इतनी सारी प्रक्रिया उसमें आ जाती है? टेम्स नदी के पुल या डेज़ी फूल के बारे में लिखी गयी कविता उसके मन में कोई उत्साह पैदा नहीं करती। उलटा जब वह अँगरेजी पढने बैठता है तो सोचता है अँगरेजों के राज की बात, पराधीनता, स्वाधीनता, आन्दोलन और दमन अत्याचार की कहानी। अँगरेज़ी पढ़ाई ऐसी लगती जैसे जातीय चेतना में पुराना वह घाव का दाग हो, पपड़ी के नीचे जो घाव सूखा नहीं। उसे लगता जैसे दीवार पर से राजा-रानी के चित्र हटाकर वहाँ महात्मा गान्धी का चित्र टाँग देने पर भी यथेष्ट हुआ नहीं। परम्परा टूटी नहीं। अँगरेजी भाषा उसे वही सब याद करा देती है। पराधीन भारत का एक लज्जाजनक अध्याय। उसकी मुहर की तरह विजेता की भाषा—अँगरेजी। जिसे पढने पर लगता कि वे अतिमानव हैं! उनकी भाषा एक सपनपुरी! वह खीझ उठता, उसे लगता यह सब सफ़ेद झूठ है।

खाली अँगरेजी ही क्यों, कई-कई पाठों के बारे में उसे लगता कि इनकी क्या जरूरत है? जैसे यह इतिहास। इतने राजा, इतनी लड़ाइयाँ, इतनी तारीखें, इतनी घटनाएँ। रटने पर सिर दुखता। अलफ्रेड से लेकर औरंगज़ेब तक।

वह सोचता, यह तो बड़े-बड़े लोगों की कहानियाँ गयीं, गरीब की बात कहाँ है? पढाई में इतिहास कहता है—इस युग में अमुक राजा हुए, बाकी सारे आदमियों के भले-बुरे की बात कहाँ गयी?

डरते-डरते साथी लड़कों के द्वारा एक दिन क्लास में पुछवाया था। मौर्य-शासन-पद्धति की पढाई होते समय उसने पुछवाया कि उस समय गाँवों में कौन-कौन से पर्व-पूजा-त्योहार होते थे? किस तरह की मिठाइयाँ बनाते थे? उसके प्रश्न पर सब हँस पड़े थे। शिक्षक ने सोचा, वह मज़ाक कर रहा है। अतः उसे गालियाँ खानी पड़ी।

नियमानुसार पढाई रटता जाता, पर कभी सोचने लगता दूसरी बात, जैसे कुलिया बढई के बारे में। बुखार में मुप्प होने पर भी उठकर हाथ में करौत-बसौला लेकर मजूरी के लिए भाग रहा है। रस्सी जैसे हाथ है, पर काम बहुत अच्छा करता है। पहले तो बढ़ई ऐसा बोहित गढ देते थे कि उसपर हाथी लादकर उसे विदेशों में बेचने ले जाओ। उस समय से लेकर कुलिया बढ़ई तक कितनी पीढियाँ निकल गयीं?

यही लोग जहाज पर चढकर देश-विदेश घूमते थे, इतने बड़े-बड़े काम करते थे। तब क्या उनका चलन इसी तरह का था? या और कोई बात थी?

रोग के प्रकोप से अब ये नौजवान मिट्टी चाट रहे हैं। भाव बढ रहे हैं। दूध में मट्ठा और पानी, घी के बदले घास का घी, सरसों तेल में सस्ते तेल की मिलावट, शहद में गुड़, चावल में कंकड़ की मिलावट चल रही है। कितने कष्ट में है आज आदमी का जीवन।

मिलाकर रखकर वह खड़ा हो जाता। औरों के साथ अपने मत को तौलकर देखता। वे लोग छोटे-छोटे दलों में होकर इस देश और फिर दुनिया की बातों की चर्चा करते। अखबार और अन्यान्य पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ते। उनमें जो समझते, उनमें उन्हें लगता कि वे कुछ समझ रहे हैं। उन सब बातों पर जोरदार बहस भी छिड़ती। धनी लोग अधिक धनी होते जा रहे हैं। कुचक्री लोग धनी और बड़े बनने के लिए फन्द-फन्द भिड़ा रहे हैं। वे ही लोग बीच में लाभ कमाने के लिए औरों को उकसाकर झगड़ा-फसाद करा देते हैं, गाँव में दलबन्दी पैदा हो जाती है। क्षमता की लड़ाई! दुनिया के देश-देश के बीच पनपती डाह और जलन, मार-काट, लड़ाई-दंगे, युद्ध!

पृथ्वी के अन्य भले आदमियों की तरह, शान्ति-प्रेमी छात्रों के ये दल जाति का शुभ और सुख चाहते हैं। तब भाषा क्या, देश क्या, सारी पृथ्वी का मानचित्र संकुचित हो जाता है। लगता है जैसे अपने घर का आँगन हो। वे आतुर होकर एक दूसरे से अमेरिका की या इजिप्ट की या फिर चीन अथवा जापान और इण्डोनेशिया की समस्या पर बातचीत छेड़ देते। उन्हीं सब पर कितनों की मित्रता टूट जाती तो कितनों की बढ़ जाती। कितने दिन कितनी रातें बीत जातीं एक अटूट भावना के बीच। भूख-प्यास भूल जाते, कभी कोई हँसता तो कभी कोई रोता। मानवता के महान् भाव के बीच मन ही मन अपने कुण्ड में एक जगह मिलते दुनिया भर के सब लोग। क्या नीग्रो, क्या अँगरेज! मिस्री या हंगरी, कोरिया या माओरी के सारे लोग! तब विदेशों के अनदेखे अनजाने कवि या चित्रकार की मृत्यु की खबर पाकर वे रो-धोकर उपवास करते, तिल-तर्पण करते।

औरों के साथ रवि ने भी हिरोशिमा को दुःस्वप्न में देखा है। देखी है युद्ध में जलती यूरोप की रणभूमि, भारत की साम्प्रदायिक मार-काट, लाखों शरणार्थियों की भीड़, स्टालिनग्राड की वीरांगनाओं के साथ मिलकर फूटे घर की ईंटों के ढेर की ओट में, युद्ध के धुआँ के बीच, वह अन्तिम साँस तक लड़ा है स्वाधीनता-संग्राम में—

कालेज में खेल के मैदान में खड़े होकर रक्तिम सूर्यास्त की ओर देखते हुए निमिष भर में उसने उड़ा दिया है अपनी सूक्ष्म चेतना को—दूर बहुत दूर, संसार के किसी दुरन्त क्षेत्र के मनुष्य से मिलने के लिए। वहाँ, वह सोचता है, जहाँ आदमी अत्याचार से पीड़ित है, लुण्ठित है, अपमानित है। स्वप्न देखा है।

साथ ही पढ़ाई भी की है। परीक्षाएँ देकर एक के बाद एक, कक्षाएँ पास भी करता गया है। पिता ने देखा, बेटा बी. ए. पास कर चुका, और वे उसके लिए सीमित परिसर का स्वप्न देख-देखकर खुश हुए हैं कि जो अनिर्दिष्ट था, वह निर्दिष्ट पथ के योग्य हो गया है, चाकरी, तनख्वाह, ब्याह, पदोन्नति, बाल-बच्चे! उन्होंने सोच रखा है, कच्चा माल मशीन में गया, बाहर आ गया तैयार वस्तु बनकर, नपे-तुले बँधे समाज में सस्थिति के लिए यह सब आवश्यक है, भद्रता और सभ्यता के अनुकूल है।

पर रवि ने अनुभव किया, कुछ और ही। सोचा—अब वह निर्दिष्ट से अनिर्दिष्ट

अवस्था में चला आया है, अब पाठ्य-पुस्तक नहीं, पढ़ाई का बँधा-बँधाया समय नहीं, न परीक्षा न नपी-तुली पढ़ाई की परख। उसने देखा, वह स्वाधीन हो गया है, सामने स्वस्थ जीवन की अनजान धारा है, जहाँ वह अपनी सहानुभूति के बल पर रास्ता चुनकर परिश्रम, सेवा और त्याग में अपने आपको परिपुष्ट कर शायद जीवन को उपभोग करने का सुयोग पा सकेगा।

पिता ने अगर कागज पर रेखाएँ खींची है, रूप आँका है, तो उसने अपनी छवि आँकी है—व्योम-पट पर विचार और स्नेह प्रवणता का रंग देकर।

दोनों ने कभी अपना-अपना खाता खोला नहीं, बैठकर हिसाब मिलाया नहीं।

घट महान्ती सारी चीज़ों पर अपने जीवन की अनुभूतियों से परिचित मूल्यों को पकड़कर निश्चिन्त है। उन्होंने देखा, ज़मीन बटाई पर दी हुई है, फसल मिलने में कभी बाधा नहीं आयी। वरन् साझेदारी में तो उन्होंने यह भी देखा कि भागीदार किसान अपना हल-बैल बेचकर भी उनका हिस्सा लाकर दे गया है। रुपये करज पर देते हैं, ब्याज मिल जाता है। समय से कर्ज वसूल न कर सका, तो बन्धक में रखी चीज़ या ज़मीन भी उनकी अपनी हो गयी है।

पिता ने बार-बार गुरुजी से पूछा है, ज़रा देखिए तो, रवि के बृहस्पति का योग कब से प्रारम्भ होता है?....गुरुजी, बताओ तो सही क्या देखा? नौकरी कब मिलेगी? कैसी मिलेगी? शादी कब होगी? किस दिशा में? बहू कैसी होगी? हम बूढ़े-बूढ़ी को पूछेगी तो?''

उस दिन प्रसन्न मन से लौट रहा था रवि, कि रास्ते में वह घटना हो गयी।

अनहोनी कहानी की परत—किन्तु उसके साथ कुछ घटा है, उसे बिना जाने ही जीवन के किसी तीव्र गहरे बहाव में निमिष-भर में वह कितनी दूर बह आया है! उसकी चेतना पर नये रंग की अननुभूत आच्छन्नता है! मानो अचानक किसी की गुलेल से गोली छूटकर उसके मन की गहराई में आ लगी और वहीं रह गयी है। केवल मन ही नहीं, देह के स्नायुओं में भी बार-बार कौंध और हलचल। सिर्फ सिर ही झाँय-झाँय नहीं करता, मन में भी आकुलता है। मन ही मन किसी अध-छूए गुनगुनाये गीत के संगीत की अस्पष्ट वाणी। केवल कोई अनजान महक ही नहीं, छाती में भी जैसे धड़कन-सी हो रही है। वह अनुभव कर रहा था—अपनी इस चेतना के नीचे जाने कैसी एक मद्धिम आँच। फिर उसमें एक प्रकार की अनजानी विचित्र सुखानुभूति और प्रबल कर्मठता की शक्ति है। मानो अचानक किसी उद्दाम तापपूर्ण शक्ति में वह रूपान्तरित हो गया है। गढ़ने या ध्वंस करने को उसके अन्दर एक प्रबल तूफान है, यद्यपि उस झंझा का मूल केन्द्र एक प्रकार से शान्ति, अलस, स्वप्निल मुमलिप्सा है। अपने प्रति उसके मन में कहीं प्रश्नवाची

अनिर्दिष्ट भंगिमा थी, वह स्वयं आश्चर्य से घिरा था, किन्तु इस स्थिति में स्वयं को स्थिर करते हुए भी बहाव के वेग में, अनायत स्पन्दन की अनुभूति में, चला जा रहा था।

सोचने को लम्बा तीन कोस का रास्ता। प्रसरी फैली चांदनी रात। बहुत हलके-झीने कुहासे में सामने की ओर तिरछे आते चाँद के प्रकाश से बनी माया की स्थूलता, जगह-जगह सफेद कबूतर के पेट के नीचे के छोटे-छोटे रोयों की तरह चमकीले, और जगह-जगह पेड़ों की छाया के छिट-पुट मेघ।

उस छोटे से परिसर में वह देख रहा था छवि का चेहरा। उसकी आँखों की भंगिमा। कितने नये-नये भाव उसकी कल्पना में तैर जाते थे। वही उसकी अनार-फूलझरी की चिनगारियाँ थी। बारम्बार असंख्य धारा में ऊपर सर्र सर्र कर जाती और मुरमुराती हुई झड़ जाती नाना वर्णों में। लाल, हरा, नीला रास्ते-भर उसके जीवन की कल्पना का वही खेल चलता रहा।

नदी के गरम बालू पर नंगे पैरों चलते समय बीच-बीच में गीला गमछा डाल पल-भर खड़े होने की ही तरह शायद उसके जीवन की यह अनुभूति भी है। उसकी स्मृति का आश्रय! तीक्ष्ण अनुभूतियों के बीच कभी-कभार क्षण-भर के लिए शान्ति उपजाने के लिए, उसके जीवन को सरस बनाने के लिए।

क्या होगा—उसने कभी सोचा नहीं। हिसाब किया नहीं। लहरों में उछलते कदमों से दौड़ते घोड़े की पीठ पर बैठ नयी-नयी दौड़ लगाने की तरह उसके माथे में धमक-सी हो रही थी, एक नये स्वाद में उन्मत्त और उद्दाम होकर वह जैसे रास्ता भूल गया था, फिर भी सही रास्ते पर ही जा रहा था।

गाँव पास आ गया। चेतना में परिचित परिवेश का स्पर्श मिला और उसका वह नशा जैसे टूट गया। अपने घर के आँगन में जाने पर उसे लगा, अँधेरा मानो स्वाभाविकता से कहीं अधिक गहरा है, चाँदनी को वह अनुभव नहीं कर रहा है, मानो वही कुछ बहुमूल्य पदार्थ खो आया है। आकुलता और गहन अँधेरे के बीच अपनी आत्मा को सान्त्वना देने के लिए याद आया—सृष्टि के साथ उसके बढ़ते हुए एक मन्त्र की सार्थकता—उसकी माँ! प्राण-पण से वह चिल्लाया—"माँ!" वह बाहर का कमरा लाँघ मकान के अन्दर आँगन में पहुँच गया।

"अरे, मेरा बेटा है रे!" रसोई से निकलकर माँ आयी, निश्चिन्त आनन्द में प्रत्याशित स्वर के संगीत में लिपटी-सी उनकी स्वागत वाणी सुनाई दी—"आ गया रे? क्या हुआ?"

"अच्छा हुआ। बताता हूँ। जरा साँस तो लेने दे। भूख से जान जा रही है। पहले एक कौर पखाल दे। बासी पानी भी रखा है?"

"क्यों रे, पगले, इस समय पखाल खायेगा? ठण्डी रात में इस समय पखाल? कलेवा कर ले! चूड़ा है, छेना है, नारियल का कौर देती हूँ। जा, हाथ-पैर धो आ। नौकरी का क्या हुआ? वे नहीं हैं, पोखर की ओर नित-नेम करने गये हैं, अभी आते ही

पूछेंगे। उनकी तो पहले वही बात होगी। खड़ा मत रह, जा कपड़े बदल।"

"नौकरी नही की।"

"ऐं, नहीं की?"

"वो बुरी दशा है, बारह झमेले हैं। मन को नही भायी।"

रवि की माँ को उसके बचपन की बात याद आयी। कभी-कभी जैसे वह छुपकर आकर ज़िद करता, "आज स्कूल नही जाऊँगा, माँ।" और तब वह स्वयं हँसकर उसके सिर को सहलाती कहती, "मत जा, कोई तुझे मार रहा है क्या?"

रवि का स्वर और भंगिमा मानो वही बात कह रही है। लगता है जैसे कुछ घटा है, ख़ैर रवि तो ठीक-ठीक से है और अधिक कुछ नही चाहिए।

हँसकर रवि ने कहा, "नौकरी मुझसे नही हो सकेगी, माँ! पर एक बात हो गयी—" कहकर उसने अपने आपको रोका, मानो मन ही मन चौंक पड़ा हो।

"और क्या हो गया रे?"

हँसकर कहा, "मन थिर हो गया।"

"क्या थिर हो गया मन? इन बच्चों की भी कैसी बातें होती हैं। आदमी क्या समझे इनसे?"

"मैं यहीं रहूँगा। जाऊँगा नही, और कभी नही जाऊँगा।"

"तुझे कौन मना करता है?"

"पहले पखाल दोगी या नहीं, बताओ?"

"अरे मेरे लाडले, बातों में ही उलझ गयी मैं मुई! अच्छा, पखाल खायेगा, तो चल खा। कुछ सेंक भी देती हूँ।"

"बड़ी सेक दे।"

"और कह तो आलू का भुरता भी। अच्छा, खा ले पेट भर। थिर होकर सो रह। कितनी दूर चलकर आया है, थक गया होगा।"

"सब ठीक है। तू पखाल दे, चल। हाँ, अदरक और जीरे की बुकनी भी। और मैं तेरी कूँडी में खाऊँगा, काँसे में नही।"

"अच्छा, अच्छा, तू जा अपना काम पूरा कर झट से।"

उनके घर में रहनेवाला कोई नौकर नही है। बट महान्ती को नौकर रखना पसन्द नही। अपने हाथ से घर का काम करना उनकी आदत है। दिन में मोटे काम करने के लिए लोग होते हैं, रात में कोई नही।

अपनी कोठरी में घुसकर कमीज उतारते-उतारते फिर मन में झलकी और बुझ गयी—पाटेली गाँव की बात। और अचानक ही उसे अधिक अकेलापन-सा अनुभव हुआ। वह सोचने लगा, माँ और पिता किस तरह दिन काट रहे हैं, फिर मानो उसे याद आने हैं—भाई, भावज और उनके बाल-बच्चे। वे जो इतने पास होकर भी इतनी दूर हैं। वे चाहते तो घर हँसता-बोलता होता, क्यों इस तरह उचाट, उदास-सा बना रहता?

दस वर्ष के पहले आयी थी भावज चित्रांगदा। पति, अपनी मूँछों को काट-छाँटकर जैसे तितली की तरह बनाते थे, वैसे ही उनके नाम को भी काट-छाँटकर छोटा बना दिया और 'चित्रा' लिखते थे। कीमती छींट की साड़ी, छींट की कमीज और काम किये गये छोटे-छोटे सोने के गहनों में वे भी सुन्दर तितली की तरह दिखती थी। अड़ोस-पड़ोस में उनके रूप की जितनी प्रशंसा फैलती थी, उतनी ही होती थी उनके चाल-चलन की आलोचना भी "ये क्या रे बाबा, बहू-बेटी की तरह चलती है! घूँघट माथे के बीच में, उसपर फिर फूल-खोंसा, झुकना तो सीखा ही नहीं। लाज-शरम नहीं, खट-खट बड़े-बूढ़ों के आगे से निकलकर सीधे सामने मुँह की ओर देखते हुए बातें कहना, ये कोई अच्छी बात है। इसी को तो कहते हैं शहरी बहू! कैसे निभायेगी इस घर में?"

माँ ने सबको डाँटा लिया। पिता भी बहुत स्नेह करते थे। फिर भी क्या हुआ? इस घर में उनका मन माना नहीं। रह-रहकर चिट्ठी पर चिट्ठी भेजी, पीहर में भाई के पास। चिट्ठी पर चिट्ठी आयी भी। पीहर के लोग आकर नाक-भौं सिकोड़कर चले गये। भाई ने भी पहले धीमे-धीमे कहा, फिर जोर देकर कहने लगे कि इनकी गाँव में रहने की आदत तो है नहीं, इसलिए यहाँ सुहाता नहीं। यहाँ रहकर उसका स्वास्थ्य भी खराब हो गया है। खिला-पिलाकर सेवा-यतन कर माँ उन्हें भले ही मोटी-ताजी रखती, पर भाई उतने पर भी कहते कि वह पहले से और भी सूख गयी है। फिर पूरी हुई उनकी मनोकामना।

चित्रा भावज गाँव छोड़कर परदेस चली गयी।

इसके बाद तो जाने कैसे धीरे-धीरे यह डोर ढीली होती चली गयी। भाई भी कभी-कभार आते। शिकायत भी नहीं की जा सकती, पराये दरवाजे सिर टेक रखा है जो!

परन्तु—

इस परन्तु के तल में ही कितनी बातें अनकही रह जाती। कभी-कभी माँ का रोना। कभी-कभी साथ की औरतों से दुख-भरी भीगी-भीगी बातें—"मैंने क्या दोष किया? हे रे गोकुली की माँ, मेरे मन की बात कब समझी उन्होंने? जो कहा—वही मैंने किया। अपने हाथ से कभी चूल्हा भी नहीं उसने जलाया। जूड़ी में पड़कर भी कभी किसी दिन यह नहीं कहा कि बहू, मेरा माथा दबा दे।"

भाई-भावज। नौ वर्ष की बेटी सुना, बाप को गयी है, वैसी ही गोल। उसके बाद सात वर्ष का बेटा कुना, उसका चेहरा उसकी माँ की तरह पतला-सा। उससे छोटी नीचे पाँच की रुना, वह तो बिलकुल माँ जैसी है, वैसा ही मुँह, नाक और आँख-हाथ-पैर, सबसे अधिक फुर्तीली है वह। सबसे छोटा मुन्ना है, तीन वर्ष का। सबसे अधिक सजीला है। देखने पर वे सब काका-काका कहकर गले से झूल जाते। कोई पीठ पर है, कोई जेब टटोलता है, तो कोई हाथ पकड़ खींचता है और कोई कुछ फरमाइश लगाता है। और यह सब सोचते ही आँखों में तैर जाती है रंग-बिरंगा फ्राक पहने

सुना। चिकने सिर पर रंग-बिरंगे फीते बँधे हैं फूलों की तरह। ढेर सारी सहेलियों के साथ फिरती रहती। किसी चित्रकार की बनायी हृष्ट-पुष्ट बिल्ली की तरह। कुना उसके ठीक उलटा, सदा नुटुर-कुटुर होता रहता। जब देखो उसकी देह में एक दो घाव। गालों पर कीचड, हाथ-पैर सब कीच से सने, कपडे पर स्याही, गन्दा हाफपैण्ट। लगता है, जैसे एक केले का पेड हो...नीचे से मैला और ऊपर दूध-सा चमकता नरम चेहरा, ऐसा चेहरा कि लगता जैसे उसपर कोई न कोई विचार या भाव तैर रहा हो। रना मानो सजी-धजी कोई तसवीर हो, सारे माथे पर चन्दन की बूँदें, लम्बी पूँछ-सी खिचकर आँख का काजल कान तक चला गया है। उसकी माँ समय पाती तो उसे सजाती रहती। जब देखो अपनी अकूत सम्पत्ति फैलाकर कुछ न कुछ करती रहती। कितने कागज के खोल, टीन के खोल, रंग-रंगीले कपड़े के टुकड़ों में सजी गुड़ियाँ, नाना चीजें, अपने आप गीत गाती, छमक-छमक करती फिरती रहती।

वे सब इस घर में होते तो घर भरा होता।

कहाँ जाता है आदमी का पहले का स्नेह। कितनी तेजी से आदमी बदल जाता है, और चारों तरफ से अपनी स्नेह-श्रद्धा खींच-खींचकर ले जाता है और उसे अपने 'मैं' के चारों ओर जमा करता है।

रवि ने सोचा, भाई कुछ अलग क़िसम के हैं। और भावज को बुला लाने वह खुद कितनी आशा लेकर मारकुण्डी गया था!

उसे खुशी थी कि उसने नौकरी नहीं की। कम से कम एक घाटी तो कट गयी। फिर सन्देह हुआ, पिताजी क्या कहेंगे?

नौकरी हुई नहीं, सो तो उसका चेहरा ही बताये दे रहा है। रवि की माँ सोच रही थी, वह स्वस्थ है, निश्चिन्त है। मानो वह अपने सिर से कोई बड़ा बोझ खिसकाकर चला आया है।

वह कुछ भी करे, न करे—परायों के साथ तुलना कर उसके बापू कितना ही तौलें, रवि की माँ उसपर गर्व का अनुभव करती है। वह उसके पिता को उन्हीं के पिता की बात याद करा देती है: कई बातों में वह अपने दादा की तरह ही है। केवल वैसा ही लिलार, या आँख या कान नहीं और न केवल बातचीत, रंग-ढंग या, वैसी ही खुली हँसी, बल्कि उसके मन में जो प्रकाश है वह भी पता नहीं, कैसे अपने दादा जैसा ही है, आदमी जब उसी साँचे में ढला है तो विचार भी वैसे ही हैं।

एक बार की बात याद आ गयी।

घर की अवस्था सुधारने के विचार से राजा के यहाँ नौकरी करने रजवाड़े गये। गाँव में खबर आयी कि अब उनके भाग जागे, राज-अनुग्रह मिला है। उस राज्य के पण्डित भी उनका बड़प्पन स्वीकार करते हैं—इतनी बुद्धि, इतना पाण्डित्य, ऐसी अवस्था, ऐसा कृतित्व! राजा ने घर भर दिया, फिर नौकर-चाकर, घोड़ा-गाड़ी, अधिकार—क्या नहीं दिया? इतनी बड़ी हवेली! इतनी सुविधा! अब तौलकर रुपये

रखाना तुम सब। गाँव के जो लोग वहाँ काम करते हैं, उन्होंने देखा और आकर बताया ! बहा, तहसीलदार बन गये हैं, शीघ्र ही देखते-देखते, दीवान बन जायेंगे।

किन्तु एक पखवाड़ा भी पूरा हुआ था कि नहीं, बेडिंग-बिस्तर बाँधकर घर पर हाजिर। कहने लगे, ठाकुरजी की पूजा करना तो सीखा है, आदमी को ठाकुरजी मानना नहीं सीखा। हमारे यहाँ कौन ऐसा हुआ जो अपना विचार छोड़कर पराये इशारे पर नाचे हो। विवेक की बलि दे, आँख-कान मूँदकर जो कहा जाये वही करो दिन-रात ! भाड़ में जाये ऐसा पैसा, हमें रास नहीं आयेगा वैसा जीवन। अपने को तो यही साग-पराल ही अच्छा। ओह, आदमी यहाँ कितनी शान्ति से साँस ले सकता है !

आत्मविह्वल-सी अतीत की ओर आँखें किये रवि की माँ उन्हें देख रही थी।

साधारण आदमी। देहाती खादी की धोती से अनढँके घुटने, सिर के पीछे की ओर बालों में गाँठ। बाहर पैर निकालते हैं तो खड़ाऊ की ठकर-ठकर, और हाथ में एक लाठी जिसकी गाँठो को धन-जन-मरण धन-जन-मरण कर, गिनने से जन के पास खतम हो जाती। हँसकर कहते, 'धन' धन की आशा मत करना रे बच्चो, 'जन' असल है, जन से ठीक रहे तो धन अपने आप आयेगा। वैसे भेष और चेहरे के आदमी पर कितनी खातिर कितना मान था उस तरह खण्डी इलाके में। सब को मानो वे वश में किये थे। उनकी बात वेद का मन्त्र बन जाती। बाघ-बकरी एक ही घाट पानी पीते। गलत बात उनकी आँखों को सुहाती नहीं थी। चावल का दाना भी कहीं पड़ा होता, तो चुनकर रख देते। भात की थाली के पास बिलाई घेरे बैठी है, बच्चे बैठे हों, सबको मुट्ठी-मुट्ठी भात देते। पर ध्यान रहता कि कोई एक दाना भी न छोड़े। घर पर सब भाइयों का कुटुम्ब मिलाकर चालीस प्राणी थे, सबको सँभालते थे। अकेले चलाते थे। एक चूल्हे पर सब की रसोई, कोई सौ कमाता है। तो क्या, साड़ी खरीदी जायेंगी तो सबके लिए एक समान। नहीं होगी तो किसी के लिए भी नहीं आयेगी। भानजा-भानजी, भतीजी-भतीजा, नाती-पोता, आया-गया सबको समान आदर। अपना पराया नहीं देखते वहाँ। सबका भला-बुरा देखते-देखते ही घर से दिन बीत जाता, रात हो जाती। स्वयं काम में जुटे रहते तो घर-भर के सब लोग रहते काम में, कौन कितना कर सकता है उसी पर बदा-बदी चलती, उनके मुँह पर जरा-सी हँसी देखने के लिए सब लोग प्राणपण से काम करते। यदि आपस में बिगाड़ होने को होता, तो वह स्वयं जान जाते। किसी को बिना बताये भात की थाली पर से उठ जाते। बस, सारे घर में हलचल मच जाती, समझाना-बुझाना चलता, गलत आदमी अपना दोष सकारकर अपने को ठीक कर लेता। इस तरह घर टूटने से बच जाता।

"नन्ही बेटी, पान लाना तो। कुछ खाया ?"

मुँह हँसी में दपदपाता दिख रहा है। बापू बुला रहे हैं।

"अरे, कुछ खाया बेटी ?" इतने में ही सारा स्नेह ! प्रश्न तो बस इशारा है। पास आने पर, सिर पर हाथ फेरकर वही प्रश्न। पिता के हृदय का अपार स्नेह-सहानुभूति

उतने में ही उसे बार-बार भिगो देते। इसके बाद मन हलका हो जाता, मानो नीचे जमीन नहीं। मन आकाश ही आकाश में उड़ता-सा लगता।

"माँ दिया?"

"देती हूँ, बेटे! ये भाजा डाले है, अभी हो जाने पर देती हूँ।"

...आँखों पर स्मृति का परदा फिर पड़ जाता है, धुँधली-धुँधली कितनी बातें दिख जाती हैं। सब घुल-मिल जा रहा है, बुझता जा रहा है। तेरह वर्ष का होते न होते वे उसे पराये गोत्र को करने में लग गये। चली खोज-बीन, पूछ-ताछ। इन दिनों ही तो, नदी के किनारे-किनारे जंगली बेर, सखी-सहेलियों के साथ, तोड़ती फिरती। कभी-कभी तो सारी दोपहर बीत जाती। इसके बाद बिल्ली की तरह इस घर से उस घर और फिर तीसरे घर। चारों ओर चौकुन्नी-सी देखती-सूँघती अपने घर में घुसती। शायद कहीं वे हों। पूछ बैठे, तो? उसपर कभी नहीं बिगड़ते। माँ कहती, तो बोलते—मेरी बिटिया घूमेगी ही, मन चाहे जहाँ घूमे-फिरे, कुछ कहना नहीं।

कहाँ गया वह समय। किस चूल्हे में गया! इतनी देर बाद मुड़कर देखा, वहाँ अब कुछ भी तो नहीं रहा। सब विलीन हो गया। दो वर्ष पहले वहाँ गयी थी, छोटा भाई मोहन अपनी बेटी के ब्याह पर लेने आया था। पाँच भाइयों में मोहन सबसे छोटा है किन्तु है सबसे ज्यादा परिवारी। शहर में व्यापार करता है, गाँव में मकान बनाया है, जमीन ली है, किन्तु वह प्रायः गाँव में नहीं रहता, उसके बाल-बच्चे शहर में ही हैं, शहर के वे आदी हो गये हैं। मोहन की दोनों छोर पर निगाह है, इधर शहर में ट्रक, मिल, दुकान, उधर गाँव में खेती-बाड़ी, राजनीति। खादी को छोड़ वह और किसी वेश में बाहर नहीं निकलता, शुरू से ही वह कांग्रेस का मेम्बर है। आदर भी है। लोगों में देन-लेन करता है। उनकी खबर पूछता है। इस बारे में वह कुछ-कुछ अपने पिता की तरह है। जिन्हें कुछ चाहिए, वे सब 'मोहन बाबू, मोहन बाबू' कहकर घेरे रहते। वह किसी से कुछ करने को कह देता तो उसे वे लोग पूरी करते।

किन्तु बिना व्यापार-वणिज या नौकरी किये, और बिना कोठे-बाड़ी खड़े किये ही पिता ने एक बहुत बड़ी गठरी में जैसे सबको बाँध रखा था। मोहन से ऐसा सम्भव नहीं हो सका। किसी से नहीं हो सका। सब बिला ही गये, सब एक-एक हो गये, कोई स्वयं भले ही खड़ा हो गया, किन्तु किसी का किसी से कोई सम्बन्ध नहीं रहा। उलटे जरा-जरा सी बात में मन फटने लगा, किसी की थाली में घी देखा तो खुल्लम-खुल्ला शत्रुता आरम्भ हो गयी, और नहीं तो ईर्ष्या हो सही। जो कुछ कर न सका वह लुढ़क गया, दूसरों ने भले ही सुध ली हो, अपनों ने तो आँख उठाकर देखा तक नहीं उस ओर। इसी घर के कितने लोग कर्मानुसार, अपने-अपने रास्ते चल पड़े। ठीक-ठिकाना बनाकर गुजर-बसर कर रहे हैं, कोई करता है नौकरी, कोई बैठता है दुकान पर, कोई व्यापार में है, बड़ा-छोटा सब अपने-अपने में मस्त है, लेकिन पूरे कुनबे पर किसी का साया नहीं रहा।

आह, क्या था, क्या हो गया !....

बेटा चिल्ला रहा है। अब भूप और यह नहीं पा रहा। "अरे हाँ, हाँ, आयी !" पल्लू में आँसू पोंछ, अपने को झटकती हुई-सी वह जल्दी से सँभालने लगी। अब था जाग्रत् वर्तमान—उसके स्पष्ट अवयव ! पिछली बातों की केवल गुनगुनाहट भर रह गयी। दृश्य बदल गया।

रसोई में चूल्हे से चार हाथ हटकर रवि खाने बैठा है। सामने पत्तल से भरी पथरी रखी है। थाली में बैंगन भाजा और आलू का भर्ता, बड़ी के टुकड़े, नमक और कच्ची मिर्च अलग-अलग रखे हैं। एक सिलवर के कटोरे में कांजी-पानी रखा है। सामने है चूल्हे की धधकती आग, उसकी झुलसती लाली मानो मन के अन्दर तक आँच दे रही है, गरमी पैदा कर रही है। चौतरे पर लालटेन रखी जल रही है। घर के नीचे चूल्हे के किनारे आधी दीवार, घर के अन्दर की दीवार आदमी के हाथों माटी-गोबर का लेप पाकर आँखों को ऐसी कोमल और स्वाभाविक दिख रही है मानो उसमें भी जीवन है। उसका भी जीता-जागता चेहरा है। बिलकुल उसका कोई अपना जो अपनी सनेही दृष्टि से सिक्त किये दे रहा है। छान के नीचे की ओर बाँस में लगे कपड़े के टुकड़े जगह-जगह फरफरा रहे हैं, वह भी उस स्वाभाविकता में ही खप जाता है। भात खाते समय पास में हो है बिलाई की म्याऊँ-म्याऊँ। दीवार से चिपटी छिपकली जो पूँछ सलबला रही है, एक टक अँधेरे की ओर देख रही है। और यह चूँ-चूँ करती लम्बी सूँड से मानो घर बुहारती-बुहारती तेजी से दौड़ रही है परिचित-सी छछून्दर। माँ उसे हिस्-हिस् कर रही है। चूल्हे के पीछे कतार की कतार में हण्डियाँ—रवाल की हण्डी, कांजी-पानी की हण्डी, भात की हण्डी और रसोई के लिए अन्यान्य हण्डियाँ—किसी पर पलम, किसी पर काठ का ढक्कू, नारियल की ढंकी सब मिल गया है उसी स्वतन्त्र व्यक्तित्व की देह में। माँ बैठी है। वह उस दृश्य का जीवन है। कानों को मधुर, प्राणों को जैसे शीतल कविता का रस। इस परिचित परिवेश ने उसे ऊष्मा में डुबोकर अपनी बाँहों में भर लिया है। पल्लू से ढाँप गोद में बिठाये हुए है, जैसे माँ बैठाती है अपने बच्चों को।

तृप्ति।

केवल तृप्ति ही नहीं—अवस्था के साथ एक आत्मीयता, सहज निर्वातित, निःसंकोच स्थिति और व्याप्ति है वहाँ, उसकी और उसकी पृष्ठभूमि की। मुँह में कौर भरते समय परिस्थिति की स्वच्छन्दता में सुख से बढ़कर मानो उसका व्यक्तित्व अपने को खींच-खाँचकर ऊँचा कर उँगली पर खड़ा हो स्पर्धा से देख उसके एक ओर दबे हुए व्यक्तित्व को देखने लगा—वह दूसरा व्यक्तित्व वामन है, कुरूप है, वह उस समय का व्यक्तित्व है जब वह नौकरी करने चला था। विपद् से उबरकर विपन्नकारी की ओर अन्तिम दृष्टि डालने की तरह उसने गर्व का अनुभव किया कि वह हार नहीं गया। बँधा नहीं, चला आया है।

अत्यन्त विश्वास के साथ मन की बात खोलकर कहने की तरह उसने अपनी माँ के आगे कहा—"देख लो, जमींदारी रही या गयी! क्या हुआ? वैसे ही....।" वैसे वह मन ही मन बातें कह रहा था, उसमें से एक अंश किसी तरह उसके मुँह से छिटककर बाहर निकल गया।

विस्मित-सी होकर माँ ने पूछा, "किसकी बात कह रहा है?"

मानो वह पहले ही कह चुका हो, इस तरह बोला, "कहा तो, वैसे ही सब।"

"क्या सब?"

"ओह, तू समझी नहीं क्या माँ? पहले जमींदार होना गौरव की बात थी। इसके लिए गोपाल साहू ने मिठाई बेचते-बेचते भी दो पैसे की जमींदारी का अंश खरीदा। यह नौकरी का विचार भी वैसा ही गौरव पाने का विचार है। अन्त में उससे गौरव पाने की बात भी उड़ गयी। समय आयेगा जब लोग दूसरा ही रास्ता देखेंगे, आ रहा है वह जमाना।"

"सरकार ने जमींदारी उठा दी तो क्या अब नौकरी-चौकरी भी उठा देगी?"

नौकरी उठाये काम चलेगा कैसे? नहीं री बुद्धू, मैं तो कहता हूँ, अभी जैसा रोग घेरे है हमें, पढ़ाई पूरी करते न करते आँख मूँदकर व्याकुल हो बस कुछ नहीं, नौकरी करो। भविष्य में लोग वैसा नहीं करेंगे। पहली बात तो यह कि रुपयों की आशा में कोई नौकरी नहीं करेगा। रुपये कमानेवाले दूसरा रास्ता पकड़ेंगे। वे ही आयेंगे जिनका मन खुद पुकारेगा—पेट पर गीला कपड़ा रख, दस लोगों का बोझ सम्हालना है।"

"पर तुझे क्या असुविधा है? तू तो वही खोज रहा है।"

"अभी लोग पेट के लिए नौकरी खोजते हैं। मैं उनमें नहीं हूँ," कहकर सीधा देखते हुए वह हँस पड़ा।

माँ समझ गयी। हँसकर बोली, "तेरी इच्छा, मैं थोड़े ही मना कर रही हूँ।"

"तब तू पिताजी को समझा देना।"

"उन्हें समझाने की क्या जरूरत है? वे क्या तेरी कमाई खाने के लिए तुझसे नौकरी करवाना चाहते हैं? केवल तेरे ही भले के लिए तो कहा होगा। और क्या? खुद तेरा मन उसमें नहीं लगा तो न सही, अब अपना घर संसार तो तुम्हीं करोगे, बाबा, हमारा क्या है?"

"घर—फिर संसार, खाली घर ही नहीं।" भौंहें नचाते हुए रवि ने कहा।

"घर हो तो फिर संसार भी होगा। यह तो जगत् की रीति है, तुम कोई नया करोगे?" हँसते हुए माँ ने कहा, "खाता नहीं, बस बातें कर रहा है।"

"कहाँ, मैंने तो कुछ भी नहीं पूछा।" रवि ने कहा, "अच्छा, बता तो करुणा बावरी बेचारा ज्वर में पड़ा था, उसके घर में खलबली मची थी। चावल भेज दिया। तुझे कहकर गया था न।"

"नहीं भेजती तो तू मुझे रहने देता? सारे रास्ते यही सोचता गया होगा।

उसकी बहन आयी थी। दो तामलोट चावल ले गयी है।"

"और वह सपनि केवट की माँ के दस्त हो रहे थे—कहा था, दो रुपये दवा के लिए...."

"सो भी दिये गये।"

"और एक बात माँ !...."

"जानती हूँ, उनके घर की गाय के बारे में न ? कुँई के फूल-सी बछिया हुई।"

आश्चर्य चकित होकर रवि ने ऊँचे स्वर में कहा, "बता-बता तो तू कैसे जान गयी माँ !"

हँसी से गदगद, रुक-रुककर बोली, "हूँ रे, तू मेरे पेट से जनमा है, तेरे मन की बात मैं नहीं जानूँगी, मुझसे भी बढ़ गया....।"

"हाँ, सब तो जैसे तुम जान गयी—"

"सब जानती हूँ, सब जानूँगी रे, सब।" उसने गर्व से उत्तर दिया।

केले के मड़े का रायता। तरकारी लेकर पहुँची जगूदास के घर की बहू कजली माँ, सतुरी दास की स्त्री। सतुरी दास उम्र में बट महान्ती के बराबर होंगे। उनकी स्त्री रवि की माँ से साल-छह महीने बड़ी होगी। किन्तु वैसे सतुरी दास रिश्ते में रवि का भतीजा लगते हैं। अतः कजली माँ रिश्ते में हुई बहू। सात बच्चों की माँ, कजली माँ का स्वास्थ्य कब का चौपट हो चुका। आदर के विचार से आड़ में खड़ी हो गयी। रवि की माँ से फुसफुसाकर कहने लगी, "छोटे काका कब आये? क्या छुट्टी हो गयी ?"

हँसकर रवि ने कहा, "हाँ, माँ, कह दे चाकरी से छुट्टी, सब दिन के लिए छुट्टी। चाकरी ऐसी थी कि मन नहीं किया।"

कजली माँ ने रवि की माँ से कहा, "इतनी पढ़ाई कर छोटे काका को नौकरी नापसन्द है, और गंधिया की बात तो देखो, माइनर भी उससे न हो सका, घर पर घास के एक से दो टुकड़ा कर नहीं सकता, इधर नौकरी का नशा उसे ऐसा चढ़ा है कि बस 'चाकरी करूँगा, चाकरी करूँगा' की रट लगाये हुए दौड़-दौड़कर पैरों के तलवे घिस डाले।....उसका भाग !"

गधिया उनका छोटा बेटा है। उससे बड़ा जोति है।

वह चली गयी।

रवि की माँ बोली, "जिससे सुनो यही बात। सब दुख में है। चावल अब रुपये का दो सेर भी मिलना मुश्किल, चलेगा कैसे ?"

"यही तो सोचने की बात है," रवि ने कहा, "जो लोग पढ़ाई कर नौकरी कर दूसरे गाँव में रहते हैं, वे सुख में रहें और दूसरों का कुछ हो न हो।"

रवि की माँ ने उत्तर नहीं दिया। उन्हें अपने बड़े बेटे 'कवि' की याद आ गयी।

रवि उठकर सीधा बाहर चला आया। चाँद छुपा न था, किन्तु कुहरा और धुँआ मिलकर कैसा धुँधला-धुँधला-सा हो गया है। दूर देखता खड़ा रहा। आँखों के

सामने आ गयी एक पुरानी तसवीर। मानो वह देख रहा है—घर नहीं, दीवार नहीं, छत नहीं केवल ऊपर-नीचे की विस्मृति के बीच पुंज के पुंज आदमियों का समूह। सब अपने-अपने परिसर की स्वतन्त्रता ओढ़े पड़े हैं। जैसे बेशुमार छोटे-छोटे बालू से बनाये हुए मन्दिर खड़े हैं कुहरीली चाँदनी के समुद्र के नीचे। एक उपादान से बने किन्तु अलग-अलग। कोई टूटे या खड़ा रहे अन्य दूसरे दौड़कर नहीं आते उसके पास, सहायता करने के लिए। सब एक-एक गढ़े जाते हैं, खड़े होते हैं, धीरे-धीरे टूट जाते हैं। फिर गढ़े जाते हैं। एक नहीं होते।

ऐसा है उसका गाँव। सब गाँव। काम बाकी पड़ा है।

मानो आदमी किसी अँधेरे अतीत में सृष्ट होकर धीरे-धीरे आगे की ओर गति पूर्वक बढ़ता आ रहा था। पत्थर के खोल से आये, पेड़ की खोह से आये, घर किया, समाज बनाया। आगे आ रहे थे दुनिया को एक करने, गढ़ने। बीच में रुक गये हैं। अपना-अपना स्वार्थ सत्ता की धुन में बहता स्रोत न बनकर, छोटे-छोटे सड़े-गले गड्ढे बन गये। बहुत काम बाकी है।

रवि के बढ़ते सपने के भावों की लहर उसे दूर तक ले गयी, मानो वह अगणित आदमियों के सुख-दुख से अपने मन को जोड़ना चाहता है। मानो उसकी खुदी समस्या के समाधान में नहीं, एक विशाल मानवीय सहानुभूति में एक कुहरी चाँदनी की रात की विस्मृति में अपने आपको परिणत कर कण-कण बन चारों ओर बिछ जाने में है। उसने स्वप्न देखा, आदमी-आदमी के हृदय को गूँथने के लिए और दुख पिघलाकर सुख उपजाने के लिए बेशुमार हाथ जुटे हैं, कोणार्क गढ़ा जा रहा है, उनमें दो हाथ उसके हैं, वह भी एक कारीगर है।

उसी जाग्रत् स्वप्न को ऊष्मा दे रहा था छवि का चेहरा—मानो उसके सामने कर सकने की-सी दृढ़ता दिखाकर अपने व्यक्तित्व को प्रसारित करने के लिए अन्दर से उद्दीपना आती है, मानो वह बीते-खोये मध्य युग का कवचधारी वीर पुरुष है। उसके व्यक्तित्व का प्रकाश लड़ते-भिड़ते, मारकाट में नहीं, गढ़ने में है।

तभी देखा कि पिता आ रहे हैं। उनके साथ मूसी पण्डा। दोनों सुख-दुख बतियाते समय, दुनिया-भर की बातों के बारे में अपना मन्तव्य तौल-तौलकर देते। रवि प्रतीक्षा करने लगा। प्रश्न आ रहा है।

उसे लगा, वह उत्तर दे सकेगा। कुण्ठा नहीं है।

पाटेली गाँव में।

बड़े तड़के सिन्धु चौधरी उठ बैठे, केवट बस्ती से एक साथ कई ढेंकियों की चिवड़ा कूटने की आवाज आने के साथ-साथ। इधर बावरी बस्ती के मुर्गे गोया शर्त-

लगाकर बाँग देने लगे।

इसी समय उठकर नित्यकर्म कर लेना उनका बहुत दिनों का अभ्यास है। इस गाँव का नहीं, यह चाकरी-गाँव का अभ्यास है। वहाँ नहा-धो अपने हाथों हाण्डी बैठा, चावल-दाल-हलदी-घी एक साथ राँधकर दिन-भर के लिए तैयार। फिर चाहे भात बाद में खाते रहें। घूमने का काम ठहरा, क्या ठिकाना। घर पर आने के बाद पहले की तरह सुबह की खीचड़ी खाना अब नहीं पड़ता। हाँ, जाग जाने का अभ्यास अब तक रह गया है।

कुछ ही देर में छवि की माँ उठेगी, और फिर छवि। घर का काम-काज आरम्भ हो जायेगा, रोज की तरह। यह भी मानो एक अभ्यास हो। इसमें घिसटकर एक के बाद एक दिन झड़ जाता है, उसका कोई हिसाब नहीं।

आज भी दिन जैसे आया है वैसे ही चला जायेगा। अकेले नदी नहाने जाते समय रास्ते में सिन्धु सोच रहे थे—ऐसा कोई और दिन शायद उनके लिए नहीं आयेगा। वे न होंगे। जीवन-भाटे की गति वे कब से अनुभव कर रहे हैं, उसका संकेत बढ़ता हुआ देख रहे हैं। अब संगी-साथियों से निवृत्ति। बस अपने को लादकर किसी तरह समय काटने का मन—उसके साथ भागवत।

चारों ओर आँख डालकर, जब हटने-हटने का अवसाद घिर आता, तब उनके जीवन की संचित अभिज्ञता के अन्दर से जीवन का रश्मि-तत्त्व आश्रय माँगता। झुकने पर लगता, यह भी सह लेंगे, यह भी भूल जायेंगे। छटपटाने से कोई लाभ नहीं। इस मानव-जाति के लिए देह को यह सब कुछ सहना पड़ेगा।

उसी के बीच कभी-कभी याद आ जाता—सजग जीवन का आवेश और पीड़ा किसी सामान्य बात से जागकर भागवत की शीतल शान्ति को हिला देती। मन फिर स्थिर होकर झूलता रहता, इधर-उधर कितना भूल चुका है।

विशेषतः वैसा तब होता जब अचानक सिर में घुसता कि समय घिसकता जा रहा है और उसके साथ-साथ याद आता कि कौन-सा काम अटका पड़ा है। तब जलती आग पर पैर पड़ने की तरह सारा व्यक्तित्व थर्रा उठता। लगता, छटपटाकर किसी भी तरह इस वर्तमान को समाप्त कर सकते! वेग की ज्वाला में देह और मन गरम हो उठते। इस पृथ्वी पर, इस जीवन में सारे सम्बन्धों में अपनी अवस्थिति की डोर लगा पाते। उद्विग्न होकर समय काटते-काटते फिर सब भूल जाते।

सोच रहे थे—छवि का विवाह नहीं हुआ।

चौड़ी नदी के बालू पर पौ फट रही है। घाट की ओर नहाने जाती औरतें अस्पष्ट-सी दिख रही हैं,। उस रास्ते पर धार चली गयी हैं। धार पर धार, कितने ही। संसारी आदमी चले जा रहे हैं—वे हटे नहीं। दायित्व कहने से जो भी समझ आये—अपनी-अपनी समझ से उसे पूरा कर रहे हैं ये सब। केवल वे अकेले सबके पीछे पड़ गये हैं। छवि उड़ जायेगी। तब उनका यह एक बड़ा आखिरी कर्तव्य भी पूरा हो

जायेगा। फिर कभी, एक के बाद एक, दो आदमी और चले जायेंगे। कब किस आदमी ने अपना अंश बढ़ाने की यात्रा आरम्भ की थी इस घराने में, इसका इतिहास चुक जायेगा। वे तो वही चौधरी हैं, वे खुद।

सुन्दर भोर उपज आयी। साँस में लम्बा दम भरकर भोर में से कुछ सोख लिया और आँखों से पी गये उसका रूप। अभ्यास वश याद आ गयी सदा की परिचित अनुभूति, अपने आप साकार बन गयी। वे पानी में उतर पड़े।

डुबकी लगा पानी में अंजुरी भर पूर्व की ओर मुँह किया। सामने की ओर नदी के उस तरफ़ पेड़ों की कतार पर कोमल सूर्य मुँह दिखा रहे हैं—आशा और आलोक की परिचित मूर्ति। उस उदय से चारों ओर सौम्य आनन्द खिल जाता है, उन्हें लगा। स्निग्ध चौधरी अपने खोल से निकलकर बाहर बिछे से पड़े रहे।

भीगी देह को छू रही है सुबह की हवा, अन्दर तक सिहर उठते हैं। यह हवा गुम होकर ऊँघने नहीं देगी, झकझोर देती है व्यक्तित्व को। आकाश में रंग-रंग के रास्ते खुल गये-से लग रहे हैं। मानो यह भी एक संकेत है। हिलते पानी पर एक ताजी प्रफुल्लता। आँखों को लगता है सुन्दर, स्निग्ध। मन में आनन्द। गोता खाती मछलियाँ दल पर दल बनाकर घूम रही हैं। चारों ओर जाग उठे हैं चलते-फिरते जीवन के चित्र। पानी के किनारे-किनारे बगुले और टेंटेई। ऊपर इस पार से उस पार हो रही है दल की दल चिड़ियाँ। दोनों ओर घाटों पर सुबह के नहानेवालों की चहल-पहल।

नहाने के लिए छवि और उसकी माँ आ रही होंगी, शायद भीड़ में मिल गयी होंगी आकर।

सदा की जैसी उदार शान्ति में अपने आसन पर मन को स्थिर रख ईश्वर के यश गाने का मन्त्र गुनगुनाते हुए वे गाँव की ओर लौट आये थे। इसके बाद भी जो होगा उसके लिए अभ्यास है। नहाने के बाद पूजा, फिर चिवड़ा-गुड़। चाहे जितनी बार भी पत्तल माँगें, छवि की माँ मना कर देती है। इसके बाद अरुचीरा आड़ी-टेढ़ी सिलाई किया हुआ चोकट गमछा पहने सीधे गाँव के बीच-चटशाला की ओर।

कितनी बार हँस-रूठकर छवि की माँ ने कहा कि एक धोती खरीद लो। सबका बस एक ही उत्तर—"पहले तुम्हारे लिए हो, फिर मेरे लिए।" कभी छवि की माँ छेड़ती, तुम्हारे तो दो भाई हैं, उनके लिए क्या नहीं किया, चिट्ठी लिखते हो वे क्या तुम्हें एक-आध धोती की व्यवस्था नहीं कर देते? एक क्या दो। इनसे भी क्या लाज करोगे? मैं न परायी हूँ, तुम तो उनके अपने भाई हो!"

आज भी उसी तरह छवि की माँ ने आरम्भ किया। आज भी चौधरी ने हँसकर टाल दिया। किन्तु छवि की माँ ने आज जैसे ठान ली थी। कड़े स्वरों में बोली, "तुम इस तरह धरमी बनकर कितने दिन बैठे रहोगे? बेटी को क्या बूढ़ी करना है!"

"ऐसी क्या उमर हो गयी, जो यों कह रही हो?"

"नहीं, नहीं, तुम्हारे लिए बैठी रहेगी! आज तुम नौका अवधान को बुलाओ।"

"ठीक है बुलाऊँगा, क्या हो गया ?"

"आज ही तुम अपने भाइयों को चिट्ठी लिखो। परामर्श माँगो।"

"बस लगी चकर-चकर करने। गया आज का सारा दिन, अशान्ति में।"

"तुम शान्ति से बैठे रहो। मुझे कहीं भेज दो।"

"क्यों व्यर्थ ही कहे जा रही हो ?"

"तुम तो कुछ समझोगे नहीं, नजर तो घुमाओगे नहीं। मैं क्या बाहर जाऊँगी या मुझसे कुछ होगा ? लिखो अपने दोनों भाइयों को कि रुपये भेजें, बेटी का ब्याह होगा। तुम्हारी तो यह अवस्था है। अपना पहना टुकड़ा भी फटा है। वे न देंगे तो फिर कैसे चलेगा, बताओ ?"

खीझकर सिन्धु ने कहा, "ओह, अच्छी बात कह रही हो। कभी देखा है तुमने किसी के सामने हाथ पसारा हो मैंने।"

"तब तुम्हारे हाथ में कलम थी। करज माँगने पर लोग अपने आप दे देते। अब किसी से कह देखो, कोई करज देगा ?"

"मैं कहीं गया क्या ? जब तक मैं स्वयं हूँ...."

"हाँ-हाँ, कौन इनकार करता है ? पर तुम्हारा अब मोल ही कहाँ रहा।" कहकर छवि की माँ लजाकर मुँह मोड़कर खड़ी हो गयी।

सिन्धु चौधरी ने गम्भीर होकर कहा, "जानती हो, मेरा मोल नहीं, फिर कहती ही क्यों हो ? क्या कटे घाव पर नमक छिड़कने के लिए ?"

वे धीरे-धीरे बाहर की ओर चल पड़े। पीछे से बढ़कर छवि की माँ ने कहा, "सुनो, मेरी बात को उलटा क्यों लेते हो ?"

"नहीं, मैं सीधा ही समझता हूँ। मेरा मोल नहीं, यह कोई मैं नया-नया समझ रहा हूँ ? जिसके पास पैसे का बल नहीं, उसका कोई मूल्य नहीं। न देश में, न घर में, न भाई के पास, न स्त्री के पास। यही तो संसार का मत है। तुमने क्या कुछ नहीं कहा।" उनके स्वर में भरी थी उदासी और क्लान्ति।

छवि की माँ की भावनाओं के प्रवाह में पड़कर छटपटा रही थी। आँखों में आँसू उमड़ आये, इधर लाज से मुँह जल रहा था। अपने को सँभालने की पूरी चेष्टा करती हुई स्वर को नम्र कर बोली, "अरे, मेरी बुद्धि भी कहाँ जल मरी, तुम्हें पान भी नहीं दिया।"

स्वर का करुण अनुनय स्वामी के प्राणों को छू गये। मुड़कर कहा, "आज तुम्हें क्या हो गया है।"

इसी में था—समझ-बूझ और क्षमा। छवि की माँ ने कहा, "आज सुबह से सिर चकरा रहा है, छाती धड़क रही है।"

सिन्धु चौधरी ने मजाक में कहा, "तुम ज्यादा मोटी होती जा रही हो न, इसीलिए।" वे हँस पड़े।

छवि की माँ फिर अगली सीढ़ी पर लौट गयी, "आज मधु-विधु के पास चिट्ठी लिखो तो सही। आज की बात आज। कल-कल करने से कोई लाभ नहीं।"

"तुमने क्या उनका सपना देखा है?"

"क्यों नहीं देखूँगी? अपने खास देवर हैं, बिना भावज के हाथ का पानी तक नहीं पीते थे। अब चाहे वे जो हों। पीछे हटकर रहने से काम नहीं चलेगा। जबरदस्ती आगे बढ़ना होगा। चिट्ठी लिखो, उनके पास जाओ, जो भी करो। वे रुपये देने को बाध्य हैं। जिसने जिसके लिए किया है वह उससे अपने लिए आशा नहीं करता है क्या...."

बीच में ही सिन्धु ने कहा, "नहीं।"

"रखो अपनी नहीं। उनके लिए तुमने भी तो अपना इतना सारा रुपया खर्च किया?"

छि: छि: क्या कहती हो? क्या भाई होकर मैं अपना कर्तव्य भूल जाता? पैसा क्या किसी के पास सदा रहता है? जिसके लिए जो किया सो किया। अब कहाँ सुयोग मिलता है—किसी के लिए एक पैसा भी खर्च करने को?"

"अच्छा! अच्छा, प्रतीक्षा करो।" छवि की माँ ने मजाक में कहा, "तुम सुख से रहो, मैं झुलसती रहूँ। सुनो, मैंने पेट फाड़कर बेटी जनी है, मेरे दो-तीन नहीं, बस यही एक है।"

सिन्धु ने समझाया, "क्यों भाइयों को लिखूँ? बिचारे कौन कहाँ बाल-बच्चों को लेकर अपने सुख-दुख में पड़े हैं। अब कौन आता है इस डीह में थूकने को भी।"

छवि की माँ नीचा सिर किये चुपचाप खड़ी रह गयी। सिन्धु चौधरी पटशाला की ओर चल दिये।

.

.

पटशाला का अहाता दिख रहा है। घनी लाल सेम की लता छा गयी है, असंख्य नन्हे-नन्हे हाथों जैसे अगणित लाल फूलों के निशान सीधे खड़े हैं, कुछ में लाल-लाल सेम भरी हैं। सुबह की धूप तिरछी होकर पड़ रही है उन पर। कौआ छत पर बैठा कुछ तोड़ रहा है।

मुड़कर बैठते समय दिख जाती है पटशाला की बाड़ी। केले की झाड़ी में केले झूल रहे हैं, लाल-लाल फूल लटके हैं गुच्छों के आगे। घने नीबू के पेड़ पर कई नीबू हैं, पीले-पीले से। सूरजमुखी, हरी मिर्च की पौध कमर तक ऊँची हो आयी है। सारे पेड़ में काले पत्तों की फाँक के बीच से काली-काली मिर्चें सीधी खड़ी दिख रही हैं। कतार की कतार पपीते के पेड़ एक-एक परसा ऊँचे खड़े हैं जिनमें छोटे-छोटे लोटों के आकार के फल भरे हैं। अमरूद और बेर के पेड़ प्रतिद्वन्द्विता कर रहे हैं कि कौन कितनी जगह

घेरता है। फल के बच्चे जैसे हैं, पर कितनी जल्दी बढ़ गये।

बैंगन भी दो-चार साफ़ दिखाई दे रहे हैं। ढेरों बैंगन, काले-काले। पास में टमाटर। एक हाथ ऊँचे मचान पर बड़े-बड़े फल झूल रहे हैं। देखने पर लगता ही नहीं कि यह बच्चों का लगाया बगीचा है। यहाँ हैं नाना प्रकार की साग-तरकारी। सब में कुछ-न-कुछ लगा है।

अरे जा! छान में फूस न पड़ सकी इस वर्ष—किन्तु चौधरी सोचने लगे। शुरू में गाँव के लोगों में कितना उत्साह था—अब धीरे-धीरे धीमा होता जा रहा है।

सौ हाथ पर साठ हाथ का अहाता है चटशाला का। बीच में दस-बारह हाथ का लम्बा मकान। माटी का घर, फूस की छत।

जगह उन्होंने ही दी थी। इसके अलावा पुराने घर से पत्थर। गाँव के लोगों ने काम किया था। लाल अण्डी के लम्बे-लम्बे पेड़ से बाड़ खड़ी की गयी है। बाड़ के सहारे-सहारे अनेकों काठ चम्पा। पत्ते ही नहीं, फूल भी हैं। चारों ओर अपराजिता; सफेद, नीली, लाल कनेर। उस पर भी फूल लदे हैं। आँखों को सबसे ज्यादा खिंचने वाले आठ कच्चे-कच्चे नारियल के गाछ थे। चार कोनों में चार और सामने की तरफ चार। घर की छान-जितना उठते न उठते फलने लगे हैं। ढेरों फल। बस इतना भर गाँव के लोगों की मेहनत से हुआ। सामने का पोखर उलीचते समय वे लोग ही तो इनकी जड़ों में कीचड़, खाद और घोंघे उँडेल गये थे।

बाड़ के दरवाजे पर जो गोल छावनी है उस पर मधुमालती छा गयी है। इधर-उधर फूलों के झूमके लटक रहे हैं। यह भी उन्होंने ही किया था, घर खड़ा करने से लेकर कुँआ खोदने और बगीचा लगाने तक। बच्चे दो आखर सीखेंगे, अतः कितना आग्रह है उन लोगों में।

सामने की ओर से यह सब दिख रहा है। छान पर कुम्हड़े और लौकी की बेल सूखकर सोयी पड़ी है, किन्तु लौकी के फूलों पर जगह-जगह हरे-हरे अंकुर निकल रहे हैं। सूखते-मरते हुए भी फल-फूल रही है वह लता। फाटक के पास, फिर फाटक से दरवाजे तक, और छान के नीचे-नीचे, रस्सी से बँधे श्रीपंचमी के दिन के आम के तोरण सूख गये हैं, फिर भी हैं।

बाड़ के पास से चटशाला के दरवाजे तक जाने के लिए सपाट रास्ता है। दोनों ओर दो-दो हाथ पर मल्ली के पौधे लगाये गये हैं। खेलने के लिए खुला घास का मैदान छोड़ दिया गया है, किनारे-किनारे पर जगह-जगह लम्बे टगर के पेड़ हैं। छोटे-छोटे लाल कनेर और लाल मन्दार के झाड़ हैं। जूही, हिना। लम्बे-लम्बे पत्ते फैलाये दो-तीन किस्म के केदार फूलों के भी पौधे हैं। एक ओर कुँआ और बाँस का बना रहट। उसके पास गोल घेरेदार अशोक की झुरमुट, गुच्छ के गुच्छ झुमकों जैसी कलियाँ हैं, जिनमें कोई-कोई खिल भी गयी है।

चटशाला के अहाते के पश्चिमी भाग में, पुराना पसरनेवाला बरगद अपनी दो-दो पोरसा ऊँची जड़ें काठ के खम्भों की तरह फैला खड़ा है। सामने बड़ा पोखर, लाल-लाल पद्म से भरे पोखर के बीचों-बीच बने खम्भे पर कबूतरों की भीड़ जमी है। पद्म-पत्रों पर हलके-हलके पैर टिकाते दौड़े जा रहे हैं डाहुक। पनकौवे, हंस और बगुले खेल रहे हैं। पास में खुला-फैला मैदान। उससे सटकर आम के पाँच पेड़। और इधर-उधर बस्तियाँ, नारियल के बगीचे, आम के बगीचे, पास-पास लम्बे-लम्बे नारियल के झुरमुटों के नीचे कतारों में बसे घर, ऊँचे चबूतरे।

घर और अपनी समस्या पीछे छोड़कर यहाँ दिन बिताते-बिताते यह दृश्य सिन्धु चौधरी की अवस्थिति का सहज चित्र-सा बन गया है। यही आँखों के सामने, नितान्त आत्मीयता लिये, उनके जीवन का सहज दृश्य रूप खिलाता है। ये परिचित लोग, कोई गोबर चुग रहा है, कोई गाय हाँक रहा है, कोई हल लिये खेत की ओर जा रहा, कोई नहा-धोकर भीगी धोती बांधे कन्धे पर गीला गमछा डाले कुछ मन्त्र गुनगुनाता घर लौट रहा है। 'गाछ की जड़ों में जड़ें गुँथ जाने की तरह जैसे अनादि काल से ही यह सब मानो परम्परा के अंग बन गये हैं।

इन सबों के साथ उनका भी सम्बन्ध है। इन आदमियों के साथ आदमी बन, और पेड़-पौधों, गाय-बकरियों में, उनके संगी-साथी बनकर दिन पर दिन बीत गये हैं। वर्ष के बाद वर्ष। इसी तरह सात वर्ष बीत चुके। बाहर को तो जैसे बिलकुल भुला दिया।

कभी चाँदी की जेब-घड़ी थी, हृदय के साथ सटकर टिक-टिक करती रहती। घड़ी के पुर्जे टूट गये। अब हर बात पर जीवन के हर क्षण में, उसका वह दिखावटी घिसा-पिटा चेहरा याद नहीं पड़ता—जिसमें बस चोंय-पोंय मची रहती थी, जो सदा दबाव डालती रहती कि इतने बजे गये, उतने बजकर इतने मिनट हो गये, समय गया।

यहाँ वह रोग नहीं है।

अखबार वे नहीं पढ़ते, चिट्ठी लिखते नहीं, शहर की ओर आना-जाना करते नहीं। बस यही चटशाल, और घर, और गाँव का परिसर। आँखों के सामने नीरव धूप-छाँव का खेल। कानों में परिचित संगीत की तरह आदमियों के घर-गृहस्थी की हो-हा। लोग बातें करते, धोबिन कपड़े धो रही होती, सर-सर कर खेत की ओर जाता हुआ हल।

सब जगह जीवन। सब घटों में ब्रह्म, और ब्रह्म ही जीवन।

यही चटशाल। यही—।

अरे, अबतक खाली है? कोई आया नहीं? चिन्ता में पड़ गये। उन्होंने तो कोई छुट्टी नहीं की थी।

मुफ्त की चटशाल, पैसे लगते नहीं। माहवारी न देने पर भी उसकी विधि-नियम-शृंखला, किसी में कोई कमी नहीं। बच्चों की संख्या बढ़ती ही जा रही है।

आज बच्चे अभी तक आये नहीं। घटशाला मानो गाने दौड़ रहा है। पहले जब बगीचे का एक चक्कर लगाते, तब बच्चे भी पीछे-पीछे दौड़ते। छवि यही पढ़ाई पूरी कर घर में रह गयी। बँधा नेम नहीं, प्राथमिक शिक्षा देते हुए ही उद्भिद-विद्या, प्राणी-विद्या, साधारण-ज्ञान, ऊँचे स्तर का उड़िया साहित्य, समाज-नीति, भूगोल-इतिहास, कृषि-विद्या, सूत कातना, यहाँ तक कि जरीब-नाप,—जितना कुछ वे जानते और सिखा सकते हैं, सब कुछ बच्चों को सिखाने की चेष्टा करते हैं। कभी-कभी बढ़ई, लुहार, कुम्हार, पुराने किसान, ग्वाले, पुराण बाँचनेवाले पण्डा, ये लोग उनके बुलाने पर भी आ जाते, बच्चों को अपनी-अपनी विद्या के बारे में कुछ बताने के लिए।

पुराने युग का स्मारक वह बगीचा! और उस डीह पर स्कूल बसाने का निर्णय स्वयं उन्होंने ही किया था। पहले यह बगीचा चौधरी वंश के ऐश-मजलिस करने के अनेक स्थानों में से एक था।

बच्चे अभी भी नहीं आये!

मन कुम्हला-सा गया। लगा, जैसे इस सुन्दर छबीले बगीचे का कोई अर्थ नहीं। इतनी तितलियाँ उड़ रही हैं, यहाँ से वहाँ उड़कर बैठ जाती हैं, लम्बी पूँछवाली मैना और काले कलिंग, हर रोज़ इसी समय कहीं से हल्दीबसन्त उड़कर आता, बच्चे नारियल के एक पेड़ से दूसरे पर उड़-उड़ जाता, लुका-छिपी करता-फिरता। वह भी आ गया। वह नेवला रहा, वन-चिड़ियों का दल उसके ऊपर ही ऊपर उड़ता हुआ चहल-पहल मचा रहा है, धीरे-धीरे वह दूसरी ओर चला गया। इतने दृश्य होनेपर भी वे नहीं हैं जो इन दृश्यों में जीवन भर देते हैं—बच्चे!

चारों ओर उन्हीं के हस्ताक्षर तो सजे हैं। धरती पर इतनी रेखाएँ कि मिटाये नहीं मिटतीं। किसी ने माटी कचोटकर घोड़ा बना लिया, किसी ने माटी का खिलौना। नारियल के पत्तों की चटाई, जटाओं को बटकर रस्सी, बुनी हुई रस्सी से चटाई बनाने की चेष्टा, लकड़ी के टुकड़ों के खिलौने, विमान, कागज के तो रंग-बिरंगे फूल, कोयले से बनाये गये चित्र, खड़ी से बनाये गये चित्र, इन सबसे ही नन्हे-नन्हे मन की कल्पनाओं को रूप देते हैं। कोई सलेट छोड़ गया, किसी का सुन्दर लेख का खाता रह गया। इस कोने में किसी की फटी किताब, एक स्याही की दवात। कंकड़, ठिकरियाँ, इमली के कोये, घुँघचियाँ आदि। कितना खाली-खाली लग रहा है। आदमी नहीं, अलबत्ता, जगह-जगह पर आदमी की स्मरण-मूर्तियाँ हैं।

मानो इस दुनिया से आदमी हट गये हैं। केवल वे ही हैं, अकेले!

अण्टी से कुंजी निकालकर काठ का बकस खोला, एक बकसे में से चरखा और कुछ रुई निकाल उस नारियल की चटाई पर बैठ सूत कातने लग गये। इधर दीवार पर महात्मा गान्धी की तसवीर मानो उनकी ओर देखकर मुसकरा रही है।

सोचने लगे, ऐसा भी दिन कभी आयेगा—यह उन्हें पहले से ही लग रहा था। जबकि बच्चे आयेंगे नहीं, चटशाला का घर खाली पड़ा होगा।

अनुष्ठान खुला रहेगा पर आदमी न होगा।

सोचने लगे, यही तो असल समस्या है। अनुष्ठान गढ़ना कठिन नहीं, कठिन है आदमी के मन को गढ़ना। ये इतने वाद-विवाद, स्वार्थ, हिंसा दिन पर दिन बढ़ते जा रहे हैं। कौन जानता है, कब क्या विकार मन से फूटकर निकलेगा, कोई सन्देह या नासमझी साकार रूप लेकर बारूद की तरह फूटेगी, फूटकर निकलती रहेगी। उसके बाद तो खाली भेदासुर की गरज, कलह, तकरार।

यही भेद एक दिन बढ़ जायेगा, हाथीशाल की तरह ढेर के ढेर घर पड़े रहेंगे सूनसान होकर। जंगल बढ़ जायेगा—चारों ओर घिरता चला जायेगा। आदमी सहमा पड़ा रहेगा अपने-अपने अँधेरे खोल में, केवल बहस-बाजी, हथियार मिलेंगे भी तो केवल एक दूसरे पर वार करने के लिए। वही हिंसा की होगी चरम स्थिति। गाँव क्या शहर क्या राज्य क्या और दुनिया क्या। सच मानो, उत्तर के लिए उन्होंने दीवार की तसवीर की ओर देखा। चित्र में चेहरे पर वही हँसी। लगा जैसे पुतलियाँ हिल-डुल रही हैं, चित्र में होंठ काँप रहे हैं।

चरखे ने संगीत छेड़ा है। चक्का फिर रहा है, सूत लम्बा हो जाता है। वे लपेट देते हैं। आँखों के आगे तैरकर मिट जाती हैं कितनी छवियाँ। आदमी हिसाब करता है, मिलाकर गुणा करता है, दो और दो मिलकर चार नहीं होते, सहज परिणति असहज हो जाती है, अक्षर मिट जाते हैं। छवि की माँ 'भाई-भाई' कहकर उलाहना देती है, विधु रह गया पुरी में, मधु बस गया नयागढ़। केवल दो नाम। कब भेंट हुई थी ? कितने साल पहले ? वे दोनों भी एक दिन थे—इसी पिण्ड के अटूट अंश। इसी रक्त की, इसी हृदय की एक धार थे। बड़े बहुएँ आयीं। इसके बाद चले गये। चचेरा भाई सत्यवान, गुरु के पिता, इंगिसर में थे—छह कोस की दूरी पर। कभी-कभी आते। देखा-देखी हो जाती। मशीन जैसे अपने ढंग से चलती। जितनी चाबी दी गयी, उतना भर। जिस रास्ते जिस ढंग से चलने के लिए बनी, बस उतना ही। वह थोथी हँसी। वह निरर्थक दृष्टि। आदमी ही नहीं, मन भी उड़ गया। जन्म-परिवर्तन-मरण। आँख खोलना, आँख मोचना। जीवन का क्या कोई अर्थ नहीं ? यह स्पन्दन, चेतना मय यह स्पर्श—पर और सूक्ष्म होने पर उसकी ओट में कहीं अर्थ है, जिसमें उद्वेग नहीं, हलचल नहीं, स्थिर आनन्द है, स्थिर शान्ति है, भागवत कहती है।

चरखा चल रहा था। सिन्धु चौधरी उसमें मग्न हो गये, मानो उसकी गति में अपने को भी मिला दिया हो।

सन् १९२१ की बात। अब तो बहुत दिन बीत गये।

सिन्धु चौधरी की पहली नौकरी ही थी, सेटल्मेण्ट अमीन। जीभ को पैसे का

स्वाद लगा है। उमर खोजती है भोग। मन चाहता है धन कमाकर धँसती हुई पुरानी गरिमा को उठाकर खड़ी करने को। जमींदारी जा चुकी थी, अब सुनते-सुनते इस बात को सहन कर लेने की आदत पड़ गयी थी। आशा की किरण दिखी नौकरी में, शायद कुछ किया जा सके।

तब घर झुका जा रहा था, टूटा न था। फिर भी इस अकेली हवेली में सात-भाइयों का कुटुम्ब। अस्तबल में घोड़ा भी बँधता, यद्यपि था वह बूढ़ा और रोगी। बाहर के धूल से भरे घर—हाड़-चाम बचे हाथी की तरह खड़े हैं। जैसे उसके शरीर में जगह-जगह घाव हो गये हों। स्थान-स्थान से फूट-टूट गये थे। फिर भी इन घरों में ठुँसे पड़े थे काठ के सन्दूक, पुरानी आलमारियाँ, थाक की थाक ताड़-पोथियाँ, पीढ़ी-दर-पीढ़ी की वंशावली, जो यह बताते हैं कि किस पूर्वज ने क्या किया था, आदि-आदि। और वैसे ही साल-दर-साल जमींदारी की आय-व्यय का हिसाब, और भी कई कारबारों का। चाँदी के झाड़-फानूस, पीतल की दिहुटी, बड़े-बड़े नहाने के कुण्ड, लीला का सामान, ठाकुर जी की सवारी निकलने के लिए और फिर जमींदार के पधारने के लिए चँवर, छत्र, दण्ड, तुरही और चाँदी का छत्र। वैसे ही भाँति-भाँति के हथियार—तलवार, चैन, बरछी, फरसा, खाण्डा, अंकुश, भाला, ढाल आदि कितने कुछ। और पहले के ज़माने में पहरेदारों के हाथ में रहने की पीतल के कोने लगे डण्डे। गठरी की गठरी पुरानी पोशाक—ज़रीदार, लाल-पीली-नीली रंग-बिरंगी। किसी-किसी में छींट लगी है। चौधरियों की और उनके गाँवों के नाना कर्मचारियों की पगड़ी, अँगिया, कमरबन्ध। चूहों के कुतरे हुए और कीड़ों द्वारा छेद-छेद किये पुरानी बेंत की पेटियों में भरे थे। और फिर हाथी-घोड़ों की पोशाक, साज आदि कितनी ही चीज़ें।

चार-पाँच सवारियाँ थीं, टूटी और दीमक खायी हुई पालकी, जिन पर सुन्दर कारीगरी की गयी थी। चाँदी के बड़े-बड़े खोल थे हत्थों पर और उनपर मगरमुहाँ काम, मखमल का साज, छींट के बने सालू के ढक्कन, सबको चूहे और दीमक ने काट-पीट रखा है।

कूड़े-करकट कबाड़ भी ढेर के ढेर ठुँसे थे, फेंके नहीं गये थे। चिड़ियों और चूहों ने घर बसा रखे थे। खीर घूमने। बच्चों को उधर जाने से मना कर दिया जाता, फिर भी बच्चे आँख-मिचौनी खेलते उधर निकल जाते, कभी-कभी किसी चीज़ से ठोकर खाकर चोट भी लगा लेते।

तब हवेली से कुछ ही दूर पर बाड़ा था जहाँ कतार की कतार गैरुई गाय-भैंसें बाँधी जा सकतीं, पत्थर का फ़र्श। नाला इस सिरे से उस सिरे तक बना था, सो भी पत्थर का। कतार में नाँद रखी होती। घर टूट रहा था, तब भी चार जोड़े बैल और तीन-चार गायें थीं। बाकी सारा दालान खाली पड़ा था। नीचे से ऊपर तक मकड़ी के जाले। जगह-जगह बाम्बियाँ, और टूटी-फूटी मिट्टी के ढेर यहाँ-वहाँ।

और ये चौधरियों के प्रसिद्ध भंडार। टूट जाने पर भी ये थे, ढह नहीं गये थे।

मन्दिर के चारों ओर बनी प्राचीर की तरह हाथ-भर मोटी दीवार चारों ओर। नारियल के गाछ, सामने काफी खुली जगह, एक जगह खलिहान, धान के ऊँचे-ऊँचे ढेर, धान सुखाने के लिए चौड़ा चिकना फर्श। दूसरी ओर बैलगाडियों के रहने की जगह। दरवाज़े के ऊपर गज-लक्ष्मी की मूर्ति, सामने नक्काशीदार चबूतरे पर पत्थर की हाण्डी। वही छाती-भर ऊँचाई पर तुलसी-चौरा। अहाते में चौकोर दीवार के सहारे-सहारे छान, जिसके नीचे खेती के सरंजाम—टोकरी, डाली, हल, जुआ आदि। और कतार के कतार पुराने ज़माने के कोठार, धान रखने के लिए। काठ की बुहारियों पर माटी से बने घर के आकार में होते। धान भरने के लिए हाथ भर का किंवाड़ और निकालने के लिए नीचे की ओर रास्ते, जिनपर बड़े-बड़े कुलफ झूलते। ऐसे कितने ही कोठार थे। कई फूट गये, कई फट गये। कुछ खाली पड़े हैं। अन्दर घुसते ही डर लगता, लोग कहते हैं कि जाने कहाँ-कहाँ से आकर भूत बस गये हैं उनमें।

तब भी सेवक नित खटते थे। हुकम बजाते। त्यौहार के दिन मिलने आते तो साथ आलू, अरवी, मछली या साग-सब्जी ही लाते, जमींदारी की जो प्रजा कलकत्ता या काली-माटी चले जाते वे अपनी इच्छानुसार मनिआर्डर कर भेंट के लिए रुपये भेजा करते। रुपये की मछली के लिए चौधरी अगर चवन्नी फेंक देते तो भी कोई मुँह न खोलता। नौकर-चाकरों की चहल-पहल थी, हलवाहे, दास-दासियाँ भी थे। काम करनेवाले यदि गाली-गलौज भी सुनते या दो-चार धौल खा लेते तो भी मुँह नहीं खोलते। 'पीठ में सहा तो पेट में खाया' कहकर सह लेते और चले जाते। नाम फैला हुआ था। सात खण्ड में ध्वजा फहराती थी। थाने से मुंशी जी आते या डाकिया आता तो रहने के लिए कमरे थे। भोजन-पानी की व्यवस्था थी।

तब दोपहर की नींद से उठकर 'हजूर' चौकी पर बैठ शतरंज और पाशे बिछा देते। घर में मिठाइयाँ बनतीं, पीठियाँ तली जातीं। औरतें पीकदान के पास बैठकर अलसायी बैठी बातें करती रहतीं। बच्चे कबूतर उड़ाते।

पीला पड़ता जा रहा था पुराना चलन। खोखला और ढीला। बाहर कूड़ा-करकट। दीवार पर सुन्दर माडने लिखे हैं फिर भी कोने-कोने में पान की पीक भरी है। बिना मरम्मत का सारा घर। आँगन के नाले में से गन्ध। सतरंजी और पुराने बिस्तरों में धूल।

दर्प और अहं अब भी था। केवल शक्ति न थी। प्राचीन आभिजात्य की लाश पानी में फूल जाने पर भी विश्वास नहीं कर रहा था कि वह मर चुका है। तब भी आशा लगी थी। चलता आया है—चला है—चलेगा—सदा ऐसे ही।

आया १९२१-१९२२। हवा में उड़ता नया नाम आकर कानों से टकराया—

'महात्मा गान्धी !'

अब यह कौन ? अँगरेज ही तो राजा है, यह ब्रिटिश सरकार ।

"वह महात्मा है, अवतार है । धरती का भार बढ़ गया, अत: आये हैं । हाथ में चक्र की तरह चरखा है । कमर में लँगोटी । साथ में गण भी हैं कुछ, जैसे उड़ीसा के गोपबन्धु । सत्य आयेगा । कलियुग पूरा हो गया । सतयुग आता है ।"

घर-घर में स्त्री-पुरुषों ने हाथ जोड़े । मन्त्र की तरह गुनगुनाया, "गान्धी महात्मा ! महात्मा गान्धी !" चमत्कारी आशा और ऐसे मान से पूजा करने लगे उस नाम को । विश्वास किया कि अब दुख नहीं रहेगा, भूख नहीं रहेगा, पाप नहीं रहेगा, देश का उद्धार होगा, युग बदल जायेगा, अब किसी बात का डर नहीं !

"स्वराज आयेगा, भारत स्वाधीन होगा ।"—बात फैल गयी । कैसा है यह स्वराज ? अँगरेज चले जायेंगे । लाल-पगड़ी और लाल आँखें नहीं रहेंगी । न अनाचार रहेगा, न अत्याचार, न शोषण । अपना समझकर अपने देश पर शासन करेगा अपना आदमी । हमारा सनातन आचार-विचार, धर्म-कर्म फिर पूर्ववत् ही आयेगा । सब सुख से खा पीकर जी सकेंगे ।

गाँव का चौकीदार पोशाक पहन थाने में ड्यूटी करते समय मन ही मन सोचता, "अब ये लोग जायेंगे । दिन तो हो गये । महात्मा आ गये ।"

हाट में, घाट में, भागवत-घर में, पासा खेलते समय, सबके मुँह से यही बात—"कलियुग बीत गया, गान्धी-युग आ गया ।"

इस वार्ता के प्रचारक की तरह गाँव में आ पहुँचे सुभार्थी साहू । लम्बा कद, बड़ा, गोल चेहरा, आँखों पर चश्मा । मोटा खद्दर पहने घुटनों तक धूल से सने आ पहुँचे । उनसे पहले गाँव में आ पहुँची उनके नाम की महक । पढ़ाई इतनी की कि गाड़ी की गाड़ी किताबें ! चाहते तो सरकार आगे कितनी बड़ी नौकरी दे देती । ऊपर से कितने बड़े खाते-पीते घर के आदमी ! जमीन-जायदाद, कोठा-बाड़ी-व्यापार—किस बात की कमी थी । उनका घर साहू-घर कहाता । उनके यहाँ कितनों ने उधार नहीं लिया, कितनों ने क्या-क्या नहीं खाया ! इलाके के बड़े खानदानी घरवाले हैं ये लोग । और अब सब छोड़-छाड़ इसमें शामिल हुए हैं । नंगे पैरों चल-चलकर पैर छिल गये हैं । खाने को रूखा-सूखा, जहाँ जो मिला । सोने के लिए किसी के घर का चबूतरा या खुली जगह । सब ओर से निर्विकार ।

वे आये थे । कोई हँसा, कोई खूब रोया । एक साथ मिलकर सबने नारे लगाये थे । गाँव के कीर्तनियों ने मृदंग बजाकर जबानी ही जबानी स्वाधीनता के गीत रचकर कीर्तन करते हुए फेरी की थी, पुराना संकीर्तन गाया । ऐसे ही इस देश के गाँव-गाँव में फैला था—श्री चैतन्य, जिसे गाने पर या सुनने पर आदमी का हृदय खिंच आता, प्रेम से पुलकित हो जाता । किसी ने सिखाया नहीं, फिर भी पगड़ बाँध हल पकड़कर किसानों ने जुलूस निकाला था । पंक्ति-पंक्ति में गाँव की चटशाला के छात्र, भीड़ की भीड़ गाँव

के लोग। और वैसे ही गाँव में बहुओं ने एक साथ हुल्लहुली लगायी थी। पीले चावल छिड़का था, घी का दीप जलाकर स्वागत किया था। शंख बजाया, ढोल पीटा। शुभ मंगल के लिए जिसे जो आया, उसने वह काम शुरू किया। हृदय झूम उठा था। नदी के इधर-उधर कोस-कोस से लोग सुनने आये थे, हजारों कण्ठों से एक ही अभय वाणी! जाग उठी भारत की प्रथम जीवन्त भाषा :

"महात्मा गान्धी की जय।
भारत माता की जय॥"

गाँव के चौक में जगह नहीं होगी इसलिए नदी के किनारे घने बरगद के नीचे सभा हुई। दूर तक लोग भरे थे। वे क्या एक गाँव के लोग थे! मानो मूलन का मेला लगा हो, परिचितों से भेंटा-भेंटी। लकड़ी थामे, काँपते बड़े-बूढ़े, गोद में बच्चे लिये औरतें। खबर फैलते ही यहाँ-वहाँ से लोग आकर जमा हो गये! सिर पर से धूप उतरते न उतरते एक बड़ी सभा जुट गयी।

और सुभार्यो साहू ने कहा, "यही वह पाटेली गाँव है, जिसका नाम चारों ओर है, लोगों की जीभ पर। आज भी है इस गाँव के चौधरी, जिनके पूर्वज थे योद्धा, वीर सेनापति। अपने पराक्रम के बल पर उन्होंने चौधरी पदवी पायी थी। अकेले न थे, उनके साथ और भी अगणित नर-नारी थे। क्या आज वही रक्त पानी हो गया?.... बोलो भाइयो, भारत माता की जय! महात्मा गान्धी की जय!"

कितने नये शब्द! देश-भारत-स्वाधीनता-स्वदेशी-महात्मा गान्धी! केवल शब्द या केवल मन्त्र ही न थे। इतने युगों का अँधेरा, अवसाद को जलाने के लिए आग के गुल्म थे। और जीवन्त बीज, जो पड़ते न पड़ते उग आये, पेड़ हो गये।

सुभार्यो साहू चले गये। किन्तु देश में हलचल मच गयी। "भाई रे, आज दिन आया है।" गीत गाते-गाते इस गाँव के हिन्दू और शमशेरपुरिया मुसलमान एक साथ गले से गले मिले। जात-कुजात, चमार-ब्राह्मण, सबने एक साथ महोत्सव मनाया। घर में चरखा चल पड़ा। बूढ़ी-बड़ेरियों ने बहू-बेटियों को सूत कातना सिखाया और बातें बताने लगीं कि कैसे पुराने जमाने में वे सूत काता करती थीं। चरखे के साथ-साथ तांत लगी। बाड़ी में, खेत में कपास उगाने लगे। सबसे चन्दा उगाहने लगे और धन इकट्ठा किया जाने लगा। 'मुष्टिभिक्षा' के लिए घर-घर में मटका रखा गया। वर्षों के पुराने कलह-झगड़े भूलकर लोग एक साथ मिले। गाँव में एकता बढ़ी। नशा-पानी छोड़ने की बात गाँव की गली-गली में समझायी जाने लगी। किसी-किसी ने तम्बाकू तक छोड़ दिया। जिससे भी सुनो, एकता की बात, स्वराज की बात! बच्चे-बूढ़ों को एक कर ढिबरी जलाकर पढ़ाई शुरू हुई। जिसके घर में जो किताब थी, वही लाकर गाँव में 'लाइब्रेरी' की स्थापना की गयी। वहाँ हमेशा चलती स्वराज्य की बात। महात्मा गान्धी की चर्चा होती। तभी बन गया पढ़ने का कमरा, जो जितना जानता उसने उतना ही सिखाया। विदेशी वर्जना खूब जोरों से चली। गाँव के छोकरे घर-घर घूमकर विलायती साड़ियाँ

भेड़ा निरन्तर जा रहा है। बाड़े के अन्दर घुसने के लिए भरसक कोशिश कर रहा है। पीछे से मागुणि बेहेरा की आवाज आयी—"क्यों समधी, मन्दमति ने क्या किया ?"

चटशाला के सामने हाथ हिला-हिलाकर अर्पति फिर गाने लगा :

"शुण शुण मन्त्रीवर राज्यर ये समाचार"

मागुणि उकसा रहा था—"हाँ-हाँ...."

अर्पति कहता जा रहा था :

"क्या हाँ भरते हो !...."

मन्त्री

मन्दमति किला न कला (क्या नहीं किया)

कुलर मुँहरे कालि बोलिला (कलंक लगाया)

पोल वयसोर बहुत (साहस) देल

निछाटि आ बेळे बारि आब मूळे

(निर्जन बेला में बगीचे के आम तले)

पर भेण्डिआ कु डाकि आणिला

(दूसरे जवान मर्द को बुला लायी)

कान पुणि या शुणिला (कान ने फिर ये बात सुनी)

अर्पति ने पूछा—"मन्त्री !"

मागुणि बोला,...."हाँ....हाँ !"

"अरे तेरी लड़की बड़ी, कि गाँव के भाई-बिरादर ?"

मागुणि बोला, "भाई-बिरादर।"

अर्पति बोला, "तो ऐसा करो, उसे गाँव से बाहर करो उसके मुँह पर गोबर पोतकर।"

और उसके बाद भेड़े को जबरन घसीटकर ले गया।

सिन्धु चौधरी ने सब सुना। ललाट पर का चाम तन गया, कुंचित हो गया। पर फिर चरखा चलने लगा।

लोकनाथ नायक के घर के सामने उसकी बुढ़िया चटाई पर उसना धान सुखा रही थी। पैरों से ठेल-ठेलकर फैलाने में लगी थी। कुछ हटकर बछड़ा खूँटे से बँधा था जो बार-बार धान की ओर देख सिर हिला रहा था, जीभ चाट रहा था। लोकनाथ नायक की बहू बच्चों के मैले कपड़े-लत्ते एक साथ गठड़ी में बाँध पोखर की ओर जा रही है, पास ही पोखर से कपड़े धोने की आवाज सुनाई दे रही है और साथ-साथ

औरतों की चहल-पहल भी।

सिन्धु चौधरी पहुँचे।

"नायक हैं क्या ?"

लोकनाथ नायक की बुढ़िया ने देखा और हाथ-भर का घूँघट आगे खींच लिया। पैरों से धान बिछाना थप से बन्द कर दिया और एक तरफ टेढ़ी होकर खड़ी रह गयी। बुदबुदाती-सी कहने लगी, "आज क्या भाग जगे आप सामन्तजी पधारे द्वार पर। क्या करूँ हे रामा, इसी समय तू भी कहाँ गया !" सुविधा देख दो कौवे आकर फक-फक कर कूदते हुए धान चुगने लगे। लोकनाथ नायक की बुढ़िया मान-सम्भ्रम भूल हाथ उठाकर गालियाँ देती हुई कौवे उड़ाने दौड़ी—आग लगे कौवे ! मुँहजले, आदमी इतने कष्ट से तो धान उसनाकर सुखाता है, क्या तुम्हारे मुँह में डालने के लिए रे ?"

सिन्धु ने फिर पूछा, "क्यों नायक जी हैं ?"

धान पर आँखें, कौवे पर निगाह, बछड़े ने भी रस्सी ढीली कर ली, उधर भी ध्यान, मान्य-मानता के कारण दबी-दबी आवाज में बुढ़िया ने कहा, "नहाकर पूजा में बैठे थे। पूरी हो आयी होगी। जाती हूँ, बुला देती हूँ।"

बुढ़िया चली गयी।

लोकनाथ नायक आ पहुँचे। ऊँचाई में बूढ़े सिन्धु से भी चार अंगुल बढ़कर। दोनों कानों पर खड़े कितने रोयें पक गये हैं, आँख की पलकें भी सफेद हो गयी। छाती-भर में रोओं का जंगल। वह भी पकने लगा है। काली देह पर सफेदी। सिर दाढ़ी सहित एक पकी हुई अवस्था की सूचना देता है, किन्तु झड़ने को नहीं, दोनों कन्धे अभी भी चौड़े हैं, बल है।

चौधरी को झुककर प्रणाम कर लोका नायक ने कहा, "आप आज किधर पधारे ? किसी से बुला लिया होता !"

"अरे छोड़ो, क्या मिलेगा, जिसका काम, उसे खुद ही आना ठीक है।"

दोनों हँस पड़े, दोनो जानते हैं कि बुला भेजने के लिए आदमी भेजना अब चौधरी के हाथ की बात नहीं रही।

चौंककर लोका नायक ने पूछा, "काम ? जी कुछ काम है ? पंचांग लाऊँ क्या ?"

"सो तो पीछे होगा। पहले जिसके लिए आया हूँ सो तो कह लूँ। छवि के ब्याह के बारे में...."

तुरन्त ही लोका नायक ने 'मंगलं भगवान् विष्णु'—कह मंगलाष्टक शुरू कर दिया। अप्रस्तुत हो चौधरी ने कहा, "ओहो, ठहरो भी, कौन-सा मुहूर्त बीता जा रहा है !"

सँकरे बरामदे में चटाई डाली गयी। चौधरी बैठे। नीचे नायक खड़े-खड़े बटुआ हाथ में ले सरौते से सुपारी कुतरते हुए सामन्तजी के लिए पान बनाने लगे और उसी बहाने शुरू किया—"जी, ठीक पकड़ा, निमित्त उठाना उचित होगा, शुभस्य शीघ्रम्।

खरीद लेगा।"

किणेई ओझा क्रोध में तमतमाकर ऊँची आवाज से गरजकर इधर-उधर कूदने लगा। "देखो, रास्ते जाते आदमी को पकड़कर बेइज्जत करता है! हं, मैं चुप-शैतान हूँ? या तुम चुप-शैतान हो? अरे तू तो चोर है। नवघनदास की बारात में गया था, चुपचाप अच्छे-अच्छे कपड़ों की गाँठ बांध ली थी। कन्यावालों ने तेरे मुख पर कालिख पोतकर छोड़ दिया था। अरे तू उस दिन बेनुआ केवट की बाड़ी में घुसकर बैंगन चुरा रहा था। तुझे पुलिस में देने को हो गये। तू किसके सामने खोद रहा है, हे रे!"

"ऐं, ऐं, क्या बोला, मैं चोर! या तू चोर है, तेरी चौदह पुश्त चोर!"

"साले को अभी दो धौल दूँगा। कमर सीधी हो जायेगी। क्या समझ रखा है, अरे बूढा हो गया तो भी लोहा पीटता हूँ।"

"है, रे! फिर कहता है! तू साला मेरी देहरी पर चढता है, अभी टाँग तोड़ दूँगा, साला, शनिग्रह!"

"ऐं गली में जाना रोकता है, ये रास्ता खरीदनेवाले हैं, कपास के बीज देकर रास्ता खरीद लिया, गाँव-भर में साँड बने फिरते हैं, हे रे! चोरी, उचक्केगिरी के पैसों पर इतनी चतुराई दिखाता है?"

"फिर... फिर!"

दोनों बूढे फुदकते हुए नाच रहे हैं।

लोका नायक कहता है, "दूँगा, अभी देखेगा।"

"हूँ, मारेगा, मारेगा? आ देखें, कैसे मारता है?" गाँव-गली की बात है।

दावँ-पेंच करते, गाली-गलौज करते, घूम-फिर रहे हैं दोनों बूढे। गालियों से गली गूँज रही है। देखनेवाले जमा हो गये। बच्चे-बूढे, स्त्रियाँ, लोग-बाग। अब उनमें भी आपस में कहा-सुनी होने लगी है। गाँव की आग की तरह कलह बढ़ता जा रहा है। उसकी स्वतन्त्र भाषा, स्वतन्त्र भाव, कितने संवाद पडे हैं, कितने इतिहास खुदे हैं, सब टेढ़े-मेढे विकृत, टूटे-फूटे। क्रमशः वह होता जा रहा है असभ्य, वीभत्स, बनैले आदमी की-सी हरकतें हो रही हैं।

सिन्धु चौधरी चुपचाप वहाँ से चले आये। किसी से कुछ पूछने को जी नहीं किया।

हाँ, दूर से आ रही है उनके हो-हल्ले की आवाज। दिखाई पड रहा है उड़ती बात का एक-एक तार। तो क्या कलह का उपलक्ष्य वे स्वयं हैं? सिन्धु चौधरी? लोका नायक की टेढ़ी-मेढी बातों में कुछ अर्थ है। हो सकता है, उसका उदार होना एक मुखौटा हो, और वह बहादुरी दिखाने के लिए मोल-भाव कर रहा हो।

सिन्धु ने गम्भीर होकर सिर लटका लिया। धीरे-धीरे चले जा रहे हैं। सोचने पर कान गरम हो उठते हैं। फिर दूसरे क्षण सारी गरमी पानी हो जाती है और आता है भय—दुनिया-भर के लोग आ रहे हैं नाखून लपलपाते हुए। हजारों हाथ फैलाये बढ़

रहे हैं—उनसे सींच लेने के लिए, उसे जो सबसे प्रिय है उनके लिए। और वे अकेले हैं, असहाय हैं!

खेत कट रहा है। घर, बाहर—सभी जगह परिचित दृश्य, परिचित परिस्थितियाँ। वैसे ही खड़े हैं बगीचे, सिर उठाकर गायें देख रही हैं।

सुनसान रास्ते के बीच बड़े आम के पेड़ के नीचे, दो गाँवों को रास्ता फटता है। हक्के-बक्के-से सिन्धु चौधरी वहीं खड़े रह गये। होश हुआ तो लगा, बहुत दूर चले आये हैं, कैसा तो झिम-झिम-सा लग रहा है! पसीना हो आया। दायें-बायें मसान की पगडण्डी, इधर-उधर हाड पड़े हैं।

गहरी साँस लेकर धीरे से वे पेड़ के नीचे बैठ गये।

मन करता है, यहाँ से उठें ही नहीं। कहीं जाना ही न पड़े। रजुआ रथ लौटता नहीं। इच्छा पुकार रही है—मरण-मरण-मरण!

इस धकापेल की धरती पर बस अभाव, असुविधा, समस्या, धन्धा....। मन धिक् कर बारम्बार पुकार उठता—भगवान्, उठा ले मुझे! मुझे नहीं चाहिए....

बेटी छवि! उसने किसका क्या बिगाड़ा है? निरीह भोली बेचारी। सलीके से खाने को दो मुट्ठी भी नहीं दे पाता उसे। कपड़ा तो कपड़ा, माँड पीकर ही अपना सुख स्वयं भूले हुए है। फिर भी घर में रोशनी किये हुए है। उसे भी नहीं छोड़ेंगे लोग! क्या धक्का देकर उसे निकालना पड़ेगा?—ससुराल नहीं, किसी कसाई के घर! उसे जंजाली करने के लिए कमर कसनी ही पड़ेगी, ब्याही कि गयी। पर ये लोग ऐसे. . कलबल किये बिना मन की साध पूरी कैसे होगी, मरते आदमी के रास्ते में भी ये काँटा रोप देंगे। बेचारी छवि, भात खाकर हाथ धोना भी नहीं जानती, गरीब की बेटी, गाँव में भूतों ने हाट जमा रखी है, यह सब सुनेगी तो सह न पायेगी!

तभी उन्हें लगा जैसे ब्रह्माण्ड फटा जा रहा है। टप-टप पानी चूने लगा आँखों के कोनों से। अचानक चेत आया, भागवत में है—यही तो माया है, जिसे दुख मानते हो वही तो है संसारी सुख, और जो सुख है वह तो इस संसारी सुख-दुख से परे है, उसे चर्म-चक्षु से नहीं देख सकोगे। माटी का यह घर उसे नहीं चीन्हेगा।

सच, समय जा रहा है, घर को तो देखना ही पड़ेगा—छवि के लिए व्यग्र-से होकर उठे और घर की ओर चल पड़े।

"जिद कर छोकरी नदी नहाने जायेगी। कोई गोद की बच्ची तो है नहीं कि हाथ पकड़ बैठा लें। जाने दे, उसका मन है। इधर कानाफूसी भले होती रहे। मन को बाँधने के लिए रस्सी नहीं। नहीं तो इस पौष के तड़के, जब कोहरे में हाथ को हाथ नहीं सूझता, भला कोई घर से बाहर पैर रखता है? सदा जाती ही है, तो आज भी

जायेगी ही। माँ से क्या पूछ रही हो? माँ के मना करने पर तू क्या मान जायेगी? जाना है तो जा, मगर जल्दी आ जाना!"

"तू भी क्यों नही आती? आ माँ, ठण्ड नही लगेगी। कोहरे में जाडा नही लगता।"

"कौन मरा जाता है अब! ठण्ड से डरकर माँ नहाने नही जाती। हाँ, माँ के लिए पानी गरम होगा....दास-दासियाँ खटती हैं न! लो सुनो, इसकी बात! मेरा बहुत सारा काम पडा है। अभी हल्दी का कठड़ा लेकर नदी कैसे चल पड़ूँ? तू जा गुरु की माँ के साथ। झट से आ जाना।"

गुरु की माँ हँस रही है।

रास्ते में वह, गुरु की माँ और गुरु। गुरु तो खाली कूदता चल रहा है और गीत जोड़ रहा है:

"शीत पचारे गीत भाइ, लण्डामुण्डिया कु देखिचु कांइ?"

(गीत भाई से शीत पूछ रहा है, गंजे सिरवाले को कही देखा क्या?)

किनारे पर से दूर देखो तो खाली कोहरा ही कोहरा, पास कुछ दिख जाता है, और उधर फिर कुछ नहीं, सब छुप जाता है। देखा-परखा जितना जो भी है—किसी का पता नही चलता। वही तो मज़ा है। पास होकर भी कुछ नही दिखे, कोई किमी को देखेगा नही, यद्यपि अँधेरा नहीं प्रकाश है।

पीछे से गुरु की माँ चीं-ची कर पुकार रही है—अरे छवि! अरे गुरु! अरे कहाँ गये तुम लोग?"

"ठीक है, अब भुगते! चुगली कर रही थी गुरु की माँ, अब ले।" छवि ने कोहरे से पुकारा, "भावज, मैं कहाँ हूँ?"

'कहाँ' शब्द को दो भाग में बाँट लम्बा खींच ले गयी।

"है रे, अरे, मैं जान गयी। छुप रही है, पैर तो दोनों दिख रहे है।"

फिर—"भौजी मैं कहाँ?" और छवि की हें-हें हँसी।

"तुम क्या अब यहाँ हो? तुम तो कितनी दूर पर हो। क्या नाम है उस गाँव का? अरे, मेरी जीभ पर तो था, तुम तो जाकर वहाँ पहुँच गयी। ज़रा भी देर नहीं सहती ओ स्वयंवरा! पहने हुए कपड़े ही सिर पर बाँधकर इस कछार-कछार भगोगी छड़ी की तरह। अरे छवि, तनिक ठहर, ऐसे न भाग, नये आदमी को देखकर पुरानों को कोई इस तरह भी परायापन दिखाता है।"

"तेरा सिर!"

अबकी गुरु माँ को जितापट।

कछार के नीचे से गुरु को एक साथी मिल गया था। "आः ऐ आ! आरे भालू तु . तु—"भालू गाँव का कुत्ता! जिसने बुलाया वह उसी का। कुहासी भोर में नदी के बालू पर दौड़ने में भालू को मजा आ रहा था। पैरों से बालू उछालता-उछालता तीर की

ह दौड़ता। आदमी के आगे गिरकर, फिर दौड़कर बहादुरी दिखाना अच्छा लगता है।
न्त भालू ने अपनी बहादुरी दिखायी। गुरु की माँ ने आवाज दी—"ओ ओ नासपीटे,
ते! अरे, मेरे पोंछने का कपड़ा ही लेकर भाग गया। अब मैं क्या करूँगी?"

और गुरु कुत्ते से धक्का खा बालू में गिर पड़ा—"रह वे, तुझे मैं बताता हूँ।"
ा छवि के पेट तक चढ़ गुरु की माँ का कपड़ा मुँह में पकड़े सिर हिलाता रहा।
ड़ा छीनकर छवि ने उसका कान मरोड़ दिया। फिर भालू दौड़ गया बिजली की तरह।

कितने प्रकार का बालू! कछार के नीचे, दूह के ऊपर परत की परत पटू माटी,
ाई हुई है, पैर पड़ने से आहिस्ते से फट जाती है, पैरों को मखमल की तरह लगती है,
र नीचे *महीन बालू की खान, धूल की तरह, पैर धँसने पर भी* सहलाने की तरह
ता है। उसके बाद फिर मोटा बालू, जाड़े में काँटों की तरह पैरों में चुभता है। और
र भुरभुरा बालू, चलने पर भस-भस रस-रस, जाड़े में ओस की तरह, चलने पर
म हो जाये। जितनी दूर चलो, पुराना बालू नया लगता है, इसी तरह नये के बाद
ा। और कोहरे के उस पार एक मूर्ति तैर जाती आँखों के आगे।

वह बन्दर को घुड़कता है।

छि.! कितनी लाज की बात है!

किसका कौन है? सिर्फ कोहरा और कोहरे के अन्दर चलती-फिरती छाया,
ार-उधर!

अब आवाज़ सुनाई दे रही है। दिख रहा है कुछ झुण्ड का झुण्ड। कोहरे में
दमी भी इसी तरह छाया-जैसे दिखते है। सच नहीं, मानो सब झूठ हों। उनकी आवाज
कैसी सुनाई दे रही है। कभी पास, कभी दूर, शब्द भी कोहरे में और ही तरह के
जाते हैं। कौन कहाँ है, पता ही नहीं चलता। चारों ओर खाली भाप। इस भाप की
नेया में से क्या सचमुच कुछ आश्चर्यमय निकलेगा! धत्, फिर वही बात। कौन बातें
र रहे है? कटर-कटर। वे उस बस्ती की औरतें लगती है, उनका घाट अलग है।
तनी जल्दी आ पहुँची, दो पाव रास्ता, फिर भी चलने-जैसा लगा नहीं।

कोहरा फट रहा है, कहाँ आया सूर्य? नाम को ही पौ फटी थी। अब सबों ने
र लिया। "तुम कब आ गयी? सच, जिसे मायाविनी कहते है तुम तो वही हो।"
ही की माँ, जो रिश्ते में भाभी लगती है, कहती है, "अरे, मायावी न हो तो
याविनी कहाँ से हो?" कन की माँ ने पूछा, "मायावी या मायाविनी। धीरे से गिर
ी, इतने बाजे-गाजे का क्या होगा। काम तो हासिल ..." फिर हैं, हैं, हैं हैं—हँसी।
न की माँ भौजी पक्का जानती है। "कहे या न कहे, उसका चेहरा आ टपकेगा। .. तू
ा पायेगी रे बेटी? तू नहा, देर होगी।" गुरु की माँ कहती हैं।

"तुम आ गयी?" छवि ने पूछा। गुरु को नहलाने वह आगे दौड़ी। वह कहाँ
कड़ाई में आता है—"नहीं, नहीं, मुझे सी-सी लगेगा।"

"तू रहने दे छवि, वह तो यों ही फकर-फकर कूदेगा।"

छवि ने पानी में डुबकी लगायी। जी भरकर नहायी। देह मे नशा-सा फैल रहा है। नदी की धार, और चारो तरफ जानी-पहचानी औरतें, कितना अच्छा लग रहा है! और कोहरे में रँगा कोमल सूरज। आमने-सामने! कितना सुन्दर! क्यों सारे जीव-जन्तु प्रकाश की ओर मुँह कर दौड़ जाने को पागल हैं? प्राणों में इसी प्रकाश के बीज जरूर होंगे, बीज डूबा और इसीलिए जीवन दीप। छवि सोच रही है, इस सूरज को देखने पर बहुत-बहुत जाना-पहचाना-सा लगता है। इस खुशी में मन करता है कि सबको बाँहों में भर ले।

प्राणो के उल्लास में यौवन का सारा संभार नैवेद्य की तरह फैलाकर छवि सूरज की ओर देखती खड़ी रही। देह सिहर उठी, आँखें मुँदने-सी लगी।

पीछे से गेल्हो की माँ चुपके-चुपके कह रही थी, "क्या सोच रही हो? वे याद आ रहे हैं?" हँ-हँ हँसी।

अन्यमनस्क हो छवि घूम गयी—"कौन? किसकी बात कह रही हो?"

सब हँस पड़ी।

कन की माँ ने पूछा, "कब से लंगूर पाला है, छवि? मुई, छुपाती क्यों है, तू ऐसी कपटी पेटवाली है?"

फिर ठी-ठी हँसी।

कुछ दूर से चन्दरा-माँ बुढ़िया चीखी—"छिः कर छि. कर। आजकल कैसा जमाना आ गया रे! लाज की बात में भी लाज नही।" फिर हँसी। "ठीक है री बेटी, ऐसे है बचपन का समय, बाप के घर हो न! अनब्याही लड़की, पराये बेटे को बुलाकर लीला करे—कोई बात भी करेगा? बस का तो रहा नही जमाना। हम तो बूढे हाड हैं, हमारा समय तो गया। मन में जो आये सो करो, पर इतने दिन में इस गाँव का महत डूब गया।"

"दीदी, ठीक ही कहती हो" रघुआ की माँ बोली, "आजकल गाँव की इज्जत की बात कौन करता है! सिर्फ़ अपनी सुविधा देखकर सब राह चलते हैं। आजकल की लड़कियाँ.. .पहले की बात होती तो सात-सात की माँ बन गयी होती। अरे, ब्याह नही तो क्या हुआ! तो क्या कोई अपनी प्रकृति छोड़ देगा? प्रकृति तो विधाता ने बनायी है। सबमें समान है। सब ओर देखो....धान के अन्दर चावल है। किसे दोषी ठहराओगी....जैसी तेरी बेटी, वैसी मेरी भी।"

"अरे वही तो बात, हे रघुआ की माँ! उई, ये तो धान मे एक चावल है—हें हें हे—"

हँसी छूट पड़ी, और चारों ओर वही बात—"धान मे चावल।"

कन की माँ ने बात पकड़ी। पूछा, "सच बता छवि, धान में कितना बड़ा हो गया है चावल? अरे बता न!"

गुरु की माँ चुप थी। वह फुंकार उठी, "क्या समझकर लड़की को उलाहना

देती हुई चोट कर रही हो ? इस तरह अपनी बातों से डंक मार रही हो ? तुम्हारी जीभ रहेगी तो ? कीड़े पड़ेंगे जबान में ! हे भगवान्, हे परमात्मा, तुम्ही साक्षी रहना, जो ऐसा कह रहे हैं उनके मुँह में कीड़े पड़ें,....कीड़े पड़ें, कीड़े पड़ें ।"

सब मानो इसी बात की प्रतीक्षा में थी, चल पड़ा धमाधोट हार-मार, गरज-तरज, कड़क-धड़क । चारों ओर से गुरु की माँ पर बाणों की वर्षा होने लगी ।

"अरे ओ दूती, ये क्या कहेगी, इनके दोष क्या हम से छिपे हैं : सच रे, बड़ी साधवी बनती है ! चल मन छोड़कर चली जा । आश्चर्य है, बिल्लाई आँख मींचे दूध पी रही है ! समझ रही है कि कोई देखता नहीं पर दोनों पैर तो दिखाई पड़ते ही हैं !"

"अरे, क्या नखरा दिखा रही है ! पिछवाड़े से बुलाकर रोज-रोज तमाशा लगा रखा है । जादुई धूल की चुटकी डालकर जमाई-वरण का रोग चलता है । किस मुँह से बढ़-चढ़कर बोल रही हो ? क्या बाकी छोड़ा है !"

"लंगूर री लंगूर ! बन्दर क्या ऐसा नाटक करना जानता ! कभी सुना है किसी ने ! सुनहली-रुपहली कथा की तरह ।

"अरे, जरा भी नहीं झिझकी !"

"हाँ ! पायेगी, अब पायेगी । किये-करम का फल भोगेगी ! क्या कोई भ्रम में पड़ा हुआ है ? जो अपना घर सँभाल नहीं पाता, दूध उफन कर चूल्हे में गिर रहा है, वह पराये लड़कों को क्या फुसलायेगा !"

कूकर मक्खी की तरह वे चारों ओर घिर गयीं । गुरु की माँ अकेली, उसपर फिर दुबली-पतली । छवि की आँखों से धार बह रही है, गाली की भाषा उसे आती नहीं ।

अचानक वह नहाने का घाट हिंस्र हो उठा है । मानो कोई हिंसक बनैला आदमी, हाथ में छीलने की छुरी, सामने निरीह गाय, काट-काटकर टुकड़ा कर लेना ही पड़ेगा ।

गुरु की माँ ने चलने की तैयारी की और कहा, "चल, चलें छवि ! भौंकने दे इन्हें ! कहते भी सो है, हाथी चले बजार, कूकर भूकें हजार !"

इतना कह गुरु की माँ ने साँस ली, छवि को खींचती हुई चलने लगी, मानो शत्रु-व्यूह से निकाले ले जा रही हो । कोहरा धीरे-धीरे हट रहा है । धूप तपने लगी है । धूप में बस दिख रहा है बालू ही बालू, गूँगा बालू । पीछे उनकी हँसी—हल्ले-गुल्ले की आवाज आ रही है । अरुचिकर, अपमानसूचक । जीवन जैसे अटूट बालू बन गया है । तेजी से इस बालू को पार करना होगा ।

बालू के टीले की आड़ से आदमी भुस से उठ खड़े हुए और एक-एक कर नदी की ओर जाने लगे हैं । कुछ नहाकर आगे-पीछे हो चल रहे हैं । किन्तु जाना-पहचाना दृश्य आँखों के आगे बिगड़कर विष हो गया है, भरोसा और विश्वास उड़ गया है सारा ।

घर पास आते ही छवि फफक-फफककर रोने लगी ।

"छि: छवि ! रास्ते में भी कोई ऐसे रोता है ? रो क्यों रही है तू ? उन लोगों की बात पर ? जिन्होंने कुछ कहा है, उनके मुँह में कीड़े पड़ेंगे ! हमारा क्या जाता है ?"

"मगर क्यों कहेंगी ?" छवि ने रो-रोकर कहा, "ऐसे कहनेवाली हुई हैं सब ? क्या किया है जो वे लोग इस तरह कहेंगी ? हम अपने घर में हैं, वे अपने घर। जबरदस्ती चढ़कर क्यों किसी पर झूठा इलजाम लगाने कोई आयेगा !"

"संसार अगर भला होता तो लोग इस तरह क्यों नरक में घुटते ? तुम-हम भले, तो क्या सारे राज में कोई चोर उचक्का ही नहीं ? झुलसनी, सनह घर-फोड़नी, आगजली हरामखोरिनी रहेंगी नहीं ? जाने दे, भगवान् समझेगा उन सबों से।"

मुँह पर पल्लू रख सुबकती-सुबकती जा रही है छवि !

गुरु की माँ गुस्से से जल रही हैं। आँखों से आँसू बह रहे हैं। लगता है वह स्वयं कितनी दुर्बल, कितनी असहाय है। एक-एक कर कितनी दुख की बातें याद आ रही हैं, उनका सम्बन्ध चाहे छवि से न भी हो।

अपने घर पर खड़ी होकर छवि की माँ अनदेखे शत्रुओं के नाम पर गालियों की वर्षा कर रही थी। यही तो प्राचीन पद्धति है, अपनी छाती का बोझ हल्का करने का उपाय। दुख, अपमान और क्रोध से भरा यह उसका नया रूप है। बार-बार दैव को साक्षी देकर, भगवान् को बुला, वह अपने शत्रुओं के लिए अमंगल की कामना कर रही थी—"हे प्रभु, जो अकारण निन्दा करती है तू ही उनको दण्ड देना। आज चौधरी वंश के बुरे दिन है। तभी न उनकी हिम्मत हुई इतनी बड़ी-बड़ी बातें कहने की। कोमल लोहे को बिल्ली भी काट खाती है—यह जुग ही तो ऐसी उलटी बातें सुनवा रहा है। यह कोई मामूली बात नहीं, आज कुत्ते भी सिर पर चढ़ गये। देखो तो, क्या कहें इस जमाने को। हे महा-प्रभु ! उनका मुँह जले, उनका वंश डूबे, उन्हें हैजा हो। आने दो उन्हें, देखते हैं। इसकुल ! इसकुल ! लाज नहीं आती उन्हें। फिर इसकुल खोले बैठे हैं—इन्हीं के बच्चों को पढ़ाने के लिए ! अरे, आदमी होकर ऐसे पत्थर बने बैठे हैं—जरा भी छल नहीं, बस बैठे चरखा घुमा रहे हैं, बाबाजी-वैष्णव हो गये हैं, तभी तो कुत्ते भी इतनी लम्बी जीभ निकाल रहे हैं। अब आये, देखें और सँभाले अपना घर—"

कोई पास नहीं आया। इशारा पाकर, कोई-कोई बाड़ी के पास छुपकर सुन जा रहा था।

रास्ते से गुजरती औरतों में से कोई-कोई कह रही थी, "सच, सुनकर तो शरीर में आग लगती है, पर सचाई छुपेगी कितने दिन ?"

"कहने दो, उसकी गाली उसे फलेगी। इतने दिन से गाँव के लोग कुछ नहीं कह रहे थे, आज इनके शत्रु हो गये। सब जानती है यह ! बड़ी सयानी है। झूठी।"

गुरु की माँ ने सुना। मना किया "ऐसे कहने से कुछ लाभ नहीं, अपना ही मुँह खराब होगा। कुत्ता आकर हमें काटे तो क्या हम भी उसे काटेंगे ? बेकार हल्ला करते-करते थक जाओगी।"

बात गाँव-भर में फैल गयी फिर चली टीका-टिप्पणी, व्याख्यान। माँजते-माँजते बात मोटी पड़ गयी। माँजने का अवसर था। लोगों का मन था, बात का सरल अर्थ छोड़ उसका इंगित समझाने का, फिर उसे बढ़ा-चढ़ाकर औरों के आगे कहने का। गाँव में ऐसे साधारण भाव से बात आयी-गयी नहीं होती। यहाँ रोक-टोक मोल-तोल नहीं होता। लोग सोचते हैं किसने किसे प्रणाम नहीं किया, कौन किसे देख मुँह फिराकर चला गया, इन सब पर भी चर्चा होती है, इसके लिए समय दिया जाता है।

लोग अपना-अपना पक्ष ठीक करने लगे। कौन किस ओर जायेगा, चौधरी की तरफ या दूसरी तरफ। इस धारणा के साथ पिछले दिनों की बातें भी आयीं। केवल चौधरी वंश के सम्बन्ध में ही नहीं, आपसी सम्बन्ध की भी। जिसका जिससे मनमुटाव था, वह भी विपक्षी को देख दूसरी तरफ हो लिया। छुपी-छुपी किस जमाने की कितनी फटने-टूटने की बातें मानो अवसर पाकर अपना सही रूप दिखाने लगीं। गाँव का मत, छुरी से काटने की तरह, दो टूक हो गया!

और उस भेद-भाव में चौधरियों के दूसरी तरफ का अगुवा बनकर खड़ा हुआ लुहार बुड्ढा किर्णेई ओझा। अब भी वह हल की फाल गढ़ता है, बैलगाड़ी के पहिये के लिए हाल गढ़कर चढ़ा सकता है, हँसिया, कुल्हाड़ी, छुरी पनकी अब भी वह बना सकता है। लोग कहते हैं, गाँव का कुशल कारीगर है। धौंकनी जलाकर लोहा पीट वह अपनी कमाई पर जीता आया है सदा से।

सफेद हो आयी पलकों की ओट में फीकी पड़ती आँखों से किर्णेई ओझा पीछे मुड़कर, जितनी दूर तक नजर जाती, देखता। इस गाँव में सब अपने हाथ-पैरों से काम कर जीते हैं।

सिवाय इन चौधरियों के। और वे, जो बस पोल में जीते हैं, काम किये बिना।

पूर्वजों से पायी जमींदारी, जन्म से लगान की चाट। अपने भाग का दावा—चाहे खेत पर कभी पैर भी न रखें। दूसरों पर हुकुम जमाने का अधिकार तो मानो जनम से ही भर दिया गया कि ये ही बड़े हैं और सब छोटे। मानो आप न खटकर परायी खटनी के ऊपर चलना ही बड़प्पन है। उलटे जिनके परिश्रम पर इनका पिण्ड गढ़ा है उन्हें ही नीचा करना इस बड़प्पन का लक्षण है।

तभी तो ये अधिकार का दावा करते हैं। और फिर पहले ब्राह्मण है, पुरोहित है। उनके ये सहायक उनका पक्ष लेते हैं। बड़े लोगों का दावा है कि उनका अधिकार विधाता का दिया हुआ है। पुरोहित शास्त्र बाँचकर समझा देते हैं—हाँ, सच है, विधाता ने जिसे जैसा गढ़कर भेजा है, उसे मानना ही पड़ेगा।

किर्णेई ओझा सदा सोचा करता। परन्तु न्याय-अन्याय की अपनी धारणा को

भय से मन में दवा लेता।

इसके बाद उसने देखा कि अब भय चला गया है। सामन्तजी के घर की मेघनाद प्राचीर ढह गयी है। टूटे खण्डहरों में रात में गीदड़ बोलने लगे हैं। उसे प्रसन्नता हुई थी।

कल की बीती हुई-सी बात लगती है। वह भूला नहीं है, जब मामूली बात पर गदेई चौधरी ने उसकी बायीं आँख पर थप्पड़ मारी थी। सात दिन तक वह आँख खोल भी न सका था। आँख लाल हो गयी थी केसू की तरह। माई का दूध डाला तब जाकर ठीक हुई। कितना कष्ट हुआ था। खाली यह थप्पड़ ही नहीं, अपनी मान-मर्यादा पर जाने कितने प्रहार सहे हैं उसने! परायों का अपमान किये बिना इन बड़ों की मानो अपनी टेक रहती हो न हो! जैसे सब कुछ उनके ही वश की बात है। बड़े लोगों की आँखों में मानो अन्य किसी की ज़रा भी इज्जत नहीं। किसी के मन में कुछ दर्द ही नहीं। उसने भगवान् को पुकारा है, प्रतीक्षा की है।

इसके बाद बड़े घर जब खण्ड-खण्ड हो टुकड़े-टुकड़े हो गये तो सामन्त के घर के टूटे घरों की छान में से लकड़ियाँ खोंचकर उसने जलायी है, सबकी तरह वह भी गाँव-वालों में से एक है। औरों की तरह उसने भी उनकी फूटी हवेली के पत्थर उठाकर अपने दरवाज़े पर डाले हैं, और गुहाल के फर्श पर बिछाये हैं ताकि वहाँ कीचड़ न हो। सुविधा देख लुक-छिपकर उसने भी अपनी कारस्तानी दिखायी है। वह किणेई ओझा है। वह खुश है। अब अपने घर में हँसी-खुशी रहती है—उसके अपने श्रम से।

उस परायेपन के आनन्द का अनुभव करने के लिए अन्य दस लोगों के साथ मिलकर उसने भी सहानुभूति के गीत गाये हैं—"आः क्या घर था, कैसा हो गया! कैसी मट्टी पलीद हुई! भाग्य की बात है!"

किणेई ओझा ने 'हथियार सँभालो, हथियार सँभालो' की पुकार लगायी। अर्पित पधान ने समर्थन किया—"हाँ-हाँ!"

पधान ने सोचा—खुलकर पक्ष लूँगा। किसी का दिया खाता हूँ या किसी का कर्ज़दार हूँ? मैं तो उसे आवारा, पाजी, हुड़दंगा कहते हैं। गाँव के यह भले लोग कहते हैं कि वह एकदम बेलगाम है! अब वह ज़ोर-ज़ोर से चीखेगा। लोक-लाज की ऐसी की तैसी!

विधवा का बेटा। माँ ने जवानी में ही कंगन उतार दिये थे। बाप को उसने देखा नहीं। सुना है कि बाप भी कोई एक था, चेंगल जूट-कल में काम करता था, वहीं मर गया।

उसने होश सँभाला तो देखा—मण्डप घर में कितने आदमी! घनी अँधेरी रात

में नींद टूट जाने पर कभी वह रो उठा तो कोई उसे लाड़-प्यार करता, कोई उसे गोद में सुलाकर लोरी गाता :

"घो रे बाइया घो ।
जोउ कियारि रे कअंल माण्डिआ
सेइ कियारि रे शी ।
घो रे बाइया घो ॥"

बचपन में मानो वह सबको सम्पद् था ।

कुछ बड़ा हुआ । बाहर दौड़ने लगा । अपने छोटे-से घर की अँधेरी घनी बाड़ी के उस ओर । माँ के पीछे-पीछे दौड़कर सीखते-सीखते अभ्यास हो गया । वहाँ इतने चेहरे, इतने घर, खेलने के लिए इतने साथी ।

तभी उसने उस दीवार का अनुभव किया । जिधर दौड़ता सामने वही दीवार । बच्चे उसके पास खेलने आना चाहते पर उनके माँ-बाप की आँखों में वह पाता—शत्रुता । मानो वह कोई गन्दगी हो, कूड़ा-कर्कट हो । बड़े बच्चे उसे कुछ कहकर चिढ़ाते, वह समझ नहीं पाता । देखता, उसकी माँ किसी बच्चे की ओर दाँत किटकिटा-कर गाली दे रही है, कंकड़ मार रही है । उसे बाहर घुमा लाने को कभी माँ का जी नहीं करता, बारम्बार कहती—घर में बैठा खेल !

तभी उसने अनुभव किया, घर पर जिन्हें देखकर वह अपना समझता था, बाहर वे उसे पहचानते तक नहीं । वह पास जाता तो वे उठकर चले जाते ।

एक बार कहीं से उसे और भी शिक्षा मिली थी । विधु चौधरी । गोरे सुडौल बदन । हाथ में बड़ा-सा तावीज लाल धागे से बँधा । घर पर उसने कितनी बार उस तावीज को खींचा है, देखा है, सदा उनकी मीठी हँसी । गाँव के रास्ते पर एक दिन खड़े थे । अर्पात हँसता किलकिलाता जाकर उनके घुटनों से लिपट गया । पीछे से कोई हँसा । विधु चौधरी ने ठाम-ठाम जमा दी दो थप्पड़ । इतने जोर से लगे कि वह संज्ञाहीन-सा हो गया । अँगूठी गाल से गड़ गयी और रक्त बहने लगा । पीछे से उसकी माँ ने आकर रोना-पीटना मचाया । विधु चौधरी उसे भी मारने दौड़े । क्रोध में काँप रहे थे, "कहाँ की आयी....एक । इन्द्र-चन्द्र किसी की भी परवाह नहीं, इतना साहस !"

वह दिन भी भुलाने योग्य नहीं । श्रद्धा के बदले जब थप्पड़ मिली थी । और फिर वह बड़ा हुआ । अनुभव से सीखा, मार केवल देह को ही नहीं लगती, मन पर भी कभी चोट करती है !

वह बाहर धूल में खेल रहा था । कई लड़के मिले । खेल में झगड़ा, मारपीट । वह कितनी भी पिटाई खाये कोई दाद-पुकार नहीं, और कोई भें भी करता तो उसके आदमी मार करने के लिए दौड़े आते ! दुष्ट लड़का, सारे दोष उसी के ।

माँ उनके साथ कलह करती । कमर में पल्लू खोंस पीठ की ओर बच्चे को टेल गरज-गरजकर अपना मातृत्व जताती । कहती, इसके बाप नहीं तभी तो तुम सब इसके

साथ ऐसा करते हो। वह होता तो देखती तुम्हारा साहस !

तब वह वैसी स्थिति में अपने किसी कल्पित बाप को याद कर सुबकने लगता। इसके बाप का नाम आता तो वे लोग हँसकर बात उड़ा देते। झगड़े में माँ की जीत कभी नहीं होती। दस जने एक ओर, कोई चबूतरे से, कोई घर बुहारते-बुहारते दरवाज़े से, कोई गोबर उठाते समय गुहाल से, एक साथ बातों के तीर छोड़ते। उनमें कितने भेद खोलते। न जाने कब के पुराने किस्से। वह बात का सूत्र पकड़ नहीं पाता, बस देखता कि गाली देते-देते माँ की आँखों से पानी झर रहा है। धीरे-धीरे कलह की सारी गरज-तरज पानी में घुली जा रही है, डूब रही है। माँ उसकी बाँह पकड़ घसीटते-घसीटते घर में ले जाती—दो-एक और थप्पड़ जड़कर कहती, "इस कुलजले के लिए ही तो सारा नाटक-बखेड़ा है !"

उसके मन में बचपन से ही बैठ गया है—कि ये लोग उसके शत्रु हैं। उसे दिखा-दिखाकर वे केले खाते, उसकी ओर छिलके उछालते। शरीफे खाकर बीज उसकी ओर फेंकते। फिर भी कोई-कोई कहता, "यह डायना छोकरा देख रहा है, पेट में घुस जायेगा, पेट को फोरेगा।"

बड़े होने पर बदला लूँगा।....लेकिन कब ?

धूल में लोटता। इधर-उधर खाता। मँडुआ की खीर या बासी पखाल, जो भी पाता, खाकर कहता, "और दे !"

रोग उसे छूता तक नहीं कभी। अच्छा-खासा, गठीला छोकरा। जब पूरा ज़ोर लगाता तो सब लड़कों को जीत जाया करता।

आठवें बरस से बकरी चराने लगा। झुण्ड के झुण्ड लड़कों पर अखण्ड राज। लड़कों को पीटते-पीटते सारे मैदान में दौड़ लगाता। किसी के खेत में चुपके से जाकर तमाशा देखता। आठवें बरस से उसने रोज़गार करना सीखा।

और कुछ बड़े होने पर गायें हाँकी। धीरे-धीरे हलवाहा बना। अर्पति पधान वयस्क हो गया। कद्दावर जवान ! अकेला एक आदमी तीन जनों का काम कर लेता। हलवाहे का काम छोड़, कलकत्तावाले वीणा गौड़ बन्धुआ गौड़ का भागीदार बना। साथ ही बारिक मिस्तरी, बाँध कण्ट्राक्टर, का दायाँ हाथ बन गया। तब बस्ती में न्याय-पंचायत के समय वह भी बैठता। फिर अखाड़े में, यात्रा-तमाशे में।

गेण्डेई बूढ़ी ने लड़के को घर बसाने योग्य बनाकर ही आँखें मूँदी थी। अर्पतिया ने पिछली बातें भूलकर अपनी जड़ जमायी... गाँववालों में अपना स्थान बना लिया।

दुबला नहीं। पीछे हटनेवाला नहीं। देह में जानवरों की-सी ताकत, मन में भी। उस मन को लेकर चारों ओर ग्रसने के लिए मुँह फाड़ता। बाधा पाया नहीं कि उसमें क्रोध पैदा होता। मन कटकटाकर कहता, मौका मिला कि दावें मारूँगा।

बाधा मिली उसे कदम-कदम पर। उसके हाथ से ग्रास छीन लेने को गाँव के समाज के संस्कार, रीति-नीति के अनलिखे कानून थे। उस कसौटी पर उसका मूल्य

में नींद टूट जाने पर कभी वह रो उठता तो कोई उसे लाड़-प्यार करता, कोई उसे गोद में झुलाकर लोरी गाता :

"सो रे बाउवा सो।
ओइ शियालि रे कर्णाट कांदिछा
मेड़ शियालि रे डाँ।
सो रे बाउवा सो ॥"

बचपन में मानो वह सबको पसन्द था।

कुछ बड़ा हुआ। बाहर दौड़ने लगा। अपने छोटे-से घर की अँधेरी गली बाहों के उस ओर। माँ के पीछे-पीछे दौड़कर गाँव के-गाँव के अनजान हो गया। वहीं इसके चेहरे, इसके घर, देखने के लिए इसके पाँव।

तभी उसने उस दीवार का अनुभव किया। जिधर दौड़ता मानो वहीं दीवार। बच्चे उसके पास खेलने आना चाहते पर उनके माँ-बाप की आँखों में वह पाप—कलुष। मानो वह कोई छूतहा हो, कुष्ठ-ग्रस्त हो। बड़े बच्चे उसे कुछ कहकर चिढ़ाते, वह समझ नहीं पाता। देखता, उसकी माँ किसी बच्चे की ओर दौड़ चिल्ला-चिल्लाकर गाली दे रही है, या उसे मार रही है। उसे बाहर घुमा लाने की कभी माँ का जी नहीं करता, बारम्बार कहती—घर में बैठा रह!

तभी उसने अनुभव किया, घर पर जिन्हें देखकर वह अपना समझता था, बाहर वे उसे पहचानते तक नहीं। वह पास जाता तो वे उठकर चले जाते।

एक बार कहीं से उसे और भी शिक्षा मिली थी। विशु चौधरी। गोरे सुडौल बदन। हाथ में बड़ा-सा ताबीज लाल धागे से बँधा। घर पर उसने कितनी बार उस ताबीज को खींचा है, देखा है, सदा उनकी मीठी हँसी। गाँव के रास्ते पर एक दिन खड़े थे। अपनी हँसता खिलखिलाता जाकर उनके घुटनों से लिपट गया। पीछे से कोई हँसा। विशु चौधरी ने टाप-टाप जमा दो दो थप्पड़। इतने जोर से लगे कि वह संज्ञाहीन-सा हो गया। अँगूठी गाल में गड़ गयी और रक्त बहने लगा। पीछे से उसकी माँ ने आकर रोना-पीटना मचाया। विशु चौधरी उसे भी मारने दौड़े। क्रोध में काँप रहे थे, "कहाँ की आयी....एक। इन्द्र-चन्द्र किसी की भी परवाह नहीं, इतना साहस!"

वह दिन भी भुलाने योग्य नहीं। श्रद्धा के बदले जब थप्पड़ मिली थी। और फिर वह बड़ा हुआ। अनुभव से सीखा, मार केवल देह को ही नहीं लगती, मन पर भी कैसी चोट करती है!

वह बाहर धूल में खेल रहा था। कई लड़के मिले। खेल में झगड़ा, मारपीट। वह कितनी भी पिटाई खाये कोई दाद-पुकार नहीं, और कोई मैं भी करता तो उसके आदमी मार करने के लिए दौड़े आते! दुष्ट लड़का, सारे दोष उसी के।

माँ उनके साथ कलह करती। कमर में पल्लू खोंस पीठ की ओर बच्चे को ठेल गरज-गरजकर अपना मातृत्व जताती। कहती, इसके बाप नहीं तभी तो तुम सब इसके

साथ ऐसा करते हो। वह होता तो देखती तुम्हारा साहस !

तब वह वैसी स्थिति में अपने किसी कल्पित बाप को याद कर सुबकने लगता। इसके बाप का नाम आता तो वे लोग हँसकर बात उड़ा देते। झगड़े में माँ की जीत कभी नहीं होती। दस जने एक ओर, कोई चबूतरे से, कोई घर बुहारते-बुहारते दरवाजे से, कोई गोबर उठाते समय गुहाल से, एक साथ बातों के तीर छोड़ते। उनमें कितने भेद खोलते। न जाने कब के पुराने किस्से। वह बात का सूत्र पकड़ नहीं पाता, बस देखता कि गाली देते-देते माँ की आँखों से पानी झर रहा है। धीरे-धीरे कलह की सारी गरज-तरज पानी में घुली जा रही है, डूब रही है। माँ उसकी बाँह पकड़ घसीटते-घसीटते घर में ले जाती—दो-एक और थप्पड़ जड़कर कहती, "इस कुलजले के लिए ही तो सारा नाटक-बखेड़ा है !"

उसके मन में बचपन से ही बैठ गया है—कि ये लोग उसके शत्रु हैं। उसे दिखा-दिखाकर वे केले खाते, उसकी ओर छिलके उछालते। शरीफे खाकर बीज उसकी ओर फेंकते। फिर भी कोई-कोई कहता, "यह डायना छोकरा देख रहा है, पेट में घुम जायेगा, पेट को कोरेगा।"

बड़े होने पर बदला लूँगा।....लेकिन कब ?

धूल में लोटता। इधर-उधर खाता। मँडुआ की खीर या बासी पखाल, जो भी पाता, खाकर कहता, "और दे !"

रोग उसे छूआ तक नहीं कभी। अच्छा-खासा, गठीला छोकरा। जब पूरा जोर लगाता तो सब लड़कों को जीत जाया करता।

आठवें बरस से बकरी चराने लगा। झुण्ड के झुण्ड लड़कों पर अखण्ड राज। लड़कों को पीटते-पीटते सारे मैदान में दौड़ लगाता। किसी के खेत में चुपके से जाकर तमाशा देखता। आठवें बरस से उसने रोजगार करना सीखा।

और कुछ बड़े होने पर गायें हाँकीं। धीरे-धीरे हलवाहा बना। अपर्ति पधान वयस्क हो गया। कद्दावर जवान ! अकेला एक आदमी तीन जनों का काम कर लेता। हलवाहे का काम छोड़, कलकत्तावाले वीणा गौड़ बन्धुआ गौड़ का भागीदार बना। साथ ही वारिक मिस्तरी, बाँध कण्ट्राक्टर, का दायाँ हाथ बन गया। तब बस्ती में न्याय-पंचायत के समय वह भी बैठता। फिर अखाड़े में, यात्रा-तमाशे में।

गेण्डेई बूढ़ी ने लड़के को घर बसाने योग्य बनाकर ही आँखें मूँदी थीं। अपर्तिया ने पिछली बातें भूलकर अपनी जड़ जमायी....गाँववालों में अपना स्थान बना लिया।

दुबला नहीं। पीछे हटनेवाला नहीं। देह में जानवरों की-सी ताकत, मन में भी। उस मन को लेकर चारों ओर ग्रसने के लिए मुँह फाड़ता। बाधा पाया नहीं कि उसमें क्रोध पैदा होता। मन कटकटाकर कहता, मौका मिला कि दावँ मारूँगा।

बाधा मिली उसे कदम-कदम पर। उसके हाथ से ग्राम छीन लेने को गाँव के समाज के संस्कार, रीति-नीति के अनलिखे कानून थे। उस कसौटी पर उसका मूल्य

कितना कम है। वह समझ गया कि कमर में चाहे जितना बल हो, समाज के छोटे-बड़े वाले तराजू पर तौला ही जायेगा। जबतक बिल्कुल जरूरत न पड़े तबतक बड़े लोगो से वह मान नहीं पा सकेगा। वह मिलेगा मुकुटि मिश्र को जिनके घर दो वक्त चूल्हा भी नहीं जलता, जीर्ण-शीर्ण बूढ़ा आदमी। फूटी झोंपड़ी से लाठी टेकते-टेकते निकलेंगे। नाक से ही आवाज आयेगी—"आयुष्मां भवं।" मान मिलेगा विन्नु चौधरी को, विदेई राउत, गोढ बेहरा नंदिया को।

बक पंचक के बाद छाड़खाई[1] का दिन। कुशिया केवट नदी में जाल डाल रहा है। मछलियाँ मानो छाड़खाई की बात जानकर अन्तर्धान हो गयी हैं। घड़ी-पहर से एक-आध मिलती। कुशिया की टोकरी में कुल एक मछली है। अधसेरी 'जलंग' होगी।

"कुशिया भाई, मछली होगी ?"

"कहाँ ? सिर्फ एक जलंग पड़ी है। आज तो घर में मछली है ही नहीं। यही पता नहीं कैसे खिंच आयी।"

"देगा ? क्या लेगा ?"

कुशिया ने और कोई उत्तर नहीं दिया। नाव पर खड़ा रहा। कहीं देख रहा है। सुनसान नदी का किनारा। मछरंगे उड़ रहे हैं। सुनसान बालू पर पंचांग के संक्रान्ति पुरुष के चित्र की तरह झुके हुए लकड़ी टेकते आ रहे हैं—बूढ़े मुकुटी मिश्र। कुशिया उधर ही देख रहा है।

"दे क्यों नहीं देता कुशिया ? बोल कितना लेगा ?"

कुशिया कुछ बोल नहीं रहा।

मुकुटी पण्डित पहुँच गये, पाँव थरथरा रहे हैं। सिर उठाकर बगुले की तरह देखा, नाव के ऊपर। कुशिया खड़ा हो गया, लोहे का गढ़ा भालू-जैसा मरद। पल-भर में कमर तक सिर को झुकाकर कहा, "पण्डितजी, पालागी, पालागी—"

मुकुटी पण्डित हँस पड़े। नाक से आशीर्वाद चीखी कर निकला—"आयुष्मा भवं...." पण्डितजी ने उसकी ओर मुँह कर देखा, अर्पति ने मन ही मन याद किया, उस ऊँट-जैसी गरदनवाले सब्ज टिड्डे को, जो हाथ पसार देता है। प्रणाम करने पर दोनों हाथ पण्डित वैसे ही बढ़ाता—इसी का नाम आशीर्वाद। मुँह में आशिष और मन में आमिष का लालच। उसने उनकी काँच-जैसी निश्चल आँखों को कड़ी नजर से देखा तो मुकुटी दादा ने मुँह फेर लिया।

"किधर पण्डितजी ?" कुशिया ने पूछा।

खाँसकर थोड़ा अपने को सँभाला। मुकुटी पण्डितजी ने कहा, "अरे मछली है क्या रे ? छाड़खाई ठहरी आज। जिधर खोजो एक छिलका भी नहीं दिखता।"

अर्पतिया ने मन ही मन कहा, "साँप का केंचुल है, लोगे ?"

---

१. छाड़खाई : मार्गशीर्ष का प्रथम दिन। कार्तिक के महीने में मांसाहार वर्जित है। छोड़ी हुई चीजों को इसी दिन से फिर से खाते हैं इसलिए इस दिन को 'छाड़खाई' कहते हैं।

कुशिया ने कहा, "सुबह से लेकर दिन चढ़ आया, बस एक मछली पटी। क्या करूँ, बताओ? लेंगे इसे? लो, जलंग है।"

"कितना लेगा?"

"आज के दिन डेढ़ रुपये में बेचते हैं। आप एक रुपया दे दो।"

"अरे पगला हो गया है क्या, बेटा? यह देख छह आने अण्टी में पड़े हैं। एक विधि रखना है, नहीं तो आज इस महँगाई में, मैं भला जलंग मछली. ..?"

"कुशिया भाई।" अर्पति चीखा, "मैं आठ आने देता हूँ।"

कुशिया मछली निकालता है, सिर हिलाकर इनकार कर देता है। अर्पतिया ने बढ़कर कहा, "अच्छा ले बारह आने ले....अच्छा, ले रुपया सही। दे मुझे, रुपया देता हूँ, यह ले...."

कुशिया ने मछली धुकुटी मिश्र के हाथ में बढ़ा दी, "लो, पण्डितजी, आपके साथ और क्या भाव-मोल, सात आना देना।"

"अरे छह ही आने तो हैं।"

"यह देख कुशिया भाई, रुपया दे रहा हूँ।"

"ले जाओ महाराज, ढँककर, किसी की नजर न लग जाये, कहीं। आज छह आने दिये रहो, आना पीछे सही।" मछली का मुँह गप-गप कर रहा है। खुश हो असीस देते-देते गमछे में बाँध, धुकुटी मिश्र चले गये।

अर्पतिया ने कहा, "उसे सात आने में दिया, मैंने रुपया देना चाहा, फिर भी नहीं दिया तूने?"

कुशिया ने हँसकर समझाया, "तेरी तरह उनके पास भी रुपया होता तो दे न देते? नहीं था तभी तो! छाड़वाई है मछली की आशा किये पण्डितजी महाराज इतनी दूर आये। इनकार कर देता तो मुझे धरम सहता, बता!"

"ओहो, बहुत धनने लगा है—बाम्हन ना बैगन।"

"अच्छा, कह ले! बैगन कह, कुम्हड़ा कह, जो कहना हो कह! इसमें क्या, तू इस जनम में बाम्हन हो जायेगा?"

"ब्राह्मण नहीं तो क्या, आदमी तो हूँ। या ब्राह्मण के पाँच हाथ आठ पैर होते हैं?"

"अरे आदमी तो सब हैं, पर बड़े-छोटे भी तो हैं, कानून-कायदा भी है। तू अपने पैसों में बड़ा होगा, धुकुटा पण्डितजी मान्यता में बड़े हैं। उनके पैरों की धूल लेकर सिर लगाने से ही पुण्य होता है। ब्राह्मण की निन्दा न करना, शामतर से द्रोह होगा।"

"रग तेरे शामतर-द्रोह को, मछली तो दी नहीं, अच्छा-अच्छा...!"

"जा, घड़ी-भर बाद आना, मछली पड़ेगी तो...."

"हूँ! मैं तो चलता हूँ, अब आज और...."

"ओहो, मछली खाना छोडोगे। क्या वैष्णव बनोगे ?"

"अरे मछली खाना क्यों छोड़ूँगा ? और क्या कोई मछली पकड़ता ही नहीं ?"

"सुन, सुन अर्पति" कुथिया समझा रहा था, "तू जानता-समझता आदमी होकर ऐसे चिढ जाता है ? मैं क्या कहता हूँ सो तो सुन, अरे...."

"अब क्या खाक सुनूँ, उसे देगा मछली, मुझे अक़ल !"

"तू तो निपट ज़िदखोर है। मानेगा नहीं, मैं क्या करूँ ?"

अर्पतिया आँख फेरकर चला गया। "ठीक है, ठीक है। एक ही माघ में तो शीत नहीं चला जाता।"...इतने से ही कुथिया का चेहरा बदल गया, मानो नदी के पानी पर बादलों की छाया पडी हो। बोला, "क्या कहा ? मुझे आँख दिखाते हो ? लगता है कण्ट्राक्टर के पैसे सर पर सवार हैं जिससे पित्त चढ़ा हुआ है। मुझे माघ दिखाते हो....कितने माघ देख चुका, तू क्या दिखायेगा।"

अर्पतिया कुछ नहीं बोला। चला आया। मगर भूल न सका।

ऐसी कितनी ही अनुभूतियाँ हैं जो उसके मन में सुलग रही हैं, वह कोई बहाना खोज रहा था।

गाँव के समाज की ओर देखता। वह हट्टा-कट्टा है। ज्वर, दस्त, अभाव-असुविधा और दारिद्रय में डूबे गाँव में मानो वह सचमुच एक 'माल' है। छाती पर हाथ फेरते हुए बाहें उठाता। बीच रास्ते से कबूतरों की ओर देखता। गाँव की लड़कियाँ उसे मैली नहीं लगती, वह उनमें अपना लगाव देखता। कदम-कदम पर बिसूरता। गाँव की लड़कियाँ इतनी पास होकर भी इतनी दूर है उससे। सब अपने-अपने घेरे में घूमती है निरापद बनी। जाति, श्रेणी, सबकी अपनी-अपनी है। परिचय उस सबको पिघला नहीं सकेगा। अनुपात के विचार से उसका मोल ही अपना स्थान दिखा देगा। उसमें से कोई भी वह अर्पतिया है, इसके अलावा और कुछ नहीं समझेगी। वह भी वैसे ही देखता रहेगा, मन की बात होंठ पर ले आया कि उसका सिर साबुत नहीं रहेगा। किसी के लिए लचकीले पेड पर चढ़ अमरूद तोडे हैं, आप न खा जामुन तोड लाया है। गाँव का बेटा है वह, जन्म से गाँव की बेटियों का मजूर है, दरकार पड़ी तो फरमाइश, वे उसके बल और साहस का कार्यों में उपयोग करती हैं। किन्तु बस इतना ही, और अधिक नहीं।

उसकी छुपी श्रद्धा की सपन-कन्याएँ ! गाल थिरकाते लड़कियों द्वारा उसके हाथ की तोडी जामुन खाने के दृश्य को वह जी-भर देखता, और देखता रह जाता। उसके लाये केवड़ा-पंखुड़ी एक-दो एक-दो जूड़े में खोसकर वे अपने-अपने रास्ते चली जाती।

खाली हवा में थाल-भर वह मन के असुर को मन ही मन घूसा मारता। सार यह निकला कि सारे चेहरे पर कीलें उग आयी, जितना थूक लगाता मिटती ही नहीं। फिर अपने चेहरे को थिर पानी में देखता तो चौंक जाता, रूखा, मांसल, बड़ा गोल चेहरा !

अठारह में ब्याहनेवाले ने शादी जाकर छब्बीसवें बरस में की। एक स्वतन्त्र मूर्ति लेकर उसकी अपनी सम्पद बनकर जो लक्ष्मी उसके घर आयी—उसका था गोल चेहरा, दुहरी देह, मोटी-चौड़ी कमर, त्रिपुण्ड काली, चिपटी नाक। उसमें उसने सौन्दर्य देखा, गठन में न सही, बल में। सोचा—माँ होती। थोड़ा-सा रोया भी। गाँव के लोगों ने कहा, "कामवाली बहू है, उसके हाथ-पैर ही बता देते हैं।"

गाँव की लड़कियों ने ठट्ठा भी किया।

किसी ने प्रशंसा की, किसी ने उसका चेहरा हिलाकर याद दिलाया कि यह उसकी है, एकदम उसकी। अब वह रुई का फाहा नहीं रहा, गाँव में बसा एक गृहस्थ है।

अर्पति पधान के मन का अरमान नहीं मिटा, आग नहीं बुझी। वह नहीं भूला। अर्पति पधान मानो अब भी प्रतीक्षा कर रहा था।

किणेई ओझा के मन में हिंसा थी। अर्पति पधान के मन में भी। फिर भी दोनों एक दूसरे से भिन्न। और उसी तरह परस्पर से भिन्न होने पर भी गाँव के कई ऐसे लोग हैं, उनमें भी साआन्त वंश के प्रति हिंसा है।

ये दबे हुए लोग! इस गाँव के अहीरों के पूर्वजों के जमाने से, साआन्तों की पालकी ढोते-ढोते इनके कन्धों पर गाँठ पड़ गयी। युग ने उन्हें मुक्ति दी है। और कुछ न सही तो कलकत्ते में दूध बेच-बेच ही बड़े आदमी हो गये। इसी तरह की जाति के लोग। कोई गाँव में खेतीहर तो बाहर व्यापारी। उनके बाल-बच्चे भी कुछ-कुछ पढ़ने लगे। ढंग के कपड़े-लत्ते पहनते, सलीके के घर में रहते भी हैं। बाबू-भेप—किसी का एकाधार तो है नहीं। घर की घरनी पहनने लगी साया ब्लाउज, जार्जेट और भाँति-भाँति की साड़ी, हाथ में नाक में टूम-छल्ला, पहले की तरह बेढंगा नहीं, बारीक, कारीगरी किया हुआ। साबुन, सुगन्धित तेल, ये सब वहाँ तो और भी ज्यादा है। बच्चों के हाफ-पैण्ट कमीज हो चुके हैं। घरों में चाय का अमल चढ़ता आ रहा है, दुकानों पर बन्दनवार की तरह जो कागजी पुड़िया टँगी है, ये लोग ही तो उन्हें ज्यादा खरीदते हैं, उनकी गली में साइकिलें भी दो-एक हो गयीं, कम से कम एक पेट्रोमैक्स की रोशनी, कई बार खराब होने पर भी कभी-कभी जलती है। पुराण पढ़ा जाता है। टार्चलाइट तो अनेकों हैं, कभी किसी के मुहाल में तो कभी किसी की छान पर झक् से दिख जाती है टार्च की रोशनी। आदमी के मुँह पर सीधी रोशनी फेंककर वे रास्ता चलते हैं। और उस रोशनी में दिख जाता है—जो पहले थे बड़े आदमी, बाबू, खानदानी, बस्ती के रास्ते पर उनमें से किसी का घर गिरता आ रहा है, हड्डियों के ढाँचे की तरह खाली बाँस की खपच्चियाँ काढ़े झुका खड़ा है, किसी के घर की फटी दीवार से होकर दरवाजे के अन्दर टार्च का प्रकाश चला जाता तो कोई गाली दे बैठता है, कोई चिल्ला उठता है, "अरे, कौन जा रहा है? ऐसे रोशनी

फेंकनेवाला यह कौन है ? किसको इतना रौब हो गया है ?" रोशनीवाला अँधेरा कर चुपचाप बढ़ जाता, फिर रोशनी डालता।

शहर के लिए निकलने पर उनमें से भी अनेक युवक बाबू-भेस बनाकर जाते। महीन धुली हुई धोती, कठोर चौड़े कन्धों, गठीले बदन और ऊँची चौड़ी छाती पर फूल खिलने की तरह जालीदार गंजी, उसपर दूध की तरह सफेद कपड़े का पंजाबी या चिकनी डोरिया की पूरी बाँहों की कमीज, साफ बनायी गयी दाढ़ी, छोटे-बड़े दो भागों में बँटे ऊपर सँवारे गये तेल से तर लम्बे बाल, भंगिमा में स्वास्थ्य और बल तथा बढ़ते दामों के दिनों में अपने हाथ से कमायी गयी फसल का तेज। अपनी वृत्ति में स्वाधीन भाव से पेट पालनेवाले आदमी का आत्मविश्वास—वह भी झलक उठता उस भंगिमा में। किसी के हाथ में होती सूटकेस, तो कोई थैला लटकाये होता। और फिर इनमें कइयों ने तो रेल-मोटर में सफर किया है, परदेश देखा है।

चलती दुनिया की खबर ये लोग ज्यादा रखते हैं, ज्यादा जानते हैं, और गाँव में ज्यादा हाँकते भी हैं। कलकत्ता, कालीमाटी, दुदुमा, हीराकुद, राउरकेला और जाने कहाँ-कहाँ की बातें!

बाबू लोग सुनते, और सिर हिलाते।

वे ही लोग, कोई खेतीहर, कोई केवट, ग्वाला, हलवाई, कुम्हार, लुहार और कितनी जाति। देश में स्वाधीनता आ गयी है। गाँव के बाबू-भैया देख रहे हैं—आँखों के आगे पुराने जमाने के सामन्तपन का अधिकार, जमींदारी का राज, यहाँ तक कि बँटाईदारी में अपनी जमीन की फसल के बड़े भाग की मिलकियत कहीं उड़ गयी है। अब तो घर पर छावनी के लिए पुआल नहीं, दीवार लीपने को आदमी नहीं, नौकर-चाकरों का झुण्ड तो सपना हो गया। पुराना जुग जाकर नया जुग आया है कि बस खाली व्याकुलता, छटपटाहट!

सोया आदमी जागकर देखता है कि उसमें बल भर गया है, दुनिया में उसका नया मोल है। अपने बल को स्वयं पहचाना है कुछ-कुछ। और साथ-साथ उसकी नव-प्राप्त दृष्टिभंगी के सामने पुराने जमाने के प्रतीक-जैसे पुरानी सत्ता के चिह्न-वर्ण अटपटे से दिख रहे हैं। अधीर हो रहा है कि—ये फिर रह क्यों गये? कब जायेंगे? जा क्यों नहीं रहे?

ये बड़े-बड़े झूठे दावे, मुफ्त के 'हम-बड़े' के जीते-जागते कूड़े के ढेर। ये कब हटेंगे?

और तभी गाँव-गाँव में देखते हैं सामन्तपन जिनका चला गया है ऐसे सामन्त लोग एवं धन चुके हुए सम्प्रदाय में कोई-कोई अपना आसन बचाये रखने के लिए बन रहे हैं गाँव के नेता। मौसेरे-चचेरे बने फिरते हैं। पीछे से आग लगाकर सामने बुझाने आते हैं। पहले गाँव में टाउटर केवल मुकदमेबाजी में लोगों को फँसाकर दो पैसा कमा लेते थे, अब ये गढ़ते हैं दल, वायदों के तावीज बाँटते हैं, पिटीसन लिखवाकर भिजवाते हैं,

भिड़ा देते हैं लोगों को आपस में, इधर लोक प्रतिनिधि के रूप में सरकार से पैसा लाते हैं और लगाते हैं अपने काम में, एक ज़मीन दस काम में बन्धक दिखाकर रुपये लाकर चट कर जाते हैं। 'ला दूँगा', 'करवा दूँगा' आदि कहकर लोगों को गाँठ में बाँधकर नेतागिरी करते हैं—घर भर रहे हैं। कण्ट्रोल का ज़माना और वोटों की लड़ाई में उन्हें तालीम मिल गयी, क्षमता की लड़ाई ने इनके लिए सुविधा कर दी, फिर और लोग भी तालीम पाकर इनके साथ निकल पड़े। कुछ चालाक और कुछ निकम्मे छोकरे भी उनके साथ घूम-फिर जान गये हैं कि नेतागिरी में उनका भविष्य अच्छा है। बड़े-बड़े लोगों के नाम के साथ अपने कार्यक्रम को जोड़, बड़ी-बड़ी बातें कह, लोगों की आशा या हिंसा को भड़काकर नये ढंग के बिचौलिये बनकर लाभ उठा रहे हैं। गाँव में नये जगे मेहनत-कश लोगों को भी ये देख रहे हैं, उनके अभीष्ट और अपने बीच कुहरे की तरह उठ आयी इस नयी संस्था को देख रहे हैं, ये भी भले आदमी हैं, सामान्तपन का नया रूप....मुट्ठी भिंच जाती है....अधीर हो उठता है। इनमें भी हिंसा है इस सामान्तकुल पर—आशा है—आग लगेगी!

वही पुरानी पानी की चोट खायी नदी-किनारे की जगह, समय के थपेड़े खाकर बाँकी-टेढ़ी पैनी-भोथरी, युग-युग से लोगों के आने-जाने के दबाव से पक्की हो गयी! अँधेरे मध्ययुग के विश्वास पर उसकी भित्ति, तर्क को उसका एक ही उत्तर कि 'वह समय की परख पर खरी उतरी है। उस परख में कसे गये हैं—राजा-प्रजा का समाज, मन्दिर में घण्टी की टन-टन, घर पर बड़े-बूढ़ों का आदर-सम्मान, बहू-बेटियों का बरताव, लम्बी चोटी, गले में माला, ब्राह्मण-वैष्णव को आदर, देव-देवी की पूजा। नये युग के प्रवाह को कहती—यह प्रलय के पूर्व की बाढ़ है। समता को कहती—बारह जात तेरह भाई, साम्य पर आक्षेप कर कहती—यह तो बस समाप्ति की सूचना है। सब होंगे एका-कार, न होगा वेदों का विचार, अपनी सत्ता से अपने समाज के स्वार्थवश टुकड़े-टुकड़े हो टूटकर नदी में बह जाने पर धर्म के नाम की दुहाई देती। कहती—धर्म गया! धर्म गया!

लोवा नायक उसी सम्प्रदाय का है। उनके मंगलाष्टक और पंचांग के फल पर से लोगों का विश्वास यदि टूट गया तो उसके जीने का अर्थ टूट जायेगा। फिर तो वह गाँव का खेतिहर मात्र रह जायेगा। कोई विशिष्टता नहीं। खेतिहर के पास किसान के समकक्ष होना उनके लिए अशोभनीय बात है। वैसे ही हैं शुकुटी मिश्र, क्योंकि वे धनी नहीं हुए, फिर भी उसी ठाकुरजी की पूजा और पोथी बाँचने में लगे हैं। ये सब, गाँव में सामान्तपन के पुराने मन्त्री, सेनापति, नये युग के नये धनियों को देख डरकर एक तरफ़ हट जाते हैं। कहते—"छोड़ो इन लोगों की बात, 'मर्यादा' तो जानते नहीं।"

ये लोग सिन्धु चौधरी के पक्ष में होंगे ही, लड़ने के लिए खाली जीभ का बल, वाद-विवाद का आसरा। उकसाते-उकसाते जो जोश में आयेगा वही उनका बल बढ़ायेगा।

जोश में आनेवाले लोग भी कम नहीं। कई हैं जिनका अपना कोई मतामत नहीं। बचपन से बड़े होने तक एक समान चलना, ग़रीब देहाती घर से ऊपर नहीं उठे, ज्यादा गिरे भी नहीं, एकदम सीधी लकीर, कोई परिवर्तन नहीं। सोचने की जरूरत नहीं पड़ी। जो आया भाग्य को मान, कर्म का नाम लेकर आँख मूँदे चलते आये हैं। और बचपन से मन में उस पुराने संस्कार के प्रति विश्वास, बड़े-छोटे की धारणा, जान-बूझकर याद न रखने पर भी मन के तल में। परिस्थिति में पड़कर ये सहज हो—

"मधिया भाई,

सब कथा कु होइ होइ।"

जो सीच सका ये उसी के झुण्ड के हैं, किन्तु सदा नहीं। इस मामले में इनकी स्मरण-शक्ति ज्यादा तेज नहीं। अत: जल्दी ही पक्ष बदल देते हैं। मामूली बात पर अड़ बैठते हैं। सोचने में कोई तकलीफ नहीं, डुबवाना और भी सहज है। ये लोग राजनीतिक दल बनानेवालों के आशा-भूमि और हताशा की दलदल हैं। लोगों की गिनती के समय आम-तौर पर ये लोग ही दोनों तरफ के लिए....'अपने गाँव के लोग हैं' कहे जाते हैं।

यहाँ अर्पति पधान ने भी दल बनाया, लोका नायक ने भी दल खड़ा किया। इनके अलावा जितने थे, कुछ डरपोक, बूढ़े-बडेरे आदमी, जो कहा करते, "हमारा क्या जाता है?" वे दोनों दल के, जिसे देखते उसी के, दोनों पक्ष एक साथ देखते तो ये केवल देखनेवाले बन जाते। निरीह जनता!

पाशे से महाभारत की तरह, हठात् पाटेली गाँव में सुलग उठे दो मतवाद, लोका नायक और किर्णई ओझा के कलह को केन्द्र में रखकर, और उसके पीठ पीछे परायी बात, सिन्धु चौधरी के घर की बात।

साँझ होते न होते गाँव दो दलों में बँट जाता।

सिन्धु चौधरी मेघ का-सा मुँह बनाये किनारे-किनारे अकेले घूम-फिरकर लौटे। घर पर स्त्री फिर भी गरज रही है। दीप जलाने के बाद वे सदा की तरह भागवत पढ़ने बैठे। ऐसा लगा मानो उसकी आवश्यकता थी, कम से कम संसार को भूला जा सकता है।

पीठ दिखाकर वह सब कुछ सह लेगा—रवि ने यही सोचा।

अत: जब नौकरी किये बिना ही वह एक अच्छे बेटे की तरह घर लौट आया है और पिता ने देखा—सामने उसका निकम्मा जीवन, उससे कुछ भी होगा नहीं, और

जी भरकर कोसते लगे तो, उसने तनिक भी ध्यान नहीं दिया। रास्ते की थकान मिटाने के लिए रात-भर विश्राम किया, रुँधे-घुटे शहर की मोटरों का तेल और सड़कों की धूल मिली हवा की दमघोंट स्मृति को मन से उतार फेंकने के लिए दो दिन गाँव-गली में घूम-फिर कर रवि फिर खेती के कामों में रम गया।

शहर से लौटने के साथ-साथ कपड़ों और सिर के बालों में जैसे शहरी धूल लगकर मैली दिखती है वैसे ही उसके दिमाग में कुछ धारणाएँ भी चिपकी हैं।

महात्मा स्वर्गत अनादिदास की समाधि के चबूतरे के पास विशाल बरगद के नीचे—एकान्त जगह, उधर नदी दिखती, उधर लम्बा ऊसर, गाय-गोरू चरते, और कुछ काँटेदार झाड़ियाँ हैं। उस बरगद की छाया में बैठकर रवि जूँ बीनने की तरह एक-एककर नयी धारणाओं को सिर में से निकालकर देखने लगा।

चौकोर ज़मीन में ट्रैक्टर से खेती हो तो क्या बुरी है? मशीन से सब होता तो इतने लोगों की दरकार नहीं होती। बेचारे बैलों को चैन मिल जाता, आशीष देते। बुरा क्या है? और इतनी-इतनी ढेंकियों के बजाय खास-खास जगह पर एक-एक धान-कल, वैसे ही तेलकल, गन्ने की कल, सब कल बैठा देते....। हर साल घर पर छप्पर डालने की क्या आवश्यकता है, एक बार बस एजबेस्टस की छत। फिर छुट्टी। पुआल का फिर क्या काम? गाय खायेंगी, दूध देंगी। सहकारिता समिति गढ़ने पर मशीनों की दुनिया सहज ही गढ़ी जा सकेगी। यन्त्र भी कह-कहकर दे रहे हैं, सस्ते और सुभीते से।

उसने अनादिदास के चेहरे का अनुमान लगाया। देखा नहीं है उन्हें, सुना है उनके बारे में। खूब लम्बे आदमी, सफेद जटा-दाढ़ी, सौ वर्ष के बूढ़े, जात के चमार थे। लोग महात्मा मानते थे।

"अनादिदास, ट्रैक्टर-युग का अनुमान कर पाते हो? सब मशीन से, सब कुछ यन्त्र से, अब तो शहर में कृत्रिम प्रजनन-प्रणाली से गायें प्रजनन करती हैं। और कुछ दिनों बाद आदमी भी, पचास वर्ष बाद जन्म लो हे, अनादिदास—कृत्रिम प्रजनन-प्रणाली से।"

मन ही मन मानो अनादिदास का जवाब सुन रहा है—"ट्रैक्टर ज़मीन जोतेंगे तो बैल करेंगे क्या? किसी का वंश बचायेंगे या उन्हें कोई खा डालेगा? लोगों को मजूरी कहाँ से मिलेगी? धानकूटनियाँ क्या करेंगी? क्या करेंगे, कहाँ जायेंगे ये वृत्ति वाले लोग?"

"लग जायेंगे सब कल-कारखानों में, क्यों अनादिदास, साइरन बजा, दौड़ेंगे काम पर। विराट-विराट कल-कारखाने, एक साथ सब मशीन में लगेंगे, चीज़ें पैदा करेंगे, वहीं पायेंगे एकता, समानता, छाती से छाती, हाथ से हाथ। जंजाल नहीं—"

कभी न देखा कल्पना से गढ़ा चेहरा लुंज हो उठता है।

"क्या? कृत्रिम प्रजनन-प्रणाली! मानव जीवन के बदले गाय-बैलों का झुण्ड, भागवत नहीं, मशीन की सीटी, गाँव की हवा के बदले शहर की घनी धूल, कोयले का

बस्ती में गंजड़ों की चोट के साथ-साथ चरस-चरचा भी हुआ करती है। आगत भविष्य की बातें उठती हैं।

किनारे पर साइकिल की घण्टी ट्रीं-ट्रीं बज उठी, आ पहुँचा चन्द्रपुर का सत्तार मियाँ। शहर से लौटा है। बोला, "भई, बीड़ी खतम हो गयी।"

बीड़ी का बण्डल थमाकर कालिया साहू ने कहा, "बैठो तो सही।"

सत्तार मियाँ बैठ नहीं सकेगा। दो-चार बातें खड़ा-खड़ा ही करके चला गया।

कालिया साहू ने कहा, "देखा, सदा हड़बड़ी रहती है इसको। खूब कारबार कर रहा है। बगीचा-बाड़ी खेती, कितना कुछ ! अपने गाँववाले तो बस, बैठे गप्प हाँकेंगे।"

"सच कहते हो।"

दो-चार गाहक आ पहुँचे। कल की तरह हाथ चलने लगा। चले गये। अकेली खड़ी है राधी कण्डरुनी।

"मेरी बात नहीं समझी तुमने।"

"कौन-सी बात ?"

"चावल आध सेर उधारी दे देने, पैसे कल दे जाती।"

"कहा तो, नहीं-नहीं नहीं होगा।"

"नहीं कहने से कैसे चलेगा, सब भूखे रहेंगे ?"

"उसके लिए मैं क्या करूँ ?"

राधी हटी नहीं। खूब चैंटू आदमी है। वह सोच रही थी। इसी तरह अड़ी रही तो दे देगा वह, चाहे देर भले ही कर दे। तभी आ पहुँचा जोगी पधान। उसे सौदा चाहिए। कालिया साहू ने सौदा तौल दिया। जोगी ने एक कहानी सुनानी शुरू की, "सुनो तो साहू ! बड़े लोगों की बात न्यारी है भाई, बड़ों के करतूत भी तो देखो। अपने रवि बाबू, अरे वह बट महान्ती का बेटा !"

"क्या हुआ ?"

जोगी पधान बैठ गया, "बस पूछो मत। हाट बैठी है।"

जोगी पधान ने कानों पर होते हुए सिर पर लपेट रखा गमछा उतारा, अपनी मोटी-मोटी मूँछों को हिलाते-हिलाते सिर इधर-उधर घुमाते हुए अपनी बात कहने लगा, "पाटेली गाँव के सिन्धु चौधरी का घर, जानते हो, कितना बड़ा था ? अब उजड़ गया। उनकी एक ही तो लड़की ! नदी के किनारे घर। ये बाबू शहर जाने को कहकर वहाँ जाते, जाने कैसे बिलाई को दूध मिलनेवाली बात की तरह भाड़-म्याउ हो गया। चली दुख-सुख की बातें, गुपचुप में ही। कहते हैं कि वचन का देन-लेन भी हो गया। अरे बाबू, सबर करते। हाथ में दो हाथ होते। सो तो नहीं, जिसे कहते हैं बस काला बजार। कहते हैं सीखा-सीखी हो रहे थे, घर छोड़ परदेस जाने की बातें जमा रहे थे। पर इधर बट बूढ़ा, जानते ही हो, मक्खीचूस है। पैसा कहाँ, और उधर सिन्धु चौधरी तो तलवार की धार। सुनकर रखते, क्या, अरे हाथी मरे भी तो लाख का। कोई कम होता है,

तुम्हीं बताओ तो सही—"

"राम-राम कितना अनाचार।" कालिया साहू ने कहा, "हाँ, जमाना सब कुछ कराता है।"

"तूने सुना ही कहाँ ? जरा धीर तो रख। बात प्रकट हुई—"

"किसने देखा ?"

"उससे तुम्हें-हमें क्या मिलेगा ? अरे खाली चिलम है या उसमें कुछ है भी ?"

"देता हूँ, ठहरो। तो क्या हुआ फिर ? ये तो भारत पोथी में अरजुन-सुभदरा-वाली बात।"

"बात खुली तो लोगों ने छी-छा किया। और एक दल चौधरी की तरफवालों ने कहा—यह सफ़ेद झूठ है। गाँव में पहले से ही बिगड़ा-बिगड़ी थी, आजकल किस गाँव में नहीं ? बस, इस बात को लेकर दो दल फट गये। कितनी ही दुनिया-भर की अड़चनें याद आयी, कितने गड़े मुरदे उखाड़े गये। कल किनारे पर दोनों दल लाठी-बल्लम ले आमने-सामने जम गये। लाठी ठोक-ठोककर गाली-गलौज कर रहे थे। आसतीन चढ़ा, जाँघ पर थप्पी मार, मूँछें ऐंठकर ऐसे हो रहे थे, कि देखते ही आदमी डर जाये। मैं तो आ ही न सका, काठ हो गया। हो जाती मार-काट, पर तभी गोबरपाड़ा गाँव के दस-पन्द्रह लोग एक साथ आ गये। बीच-बचाव किया, तब जाकर दोनों दल पीछे हटे। नहीं तो बात चुकता हो जाती। क्या हुआ फिर—पूछा तो पता चला, कुछ ऐसा-वैसा ही कर-करा दिया।"

"हाँ-हाँ, अपना क्या जाता है ! जो जैसा करेगा, वैसा ही भोगेगा। अपने को उसकी चरचा करने से क्या लाभ ?"

"लाभ यही होगा कि जो कहेगा उसका महत जायेगा।"

जोगी पधान चला गया। कालिया साहू खड़ा हो गया। अब वह किवाड़ बन्द करेगा। राधी ने खड़े होकर कहा, "देगा नहीं ? हम क्या भूखों मरेंगे ?"

"अच्छा, ले ले।" कालिया साहू ने कहा, "और एक बात। जोगी पधान ने जो कुछ मेरे आगे कहा, सब तो सुना, कहीं और जगह बक न देना।"

"मुझे चावल सेर-भर दे, मैं जाऊँ। जोगी पधान ने तुम्हें क्या कहा सो तुम जानो, मुझे क्या मालूम ?"

"आध सेर के लिए कहती थी, अब सेर कहने लगी !"

"नहीं सेर-भर दे दो साहू। कल पैसा ला दूँगी....कल छोरे का वार आयेगा तो देगा नहीं, बकाया रखेगा क्या ?"

"अच्छा, ले, पर कहीं कहना नहीं—"

"आँख फूटे अगर कुछ भी मुझे मालूम हो, मैं किसे क्या कहूँगी ? ला पल्ले में डाल दे।"

कण्डरमी राधी वई मलिक की काकी है। और वई है बचपन से रवि का चेला।

वई मल्लिक आकर खबर कह गया है।

चौंककर देखा रवि ने। अचानक लगा, जैसे फूल सचमुच जलकर राख हो गया है।

क्यों है यह अभियोग ? किसका क्या कसूर किया है उसने ? मन की अस्थिरता थमी, कि उसने अपने आपसे पूछा। आसानी से वह जवाब नहीं दे पाया, अनुभव हो रहा था, मन में अनजान ममता की जड़ें कहीं गहरे पैठ गयी हैं, बाहर का दारुण आघात ठोक-ठोंककर उसकी बात को याद करा देता है—उसने छवि को चाहा है।

वह किसी से कुछ नहीं माँगता, कुछ नहीं चाहता। उसने किसी का कुछ बिगाड़ा नहीं। फिर भी एक साथ वह भरा जा रहा है लाज से, संकोच से। मन कहता है—जा चला जा।

अकेले इधर-उधर होते हुए अँधेरा घिर आया। कितने सुन्दर गाँव को वह घूम-घूमकर नयी आँखों से देख रहा था। निश्चिन्त, बेधड़क। न परीक्षा न नौकरी, कोई हड़बड़ की जरूरत नहीं।

अचानक सब बदल गया। चिन्ता का वेग पैरों को छू गया है। वह ऊबड़-खाबड़ में ही चल पड़ा।

•

पिता अब कुछ नहीं कहते। माँ भी कुछ नहीं बोलती। फिर भी लगता मानो उसे कहने के लिए उनके पास ढेरों नयी बातें हैं।

वह उन लोगों से भागने लगा है। खेती के काम-धाम में ही लगा रहता। काम भी बेशुमार है। खरीफ का धान अमल होने के बाद लाकर बड़े गोदाम में सहेज-कर रखा गया। साथ-साथ खेत में मूँग बोये गये। उधर आलू के खेत में पाल ऊँची करनी है, ढाबे में रहट से पानी पटाना है। इधर गन्ना लगाना तो उधर काटना, गन्ने को अमल करना, गुड़ राँधना, कछार में सब्जी लगाना है। सब जगह निगाह चाहिए। निगाह कम पड़ते ही टोकरी-टोकरी बैंगन गायब हो जायेंगे। इसके अलावा नयी बाड़ी बनाना, जोहड़ की जमीन पर कुछ घेरा डालने की भी बहुत दिनों से इच्छा थी।

हलवाले हैं। इसके अलावा बँटाईदार रैयत भी हैं। रवि अपने मन मुताबिक खेती-बाड़ी में हाथ बटाना पसन्द करता है। वह रहता तो काम करनेवालों को भी अच्छा लगता। उसकी बातों को केवल सुनते ही नहीं, अन्तर में समा लेते हैं। इसके अलावा वह मन देखकर जरा-जरा-सी सुविधा भी कर देता, उन्हें बहुत खुशी होती। कोई कुछ घर ले जायेगा, कोई तनिक छुट्टी लेकर अपना कुछ काम कर आयेगा। वह मना नहीं करता, इसके अलावा कभी-कभार पावला-धेला भी मिल जाता है माँगे से। काम ढीला नहीं पड़ता, कभी समय-बेसमय यदि कोई गमछा सिर के नीचे दबा पेड़ की छाया देख तनिक झपकी लेने लगता, तो कोई दूसरा चेतावनी देता हुआ टोक देता—"छिः !"

माँ उलटे और अधिक लाड करती। जतन से बना-पकाकर बैठी वाट जोहती रहती, भूखी ही। आते ही चाव से खिलाती। कहती, "झूठे ही राज-भर का बोझ उठाये फिरता है तू? खाकर मुँह धोना तक सीखा नही और अब तू मेहनत कर कितना काला पड़ गया! अपना तो खयाल रख!"

माँ और कहती, "तुझे किस बात की चिन्ता है, बता तो? खाने बैठे हो पर मन कहीं और जगह है। मर्द हो, किसलिए परवा करते हो। जो मन में आये वही करो।"

पिता का व्यवहार कभी-कभी रूखा-सा लगता। औरों पर बिगड जाते। उस दिन शनिवार था। डाक की पाली का दिन। डाकिया दोपहर बाद चिट्ठी दे गया। पढ़कर बट महान्ती उठे तो सामने रवि। माँ पर गुस्सा उतारते हुए कहने लगे, "अब बुढापे में रवि मुझे बुद्धि सिखायेगा? हम उल्लू है और वह सयाना? ठीक है, उसकी अक्कल उसके पास ही रहने दो। बेटा जाया या ना, लो—" चिट्ठी की चिन्दी-चिन्दी कर माँ पर फेंक दी।

क्या था उसमें?—रवि ने पूछने का साहस नही किया।

सन्देह बढ रहा था।

घर के पश्चिम की ओर थोड़ी दूर में एक बगीचा लगाने की चेष्टा हो रही है। बीच में छोटी पोखरी, बगीचे को सींचने के लिए खोदी गयी थी। काफ़ी मछलियाँ है उसमें। पोखरी की पाल पर नारियल के पेड़ लगे है, अभी पोरसा-पोरसा ऊँचे हो गये है, गोल फुनगियाँ फैली है। उसके चारों ओर नाना जाति के कलमी आम, चीकू, अमरूद, दाडिम, नीबू, कटहल, करौदा, कमरंगा, आँवला आदि कितने पेड। कोई सिर छूता-सा, तो कोई और अधिक ऊँचा। वैसे ही पोखरी के चारों कोनों में चार चम्पा के पेड़, सीढियो के पास एक तरफ बकुल का झाड, दूसरी ओर नागेश्वर। रवि के विचारों और कोशिशो से बगीची बढ उठी है। बच्चों के खिलौने खरीदने की तरह वह खरीदता पौधे। लाकर लगाता। चारों ओर बाड़ है। बाहर रास्ते के किनारे पुआल का ढेर।

उस दिन दो पहर ढल गयी थी। अकेला रवि पेड़ों के बीच घूम रहा था। देख रहा था।

पोखरी पर धूप गिर रही थी। सरसराती छोटी-छोटी मछलियाँ पानी मे खेल रही है। असंख्य। जगह-जगह बड़ी मछली उठकर धीरे से गोता लगा जाती है। एक छोटा-सा कछुआ गरदन टेके छपछपाता-सा घूम जा रहा है पोखरी के चारो ओर। उसका घूमना खत्म ही नही होता। पानी मे नारियल की फुनगियो की छाया झिलमिला रही है।

रास्ते के उधर से आवाज और हँसी सुनाई दी। रवि ने देखा, सेवती और उसकी माँ दोनो पुआल का ढेर लगा रही है। मजूर है दोनों। बाँस पर लटकी हण्डी और उसमें लिपटी अधमरी लता की तरह दिखती है सेवती की माँ।

सेवती की माँ ने ऊँचे जबडे पर काली हँसी हँसते हुए कहा, "अपने बाबू का

ब्याह हो रहा है। अरे सेवती, इतने बड़े-बड़े बाराती मिठाई खायेंगे, घी की मिठाइयों से भर जायेगा घर, जितना कुछ होगा कोई क्या खायेगा? खाते-खाते पेट फट जायेगा।"

माँ के पास झुककर फुसफुसा उठी थी सेवती। अठारह-उन्नीस की होगी। माँ की बात सुन लोहे की पत्ती की तरह उछल पड़ी। हँसते-हँसते, झूमते-झूमते गिर ही गयी। पान का पीक फेंकती बोली, "सच, है, माँ?"

"सच नहीं तो क्या झूठ कह रही हूँ? क्यों, तेरी आँखों को कुछ दिखता भी है? अपने छोटे बाबू की उमर ब्याह के लायक नहीं हुई क्या? बाबू सुनते हो मेरी बात! जोतसी ने इसके बापू को बताया था कि यह बच्ची मामूली नहीं, यह बड़ी भाग्यवाली होगी, बड़े आदमी का आसरा पायेगी। बापू तो लाड़-प्यार कर भगवान् को प्यारा हुआ, अब इसे ले जाकर कहाँ बिठाऊँ, मेरे तो सिर का दरद है यह!"

सेवती ने कहा, "अरी माँ, देख तो, वहाँ कितने छोटे-से नारियल के पेड़ में भी फूल आ गये! मैं देख आऊँ।"

"जा, तुझे मना कौन करे?" माँ ने कहा, "छोटे बाबू, ये जो सुन्दर बगीची लगायी, यहाँ छोटा-सा बगीची-घर और खड़ा करो, बहुत जँचेगा।" फिर बोली, "देखो तो बाबू! धोती नहीं, ये लत्ता है। छोकरी को पहनाने के लिए टुकड़ा भी नहीं, दस जगह से टाँके दे चुकी, अब कैसे ढाँपें? हमें एक-एक साड़ी दिलाना बाबू, वरना क्या पहनकर नयी बहू देखने जायेंगी?"

अबतक रवि चुप था। अन्दर एक अजीब-सी अनुभूति हो रही थी। अचानक चौंकता-सा बोला, "क्या बक रही हो सेवती की माँ? किसकी शादी? मैं तो ब्याह करने से रहा—"

"सच! ऐसी बात! ब्याह नहीं करोगे। हमारे भोज-साड़ी से डर गये। इसके लिए इतनी बड़ी बात कहते हो?"

सेवती हँस पड़ी। रवि को सब मानो बिच्छी की तरह चुभ रहा था, "साड़ी चाहिए, जाओ माँ से कहो, माँग लो, मुझे यह सब कहने से क्या होगा?" खीजते हुए उसने कहा, "जाओ काम करो, नहीं तो जिधर जाना हो जाओ। मुझे यह सब फालतू बातें कहने से क्या लाभ?"

"उई माँ, जाती हूँ!" सेवती की माँ ने कहा, "मेरे रहते छोटे बाबू चिढ़ उठते हैं—" वह दूर हट गयी। सेवती मानो कुछ कहना चाहती हो, उस ढंग से हिलती-डुलती रही, सिर झुकाये खड़ी रही, ऊपर सिर उठाकर देखा, तबतक रवि बगीचे की ओट से दूर चला जा रहा था। सेवती धीरे-धीरे माँ की ओर चली आयी।

रवि चला गया। दूर-दूर पर लोग हैं। पास में कोई नहीं। चुनचुनाहट-सी हो रही है।

तावीज छूकर मन में हिम्मत भर लेने की तरह उसने छवि का चेहरा याद किया। आशा और विश्वास से मन मजबूत हो गया।

संसार में ये दिन भी नहीं रहेंगे !—रवि सोचने लगा। प्रशान्त दयार्द्र दृष्टि से चारों ओर देख हिम्मत के साथ चल पड़ा। वीर पुरुष—उसे लग रहा था, जैसे वह कहीं कुछ जय कर आया है !

रवि देख रहा है—भैया की चिट्ठी फाड़कर फेंकनेवाले दिन से पिता में हुए परिवर्तन को। इन दोनों बातों में कुछ सम्बन्ध है। पर भाई ने पिता को क्या लिखा था ?

कौतूहल मानो वहीं भटक जाता। और आगे बढ़ नहीं पाता। भाई की बात याद करने पर उसे लगता जैसे जन्म से ही उससे उनका सम्बन्ध कुछ अन्यथा है। उनके साथ सम्बन्ध मात्र इतिहासजनित है। दोनों एक माँ-बाप की सन्तान हैं—जैसे सब परमपिता परमात्मा की सन्तान हैं, बस वैसे ही। और इतना कि भाई कहने पर कुछ भय, कुछ रोक-टोक, मन कुछ शंकित-सा सहम जाता।

अभाव पूरा करती अपनी कल्पना—वह भाई है !

भौजी ! उनका भद्र, अति मधुर, पराया बरताव यह बता देता—तुम दो दिन के लिए आये हो, बस ठीक, घर की बातों में डूबने नहीं आये, मेहमान बनकर आये हो, वह मेहमान हैं।

बैठो मेहमान, सब ठीक है तो ? कैसे चलता है ?

तुम दाँत दिखाकर कहोगे—हाँ चलता है, ठीक ही।

भौजी अनादर नहीं करतीं, पर लौटते समय लगता, सब खाली हो गया। रवि खुद से पूछता—कहाँ गये थे ? क्या लाये ?

बच्चे भी वैसे ही, कितने सुन्दर, अवाक् होकर देखते। शहरी तौर-तरीके वाले बच्चे, सारे ढंग ठीक, गँवई बच्चों की तरह बिलकुल नहीं, मानो कोई नया जन्तु हो। और फिर बच्चे दौड़ जाते अपने धन्धे में, सब शहर चले जाते हैं।

जितनी बार सोचता, लगता मानो कुछ अनकही बातें रह गयी हैं—ये तुम्हारे काका हैं बच्चो, घर बन्धमूल में है, नमस्कार करो ! अनकही बात व्यवहार और परिस्थिति में अपना रूप प्रकट कर मिल जाती। और रवि गाँव लौट आता।

बट महान्ती।

कानों से टकराती है पाटेली गाँव की हो-हल्ला की बातें, और उसमें लिपटा-उलझा एक नाम—रवि !

पहले-पहल जिस दिन सुना, उन्हें लगा, उनका सब कुछ ढह गया, वे बेसहारा हो गये हैं। एक प्रतिहिंसा-सी मन में भभक उठी—पाटेली गाँव जाये भाड़ में। लगा, मानो रवि के भेष में कोई खुफिया दुश्मन हो जो बट महान्ती के खानदानी नाम को अपमानित करने की जुर्रत कर रहा है। वही नाम, वही अहम्। उसे ही लोगों की

औरों के आगे गढ़कर ऊँचा करने में एक जनम लग गया। तब लगा जैसे उस हो-हल्ले की आँच धीमी पड़ गयी है और वे रवि और अपने आपसे अलग कर देख नहीं सके, जैसे यह आवाज उन्हीं के नाम से उठायी गयी थी।

मन ने कहा—असम्भव है यह सब !

आज देह पर बुढ़ापा छा रहा है, परमार्थ घिर रहा है, रुचि में रूढ़ि और प्राचीनता। अमरकोष और व्याकरण पर चर्चा करने को मन करता है। पढ़ने में वही जँचता है जिसका अर्थ सहज ही समझ में नहीं आये। पसीना निकल आता, दाँत भिंच जाते। अंग-प्रत्यंग हल्के नहीं लगते, हाथ थपथपा देने से लगता जैसे किसी ने दमगेरा धर दिया हो। बिस्तर पर पड़ने से भी लगता मानो कोई एक काम पूरा हो गया, बैल खोलकर किसी बोझाई की हुई गाड़ी को झुकाकर रखा गया। आज साँस छोड़ने से धूल उड़ती, गले के घड़घड़ाने पर बेन्देरा बजता। देह उठना भी नहीं चाहती।

अतः मन ने कहा—यह असम्भव है !

किन्तु देहातीत जो चैतन्य है जो ठीक तराजू के माप पर नहीं आता, उसमें बिखरी-टूटी स्वप्न की अनुभूतियाँ तैरती चली आती हैं, वे सब स्त्री की हैं।

सब पहेली-सी लगती... आगे कौन पीछे कौन ? बुढ़ापे के लिए जो क्षोभ है वह भी झूठा, खाली ऐहिक अनुशोचना। झूठी माया है। बड़े महात्मा इसी तरह परमार्थ की बातें सोचा करते।

शास्त्र-चर्चा के दौरान कभी अगर जरूरत हो गयी उधार दिये रुपयों के लिए कसकर ब्याज वसूलने की या कड़ा-कड़ी हिसाब लगा खेत के पुआल या ताड़ के पत्ते या अमराई के झरे पत्ते दूसरों से वसूल करने की, तो उसे गृह-धर्म कहकर चला लेंगे। आदमी कृष्ण नाम जपे तो क्या भात खाने को थाली के पास नहीं बैठे ? तब जो करो, मन ही मन 'गोविंदाय नमस्तु' कह दो, बस सब पुण्य, सब पवित्र है !

पर कुछ बातें हैं जिनके बारे में वे मन ही मन गोविन्द से आँखमिचौनी खेलते हैं। क्योंकि वे बातें सब गोविन्द को समर्पित करने योग्य नहीं होतीं। वह तो घट-धर्म ठहरा, देह-धर्म। इस देह को किसने गढ़ा है ? उस गोविन्द ने ही तो ? उस घट-धर्म में अतीत के वे चित्र रक्त में फैल जाते।

कुछ नहीं तो भी याद में ऊष्मा पैदा हो आती है, उसे चाहे गरम न कहें। देह में वह ऊष्मा भरना ही अच्छा लगता।

वे सब एकदम गोपनीय बातें ठहरीं—

एक-एक नाम, नाम के साथ एक-एक कोई ऐन्द्रिय अनुभूति और एक छाया, एक छिलका।

ढेरों अँधेरा एक तीखी मल्लिका की सुगन्ध बिखेरता, पहुँच जाता बाड़ी के किसी कोने में। उस ओर टूटी बाड़, फिर उधर बाड़ी, उधर किसी के घर की बाड़ी के किवाड़। सब दिखता, अनुमान से कह दो, बाड़ी के किवाड़ बन्द हैं, इधर साँकल चढ़ी

है। रात घनी-अँधेरी, तेज हवा में साँय-साँय करती रात। फिर भी इस दखिनी हवा के नीचे-नीचे कितनी उचाट उमस है, देह पसीना-पसीना हो उठती है, छाती पर पड़ रही है विवश भूटने की चोट। एक लय से कोने में घने जमे अन्धकार की ओर। सबकी लाठी के सिरे पर चूना पुती हाण्डी सिर उठायेगी क्या? चर्रा रही है सफेद हण्डिया और उसके साथ पहचानी-सी झनझनाहट। और प्रतीक्षा नहीं। पास जाते-जाते मानो जूही की तीखी सुगन्ध घनी होकर घेर रही है चारों ओर से। अँधेरे में छलांग लगाकर चेतना लुप्त। एक नया स्वप्न, मानो अपने आप एक सनसनाता तूफ़ान सारी वेग और बल, और फिर अवसर दिये बिना लगातार चमकती बिजली, बाद में सारी इन्द्रियों को स्तब्ध-विस्मित कर देती तेज गड़गड़ाहट के साथ अचानक आँख खुलने से पहले ही मूसलाधार वर्षा, तूफ़ान और नहीं है। विराट् अवसाद में मेघों को उलीचकर आकाश ने आँखें मीच ली हैं। अँधेरा, खाली अँधेरा।

समय की चेतना लौट आयी है। मेघों की बौछार खतम हो चुकी है। भीगे, भीगे, भीगे, चारों ओर भीगा-गीला। भीगी माटी का सौरभ। उसमें हल्दी की महक, चोवा और चन्दन की। एकदम निभृत और निविड़, अत्यन्त सूक्ष्म लग रही है, क्रमशः लौटती आ रही है जूही की महक; आते समय कितनी तीखी लग रही है।

मल्ली की महक याद करा देती है। घटनाएँ धुँधली लगती हैं और अधिक अस्पष्ट हो अँधेरे में बिखर जाती हैं और उनके नाम तक विस्मृत हो जाते हैं।

सच, एक दिन था, जब यह भी उज्ज्वल था। अब और नहीं है।

जहाँ इतनी घनिष्ठता है....खून के साथ खून का मेल है, मन के साथ मन का लगाव है, वहाँ क्यों रूप की सारी मूर्तियों को बनाकर, जी भरकर देखने के लिए सहेज-कर रखा नहीं जा सकता? व्यस्त होकर इधर-उधर ढूँढने से अंगों के टुकड़े हाथ लगते हैं, और उन्हीं टुकड़ों को देख समूचे मनुष्य को देखने की तरह लगता है। तीज के चाँद को देखने से जैसे उसके साथ सटी हुई, अँधेरे आकाश में सहमी गोल खाली जगह आँखों में नहीं पड़ती, सब मिलकर मानो पूर्ण चन्द्र के अस्तित्व को जताते हैं... अंग सिर्फ़ अंग नहीं है—समूचा आदमी है....सिर्फ छिपे-उभरे का अन्तर है।

इसलिए सब याद आ रहे हैं।

एक प्रौढ़ विचार से भी अपने को माफ़ किया जा सकता है ...एक चुपचाप बाँकी मुसकान से—और मन ही मन कहा जा सकता है....कुँआरा समय बेलगाम होता है.... खून गरम और मन में अज्ञानता होती है....ईर्ष्या न जागे तो सबको माफ़ किया जा सकता है।

रवि को भी।

किन्तु क्षमा का विचार उठता केवल बात को जरा दूर से देखने पर; जबतक कर्तव्य पूरा करने का प्रश्न नहीं उठता तभी तक; स्वयं काम करने का दायित्व आने पर एक ही फूँक में मानो सारी कोमल स्मृतियों से बुनी भावनाओं की दुनिया उड़ जाती,

फिर नयी दुनिया में नया रूप। रवि उनसे शंकित-सा रहता। सोचता, उमर बढ़ने पर आदमी ऐसे ही काठ-सा हो जाया करता है, दया-धरम की बातें केवल जबान पर होती हैं, रामनामी ऊपर-ऊपर, अन्दर नहीं।

रवि वार्द्धक्य को दाँत कटकटाती हाड़ कँपाती जाड़े की रात की तरह देखता। सोचता, वह बूढ़ा नहीं होगा, वरन् उससे पहले ही कूच कर देगा, यह जीवित-मरण उसे नहीं चाहिए, लोगों से भयभीत थरथर काँपती हुई मानवता उसे नहीं चाहिए। बस ज़रा-सा सादा स्नेह, सरल विश्वास मामूली-सा, आदमी को आदमी समझें, लोग भी उसे आदमी के रूप में ही स्वीकारें, और अधिक क्या चाहिए?

फिर भी काया काँप-काँपकर उसी जाड़े की रात को पकड़ने के लिए हाथ बढ़ाती। वही पिता, वही समाज, सनातन, अचल चलन। वे लोग उसका गला घोंट देंगे, ईर्ष्या या क्रोध में नहीं, केवल स्नेह से। पवित्र स्नेह से उसकी छाती पर पत्थर लाद, हथौड़ा पीटेंगे। उपाय दीखता नहीं। यदि इस ज़रा-से बोझ को फेंक देने के लिए अपने अन्दर आह्वान सुनने लगता तो और भी डर पैदा हो जाता। स्नेह के मकड़ी-जाले को तलवार की धार से झटके से काट डालना सचमुच कितना असम्भव है! साहस खो जाता।

तो भी अपने भीतर से बाहर फुहारे की तरह चारों ओर छिटक पड़ता—आशा का झरना। बाहर उसी फुहारे से इन्द्रधनुष बनता, छवि का चेहरा दिख जाता।

उस दिन छाया ढल आयी थी। रवि जल्दबाजी में निकल रहा था अहीरों की बस्ती की ओर जाने के लिए। अहीरों की बस्ती की उन्नति की बात चल रही थी। बस्ती को कम से कम साफ तो रखना पड़ेगा ताकि ठीक दरवाज़े के आगे ही गोबर की गन्दगी न हो, बल्कि एक तरफ कुछ हटकर खाद के लिए उनकी कुरी की जा सकेगी। सबकी राय लेकर इकट्ठा कर यहीं से शुरुआत की जा सकती है, फिर और कई बातें हैं, मिलकर सब सुख-सुविधा से चल सकें—वह देख पा रहा है। केवल बस्तियों में ही नहीं, सब जगह कुछ न कुछ उन्नति करने के लिए काम पड़ा है।

बाहर निकलते समय देखा, पिता की कोठरी की तरफ से कोई अपरिचित बूढ़ा आ रहा है, लम्बा आदमी, सफेद सिर, माथे पर सफेद तिलक, सफेद बरौनियाँ, चौड़े-चौड़े कानों पर सफेद-भूरे रोयें, सफेद जंगल-सी भरी छाती। सफेद धोती, चिकने काले कन्धे से झूल रही है सफेद चादर, काँख में दबाये है लाल कपड़े का बसना। चेहरे और भंगिमा में विशिष्टता है। दूर ही दूर से लोग उसकी ओर देख रहे हैं। पलकों को टिमटिमाते हुए बूढ़े ने रवि की ओर देख नमस्कार किया। अपना परिचय देते हुए कहने लगा, "जी मेरा नाम लोकनाथ नायक। हमारा घर है पाटेली गाँव में, वहाँ के चौधरी घराने का जोनपो हूँ। चौधरीजी ने एक काम से भेजा था, सो आया था।"

रवि के मुँह से निकला—"ओह!"

लोकनाथ नायक कहने लगे, "आप पाटेली गाँव पधारे थे, सुना था। चौधरियों की हवेली अब टूट गयी है। क्या करें, कालस्य कुटिला गतिः। नहीं तो एक दिन था जब

वह घर....इस इलाके में कहाँ था वैसा घर ! इतने बड़े खानदानी, साक्षात् राजा का ही घर समझो। चाहे सब चला जाये, पर उस घर में आज भी मानवता है। सिन्धु चौधरी साक्षात् साधु पुरुष हैं! कितने महान्, कितने उदार, देखते ही श्रद्धा हो जायेगी। आपकी तरह ही ऊँचे पढ़े-लिखे उन्नत-उदार हृदयवाले। सत् पुरुष ही उन्हें पहचानेंगे, नहीं तो कौन उन्हें पहचानेगा? आपके गुणों को कौन नहीं जानता? सब पढ़ाई करते हैं नौकरी के लिए, और विद्वान् होकर भी नौकरी के बदले देश-सेवा करेंगे। हाँ, भगवान् आप लोगों को कुशल-मंगल से रखें, आप लोगों का सुख-आनन्द देख, यश सुनते-सुनते यह जीव चला जाये, आपको भगवान् दीर्घायु करें।" बूढ़े ने हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया।

मानो कोष्ठक के बीच रह गयी हैं कई अनकही बातें, रवि ने उन्हें पढ़ लिया हो। वह गम्भीर हो, सिर झुकाये खड़ा रहा, लाज से चेहरा लाल हो रहा था। लगा जैसे उसके कानों में कोई नयी बात पड़ी है।

उसने पूछा, "पिता कहाँ हैं?"

रवि ने हाथ दिखाकर कोठरी की ओर संकेत कर दिया। कहा, "जाइए, वहीं भेंट हो जायेगी।"

रवि तेजी से चला गया। किन्तु अहीर-बस्ती की ओर जा न सका। मन घूमने लगा उस आदमी के पीछे-पीछे। सोचने लगा, "और तनिक ठहरकर चला जाये तो ठीक रहेगा। घर के पास ही काम हो रहा है, देखरेख के लिए जाने की इच्छा हो गयी। फिर मन किया, थोड़ा पानी ही पीया जाये। घर के अन्दर गया। उसके सूखे चेहरे को देखकर माँ ने कहा, "खा-पीकर जरा विश्राम नहीं किया रे, जब देखो बस काम-काम! लिखाई-पढ़ाई नहीं तो घूमना-फिरना। बस काम....क्या इसी के लिए तू घर पर रह रहा है?"

"बैठकबाजी करनेवालों का भी एक गुट है, साआन्ताणी, ये अपने बाबू वैसों में नहीं हैं।" बाड़ी की ओर से सेवती की माँ ने आवाज दी।

"तेरी ही आँखों को मेरा बेटा बड़ा कामकाजवाला दिखता है," रवि की माँ ने कहा, "जा, तू अपना काम कर। बातूनी मत बन। बेटे ने खाकर मुँह धोना तक सीखा नहीं—यह काम करेगा! आदमी होगा, घर करेगा, क्या बात कही तूने....जा-जा, काम कर।"

रवि बाड़ी की ओर से निकल गया। टोकरी लिये आड़े खड़ी है सेवती की माँ। पीछे पल्लू मुँह में गाँसे सिमटी हुई सेवती। नीचे की बाड़ी में गड्ढे भरे जा रहे हैं, समान क्रिया जा रहा है, कुछ दूर जगा धाउरी-पुरानी खाद की कुरी हटाकर माटी निकाल रहा है, माँ-बेटी लाकर गड्ढों में डाल रही हैं।

सेवती की माँ ने कहा, "बाबू आये तभी न इतने काम लगा दिये, वरना कौन यहाँ इतने काम कराता था।"

रवि ने कहा, "अच्छी तरह मन लगाकर काम कर।"

सेवती की माँ ने कहा, "नमक खाया है, जीव बचाते हो बाबू, काम क्यों नही करेंगी ?" फिर स्वर झुकाकर कहा, "बाबू धोती माँगी थी, हुकम किया ?"

"जाकर माँ से क्यों नही कहती ?"

"हमारे कहे क्या होगा बाबू ? आप ही दया करो, तब न होगा।" फिर बात घुमाकर कहने लगी, "बाबू, जिस बस्ती में आपके पैर पड़ते हैं, वही हँस उठती है। लोगों को समझा-बुझाकर कितने झोंपड़े ठीक करवाये, गूजे घरों पर छान बँधवा दी, हमारी बस्ती में भी आपके कभी पैर पड़ते, हमारी टूटी झोंपड़ी देखने।"

"मैं जाकर क्या करूँगा, तुम कहती क्यों नही लोगों से ?"

"हमारी बात कौन सुनेगा ? सब तो मुखिया-मजूरे ठहरे ! काम रोककर कौन आयेगा हमारी झोंपड़ी खड़ी करने ?"

"अच्छा-अच्छा, देखेंगे कभी, जा काम कर।"

सेवती की माँ जगुआ के पास माटी उठाने चली गयी। सेवती अलसायी-अलसायी-सी पैरों से मिट्टी फैला रही है। अचानक उसने तिरछे देखा और हँस पड़ी, जाते-जाते रवि का ध्यान उधर चला गया और उसके मन में भर गयी अशान्त अपवित्रता और फिर देह जैसे क्रोध से भभक उठा।

तेजी से जाते-जाते मानो सामने कोई काली छाया चमककर फिर भसम हो गयी हो ! चली गयी सेवती और सेवती की माँ, और उनकी असहायता के प्रति उसकी सहानुभूति, मन के किवाड़ बन्द हो गये।

काम देखा, और फिर एकदम सीधा बाहर। कोठरी के दरवाजे के पास वही बूढ़ा वापस जाने के लिए मुड़ रहा है। पीछे से सुनाई पड़ रही है पिता की गरज-तरज। बूढ़ा ऊँची आवाज में जवाब दे रहा है। उसके स्वर में अपमानित व्यक्ति का दुख झलक जाता है। बातों से जैसे लौ उठ रही है। रवि रुक गया।

बूढ़ा कह रहा है, "मैं भी कोई पैरों में गिरते नही फिर रहे। वैसे बेटा-बेटी होने पर यह सब करने की आवश्यकता पड़ती ही है, इसीलिए भेजा था। आपके द्वार पर आया। ठीक है। मैं यही कह दूँगा, मेरा क्या जाता है ? पर देखिए, बात रह जाती है जुगों के लिए। बस।"

"अच्छा, आप जाओ भले आदमी, विदा होओ ! बात जुग-जुग के लिए रखनी और करनी हो, तो यहाँ सामने के दरवाजे से आना, बाड़ी के रास्ते से घुसने की चेष्टा न करना !"

"ठीक है, ठीक है, कहूँगा, कहूँगा। सामने का रास्ता, पिछवाड़े का रास्ता—ये आप आज उन्हें समझायेंगे ? सामने के रास्ते पर भातों का ढेर लगाते-लगाते तो वे फक्कड़ हो गये और जिन्होंने चुगा, पोटली बाँध बाड़ी के रास्ते से घर भरा, वे आज बन गये बड़े आदमी ! कितने ही बड़े लोग देखे हैं, हुजूर ! आपकी दया से उमर रही तो और भी देखेंगे।"

"अच्छा, अच्छा, रहने दें, रहने दें, जोतसी जी, हमारी सात पुश्त का उद्धार हो जाता। नहीं हुआ, न सही।"

रवि ने दूर से देखा, पिता घर से निकलकर खड़ाऊँ ठक-ठक करते एकदम सीधे चले गये मन्दिर की ओर। और उनके बिलकुल विपरीत दिशा की ओर चला गया वह बूढ़ा। लोग देखते रहे, किसी ओर नजर नहीं फेरी उसने।

रवि के मन में मानो अँधेरा उतर आया। अँधेरे में भाँति-भाँति के टूटे-फूटे शब्द, और हलचल। धीरे-धीरे मानो कोई तूफान घिरा आ रहा है। अपने को सँभालने की चेष्टा करते-करते वह अपने कार्यक्रम के अनुसार अहीर-बस्ती की तरफ चल पड़ा।

साफ दिख रही है—दूर खड़ी है छवि! वहाँ अँधेरा नहीं, प्रकाश है!

काम पूरा हुआ, साँझ ढल गयी, कितनी बातें उसने कहीं, कितनी सुनीं—समस्या और उद्यम की अटूट कहानी।

किन्तु मन नहीं माना। हृदय में खाली-खाली-सा लगा रहा, मन में वैसा ही अँधेरा। सोचा, वह ठाकुरजी के दर्शनों को जायेगा, उसे शान्ति चाहिए।

पहली पहर का अँधेरा। सिहराती हुई मन्द हवा। रवि घेरे के दरवाजे के पास रुक गया। आड़े बकुल का तना है, सारे दरवाजे को पार कर दृष्टि अन्दर चली जाती है। सामने काले पत्थर की गोपालजी की मूर्ति, जीवन के देवता, हाथ में वंशी धारण किये हैं। अँधेरे में छिप, प्रकाश की ओर देख रहा है रवि—विह्वल होकर। अन्दर इतनी दीपावली के प्रकाश में झलमलाता है वही प्रेम का देवता, नीली धूप के धुएँ में वे तैर रहे हैं। अभी स्पष्ट, तो दूसरे क्षण अस्पष्ट। आरती हो रही है, घण्टा, ढोल बज रहा है। लोग घेरे हैं, चरणामृत ले-लेकर लौट रहे हैं। रवि मुग्ध भाव से देखता रहा। सोचने लगा, कितने ही इस दृश्य को देखते-देखते खो गये!

महाकाल के समुद्र में अपनी चेतना खोकर वह मन का उद्वेग भूल गया। काफी समय बीत गया। गहरी साँस छोड़ वह कूल तक लौट आया। फिर अपनी चेतना में लौटा—वह है, उसी का नाम व्यक्ति है, चलता नाम रवि। वह स्वयं।

सचेत होकर सोचने लगा—सामने यह चिर आनन्द का रूपक; यौवन, जीवन और कल्याण की वंशी की वाणी में अभय और मुक्ति का सन्देश है।

पर आदमी भावनाओं में आगे बढ़कर भी कार्य के क्षेत्र में पीछे की ओर हटा है—असत् अविचार, निष्ठुरता और स्वार्थ में लोट-पोट होता कीचड़ में पड़ा देख रहा है आकाश के तारों को। अपवित्र घट के कलंकित हाथों से देवता पर फूल चढ़ा रहा है; लूट और छलावे के धन से वहाँ भर रहा है अलंकार; मन्दिर खड़े कर रहा है, पोखरे खुदवा रहा है। वंशी के स्वप्न के बहाने पशु-गर्जन सुन रास्ते पर चला जा रहा है,

छोड़ दो, मुझे छोड़ दो।" छवि की माँ थर्रा उठी थी। सचमुच आशंका घिर आयी थी—घर का यह टुकड़ा रहेगा तो? गुरु आकर कह गया था—"मार-पीट के लिए छान की बल्लियाँ खींच रहे हैं लोग।"

"है, ऐ, गुरु की माँ, क्या करें? क्या होगा?"

"फालतू डर रही हो काकी!" बल्ली की तरह सूखी गुरु की माँ ने सान्त्वना दी—"भूँकता कूकर काटता नहीं।"

"नहीं रे, तू क्या कहती है? घड़ी-घड़ी में आग की तरह यह कलह सुलग रहा है। देखती हो, सिर में पित्त उठा है, पागल कुत्ते हैं, आदमी नहीं। किस जुग को कौन-कौन-सी बातें उलीची जा रही हैं, देखो तो!"

किनारे पर से कोई चिल्लाया, "कहाँ गये सिन्धु चौधरी, बाहर तो बहुत बढ़-बढ़कर बोलते थे—ऐसा करेंगे, तैसा करेंगे, और सिपाही देख लो पड़ेंगे! निकल आ रे वीर पुरुष! निकलते क्यों नहीं, लुगाई के घाघरे से बाहर?"

फिर दोनों दलों के बीच लड़ाई-झगड़े की हो-हा।

बातें छवि की माँ की छाती में छुरी की तरह चुभ गयीं, "अरे ओ गुरु की माँ, मुझे थाम तो!"

छवि ने थरथराते पूछा, "क्या हुआ माँ?"

गुरु की माँ ने कहा, "तुम इन मदकचियों की बातें क्यों सुनती हो काकी! हमने किसके मुँह में आग लगायी है जो कोई हमारा कुछ करेगा? चुप-चाप बैठो।"

छवि की माँ हाँफती-काँपती चुप हुई।

घर पर सिन्धु न थे। बाहर से आकर जैसे ही उन्होंने कहा, "लड़-झगड़कर मरेंगे ये लोग, जाऊँ देख आऊँ"—वैसे ही उनका एक हाथ छवि की माँ ने पकड़ा और दूसरे हाथ को पकड़े छवि लटक-सी गयी और कहा, "नहीं, नहीं, तुम उस जगह न जाना, मरखहे पागल हो गये हैं।"

"मरखहे!" सिन्धु ने कहा, "कौन है मरखहे? गाँव के ये अपतिया, गन्धिया, छुकुटा, हाड़िया, ये फिर मारनेवाले कब से हुए? ठहर, मैं आया।"

"तुम्हें मेरी सौगन्ध, तुम गये तो मैं सिर पीट-पीटकर मर जाऊँगी!" छवि की माँ ने कहा, "मेरी इतनी-सी बात मान लो, तुम न जाओ!"

कुछ देर में सभी योद्धा गाली-गलौज करते दो दलों में बँटकर चले गये। आवाज दूर होती गयी। छवि की माँ अचानक बावली-बावली हो उठी और एक स्वर में गालियाँ बकने लगी, "ये सब मर जायें। हे भगवान्, तुरई फूल की तरह साँझ को खिलें तो सुबह तक न रहें ये। हे भगवान्!"

सिन्धु बैठे तम्बाकू पीस रहे थे—"छिः छिः, यह क्या कह रही हो?"

गुरु की माँ समझाने लगी। सब चुप हो गये।

छवि की माँ ने कहा, "माँ, ये क्या हो रहा है, इस गाँव के लोगों को? ठीक

जैसे 'सात भाइया बड़ा बन्दर'। पुलिस में कहकर इन सबों को ठीक क्यों नही करा देते, गाँव का चौकीदार क्या सो रहा है ?''

''अपनी पुलिस अपनी बनकर रहे, तब न संसार चलता है, फिर गाँव में कही चोरी-डकैती हो—तभी तो पुलिस बुलायी जाती है। सारा देश यदि इस तरह हो-हो कर उठे, तो कोई क्या करेगा ?''

एक बार झगड़ा शुरू हो गया तो सारा गाँव टुकड़े-टुकडे होकर छिन्न-भिन्न ! मानो चेहरे पर हलदी-तेल का लेप अचानक पुँछ गया है, और नीचे साफ-साफ नज़र आ रहे है—युगों की दरार और गड्ढे, उमर की लकीरें, पुराने रोग के चिह्न !

उस दिन लोवा नायक के दल और किणेई ओझा के दल के बीच मरने-मारने के लिए भाला बाँधकर आमने-सामने खड़े होने के बाद कई बार दोनों दलों में इसी तरह की मुठभेड़ हो चुकी है, ठीक रामलीला के अभिनय-जैसा। उस दिन के बाद कितने नये-नये कारण निकल आये। मूल कारण जैसे कही दब गया।

सिन्धु चौधरी की पाठशाला टूट गयी। किन्तु सिन्धु चौधरी को गाँव से भगाना सम्भव नही हो सका। दोनों दलो के झगड़े में सिन्धु चौधरी रह गये वही एक ओर। झगड़े के समय नाम चौधरियों का आता। वैसे वे नितान्त निरीह है। न जीभ, न बल। फंद-फंद के लिए बढ-बढ़कर गाली-गलौज करने या चिढ़ाने, ऊँच-नीच करने के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है वे। विपक्षवाले पहले उन्हें मानते थे। अब और नही मानते। प्रणाम नही करते, बात-चीत नही करते। अपति पधान ने यह बात मागुणी बेहरा को समझा दी थी।

''मास्टी मारे हाथ गन्दा होय। उसका क्या जाता है ?.. .पहनता है फटा चिथड़ा, खाता है बासी पखाल भात, नही तो मूड़ी, नही तो कुल्थी का छत्तू। बाहर दिखावे-भर को जो नाम या इज्जत थी कि हाँ भाई, फलाँ घराना है, या अमुक परिवार है, वह भी अब उड़ गयी। बात कहने से तो उत्तर नहीं देगा।''

पास-पड़ोस में अपने-पराये सुख-दुख में सभी साथ रहते थे। सुबह उठते ही इसके चूल्हे से वह, उसके चूल्हे से यह, आग माँग लाता। लूण, या पान के पत्ते न रहे तो माँग लाते। कभी चौलाई के चार पौधे उखाड़ लाते, कभी सहजन की फली उतरी तो दो पड़ोसी को दे आ। बहू के घर से सौगात आयी है—पहले बस्ती में बाँटो। और नित साग-तरकारी का देन-लेन। मिठाई-विठाई की भेजा-भेजी तो चलती ही थी। इतने सूत्रों से गाँव का आदमी आपस में गुँथा-गुँथा था। जाति वरण को पीछे छोड़ अत्यन्त अपनापन बरतते हुए बोलते-बतियाते ! काका-दादा, बुआ, काकी, मौसी, मामूँ—!

किन्तु हठात् दिखाई पड़ता है—खेत से या दुकान से कोई लौटता है तो चेहरा

का पता न चले तो भी पेड़ों की फुनगियाँ जोर से हिलतीं, पेड से झर-झर कुछ झड़ता। जाते-आते बटोही का दिल धड़क उठता। लोहे का टुकड़ा थामे इष्टनाम जपता जी-जान को बचाता वह बगीचा पार कर जाता। अगणिराय को वह सब भय न था। कचहरी में घूम मामला-मुकदमा के कीड़े बनकर कम से कम इतना तो वह समझ ही गया था कि यह सब अन्धविश्वास है।

अत. अपनी चिन्ता में मस्त वह किनारे के ऊपर से होकर घने बगीचे में घुसा।

उसकी संसारी चिन्ता बिलकुल वास्तविक थी। मदु बराल ने दो रुपये दिये हैं। मुकदमे में फँस गया है। और भी देगा। धन पड़ड़ा के यहाँ भाई-तिरिया-कलह की नींव पड गयी है। धन का भाई बनू कलकत्ते से लौटा है। दोनों भाइयों ने मिलकर बहन के ब्याह में रुपये उधार लिये थे। बनू पड़ड़ा ने अगणिराय से अकबाल ली है, कि "वह करजा उतारे, तू चुप बैठ।" धन और बनू के बीच दो-चार बार तू-तू मैं-मैं हो चुकी। गदेई लेका भी आना-जाना करने लगा है। धन को पकड रहा होगा। धन ने डीह में बैगन लगाये थे, दो सेर सरीके लाकर बनू ने अगणि को दिये, मौसा भी कहने लगा है उसे।

सिर पर किसी पेड की घनी डाल सर-सर चड-चडकर हिल उठी, फिर नरम-नरम बच्चे की-सी रुलाई। अगणि ने सोचा—शायद गिद्ध ने बच्चे जने है, अपनी विज्ञता से वह धीमे से मुसकराया। ऐसे ही लोग डरते है, कह देते है भूत। साथ ही साथ हूँ-हाँ की आवाज, और दो-तीन पेड हिल उठे। गिद्ध के बच्चों की रुलाई पर बन्दरो का झुण्ड चिहुक उठा है शायद। अगणि आगे बढ गया। फिर जोर से किलकिलाना, इस पेड से उस पेड़ पर। यह सब क्या? कोई चिड़िया? और कुछ चिड़ियाँ? ऐसा तो उसने कभी नही सुना। तेजी से चल पडा। कुछ दूर, अमराई के आखिरी पेड़ को पार कर अगणि अवाक् खड़ा रह गया। किनारे पर अद्‌भुत नंगे चार जन। काले-काले, हाथ पकडे थेई-थेई कर नाच रहे, भँवर काटते हुए। ओः कितना विकट! वैसे ही नाचते-नाचते बायीं ओर मसान की तरफ चले गये। अगणि का आत्मविश्वास टूट गया। वह थर-थर काँपता रहा, जबान तालू से चिपक गयी, पसीना छूट रहा था। पीछे से बगीचे में सुनाई दी किलकिलाहट। गाँव को अभी भी दो पाव रास्ता होगा। अगणि और प्रतीक्षा नही कर सका, चारों ओर एक बार नजर घुमाकर देखा—कोई नही। वह किनारे-किनारे एक ही साँस मे दौड़ पड़ा। किन्तु भूत के भी पैर है, और फिर वह हवा में। अपने पीछे से सुनाई पडी 'अँ-आँ' की आवाज़। कोई पीछा कर रहा हो मानो, पास आ रहा है। अगणि दौड रहा है। यह लो, किसी गड्ढे में पैर उलझकर चित-पटाग! सारी देह मे चोट। पर वह कुछ सोचे, इसके पहले ही चार-चार नंगे भूत उसे घेरकर नाचने लगे। अँधेरे की बस लम्बी-लम्बी प्रतिमाएँ। वह डूबती चेतना की अन्तिम किरण पकड़कर जान ले भागा। अबकी किनारे-किनारे नही, खेत-जमीन—सीधे गाँव की ओर। तभी पीठ पर पड़े धम्-धम्। बाप रे! भूत का हाथ कितना मजबूत है—! पछाड खाकर वह

गिर पड़ा । सारी देह पर वर्षा होने लगी । घिसटते-रपटते फिर उठा अगणिराय । वैसे क्या हुआ उसे पता नहीं, कितनी वार गिरा है, कितनी वार उठा है । देखा नहीं, तो भी लगता है नंग-धड़ंग चार काले-कलूटे भूत । वाँस का झुरमुटा पार कर बाउरी-बस्ती के चौक की ओर आते-आते वह मूर्च्छित हो गया । भूत छोड़कर भाग गये ।

अगणिराय दो दिन तक पड़ा रहा । ओझा को बुलाया, ठाकुरजी के मन्दिर में जल चढ़ाया । उसमें ईश्वर-विश्वास आ गया, कम से कम देह ठीक होने तक ।

वात वाहर फैली ।

अर्पति पधान ने चौक में सबको बुलाकर कहा, "अँधेरे में कुछ एक जमकर पड़े हैं तो अबकी करे वह मुकदमा, किसके नाम पर करता हैं ? एक नम्बर मुदाला बावना भूत, दो नम्बर वास्तुरा भूत, तीन नम्बर, चार नम्बर, पाँच नम्बर. . ये सारे भूत—"

गदेई लेंका मजाकिया है ही । कहा, "वैसे नहीं, वैसे नहीं, अमुक दिन अमुक समय अमुक स्थान पर अमुक-अमुक मुदाला ने जमा होकर हमें हर तरह से वेइज्जत कर गाली-फजीहत कर, खा जाने के लिए डराया, मुक्का-थप्पड़-ठोकर की मार मारी और वेहोश कर फेंक दिया । इसका साखी दो सियार, चार आम के पेड़, एक गिद्ध, इनके अलावा और कई साखी हैं । मुझे कहता तो मुफ्त दरखास्त लिख देता ।"

उन्नयन-कर्मचारी विपिन काम देखने निकला है । रवि से उसे एक पत्र मिला है । चिट्ठी जेब में है, चिट्ठी की कुछ बातें उसके मन में रह गयी हैं ।

वही बात याद आ जाती है । विपिन सोच रहा है—तो रवि नौकरी करने आया था । बाद में उसने मत वदल लिया । सुख से है । स्वयं परिश्रम कर जीविका कमाने की जरूरत नहीं पड़ती ।

और स्वयं वह, विपिन ?

इतना खटता रहेगा, घूमता रहेगा, रात-दिन काम करके मरता रहेगा !

कौन जानता है, कभी उसका सर्वेसर्वा वन रवि ही क्षमतावान् होकर आ पहुँचेगा । सब कुछ सम्भव है । जैसे कल का आया कोई गरीब घर का बच्चा भी अच्छी पढ़ाई-लिखाई कर उसके ऊपर अफसर बनकर आ सकता है—वैसे ही यह भी सम्भव है कि आज जो आदमी काम-धन्धा न कर गाँव में लोगों के बीच घूमता-फिरता है, लोगों की सेवा के नाम पर अपने भविष्य के लिए जनमत गढ़ने में लगा है, कल वही असाधारण क्षमता लेकर, शक्ति लेकर आयेगा—उसी से सलाम और सेवा लेने के लिए । वैसी कई एक घटनाएँ उसकी निगाह में गुजर चुकी हैं ।

नौकरी में न वँधने तक सव सम्भव है । वह वँध चुका है ।

और बेचना भी क्या बेचना है ? कोई अगर मुँह फुला लेता है, उसे हुई फिकर। आदमी को देखते ही वह सोच लेता है कि यह उसका पैसा अनिष्ट कर देगा और करने का इच्छुक होगा। खूब तेज धार पर चलना पड़ता है, काम इतना कि—मुझे तेरे यार को छोड़ ! देखो निपटो। देखो निपटे बिना उसका निस्तार नहीं। इधर निपटने की शक्ति नहीं। सारी बुद्धि खरच कर, घुमा-फिराकर, बातें कह, घोर-फिराक में रह आत्मरक्षा का उपाय सोचते-सोचते दिन बीत जाता है। पहले आत्मरक्षा, फिर पीछे दूसरा काम, जितना हो सका। और किसी दूसरे के सिर पर टाल सको तो अच्छा।

चिट्ठी में विभाग को लेकर रवि के कुछ मौलिक प्रश्न हैं। वहाँ सोचेंगे विभाग के ज्ञाता। रवि का काम है—ऊपर से आये हुक्म की तामील करना। जल्दी रुपया खर्च कर काम करा सका तो उसको छुट्टी मिल सकती है। काम का ठेका उसका नहीं, पर न कर सका तो आफत उसपर। कागज अगर सलीके से है तो ठीक, वरना पाँच बरस बाद भी अगर कागज से भूल निकली, तब कौन बचायेगा ?

सामने पहली अप्रैल आ रही है। मार्च इकतीस तक साल-भर का हिसाब मिल जायेगा। मार्च-मार्च-मार्च, दमघोटू काम के दिन, एकबारगी चिन्ता कि रुपये खर्च हो जायें पर कुछ भी न बचे उसकी बुराई का ढिंढोरा पीटने को।

और उसी के बीच अनहोनी-सी एक अजीब चिट्ठी आयी है—जो उसके काम को तौलने के लिए एक नयी तराजू है। उसके साथ जुड़ी है गाँव की ताजी हवा, नदी के भीगे बालू की महक, जैसी महक नदी की मछली की बनी तरकारी में होती है, पुराने सूखे गोबर की आग से अलगायी-सी उठती गन्ध या खुशबू जिसमें धीमी सहज घरेलू जीवन की छवि दिमाग में आकर मन में रच जाती है, और साथ लायी है छलछलायी आँखों से ताकने की भंगिमा जो माँगती नहीं, जाँचती नहीं, केवल देखती हो—वैसी भंगिमा, जिससे पता चल जाये कि उस चेहरे पर से आभा टूटी नहीं, विश्वास छूटा नहीं, उस धान का दूध छूटा नहीं, उन गालों और होंठों से नरम-नरम नन्हे-नन्हे रोयें छूटे नहीं, घर के चारों कोने बुहारने पर सरसों का दाना भी चाहे न मिले पर उस मन से वह आन नहीं गयी, वह टनक नहीं मिटी। केवल भगवान् ही नहीं, बड़ों से लेकर गाँव के देवी-देवताओं पर भरोसा, सत पर, ईश्वर के विचार पर, स्वर्ग नरक पर, शास्त्र पर, और हीन से हीन अवस्था में घिसटते होने पर भी कभी न आनेवाले कल के शुभ दिन पर. ..

सारी आशा, विश्वास, भरोसा, निर्भरता. ..

लिपटा आया है सब उस एक चिट्ठी की देह से। आकर पहुँचा है उसके पास, उसके नारियल का पानी, काँजी पानी, बासी पखाल, सुबह-तड़के नहाना और छाँह के सारे स्वरूपों को साथ लेकर उसके पास वहाँ पहुँची है जहाँ वह जल्दी-जल्दी घर-घर चलता है इस जीप गाड़ी की तरह या क्लीम्-क्लीम् कर चकरानेवाले स्पुटनिक की तरह। उसके पास कोमल आभा नहीं है, कर्कश दीप्ति है, शान्ति की अनजानी अनसुनी

स्थिति नही है उसके पास, अशान्ति की गरिमा है, अनुभूतियों पर विचार करने के लिए समय नही है वेग है, मुक्ति नही गति है, तीव्र गति। जीवन को नापने के मुहूर्तो में वह उसके पास सुख-दुख की बातें करने आया है, लोहा-पत्थर ढोनेवाली रेलगाडी के पास एक बैलगाडी आयी है, बैलों के गले में घण्टी और मुँह पर कौडी के जाले पहनाकर, कारण पूछने लक्ष्य पूछने....वाह....मजा है....!

बाहर विकास का इतना बोलबाला, अपने गाँव के लिए वह कभी कुछ न कर सका। कलकत्ते में पान की दुकान करके वरन् भोली वाटिक ने ग्रामदेवी चाचिकेई के मण्डप के पास एक कुँआ खुदवा दिया, भात बेच साधु नन्द ने धूप में तपते कुक्कुटेश्वर महादेव पर छोटा-सा शिवाला खडा कर दिया। उसने किसी का कुछ नही किया, किसी को कुछ नही दिया, गाँव की पंचायत में बैठा नही, गाँव का झगडा-टण्टा कोई मेटा नही, गाँव में कभी किसी के काम आया नही वह, फिर भी वह ठहरा गाँव का सबसे बड़ा चाकरिया बाबू !

उनकी निगाह में वह फिर सबसे अधिक पढा-लिखा—बी. ए. पास। कौन है पढा-लिखा ! सोचते समय तनिक दब गया, मानो वही उसका पहिया है, याद आये कुछ बूढे चेहरे, सिर पर अब भी पहले की तरह जटानुमा चोटी, गले में माला, देह पर छोटी-सी चादर। बात-बात में पूछ डालेंगे कभी संस्कृत—माघ या भारवि या कालिदास या महानाटक से या संस्कृत भागवत से। कभी उड़िया में से ही कुछ। खून पसीना हो जाता जब अर्थ बताने को कहते :

"उपइन्द्र उपइन्द्र उपइन्द्र उपइन्द्र थीर।
भञ्ज भञ्ज भञ्ज भञ्ज भञ्ज भञ्ज सार।"

सुनने में जो बिलकुल सरल सुनाई पड़ती उसी जगन्नाथदास की भागवत से भी दो पद व्याख्या के लिए दे देते तो लाज से मन करता कि धरती फट जाये।

नौकरी जबतक है ये जीप गाडियाँ घुमती रहेंगी और वह खास आदमियों की लिस्ट में बना रहेगा। उसके बाद ? ताड की छाँह देखते-देखते हट जायेगी उसके इधर से उधर, उधर से इधर घूमते-घूमते। फिर उसके बाद क्या होगा ? जिन लोगों के लिए वह खून-पसीना एक करके दौड रहा है वे क्या उसे याद करेंगे ? गाँववाले भी उसे भुला देंगे पुरानी मिट्टी से जड तक उखड़ गया होगा—सेमल की रुई। किसी शहर की साधारण जगह एक मकान बनाकर वह रहता-बसता होगा, पेनसन मिलती होगी और वह खरीदकर खाता होगा। शायद वह भी रिपयूजी की तरह रह जायेगा, हाँ रिपयूजी ही तो ! दीर्घ श्वास ! दीर्घ श्वास !

रवि ने वही पुराना सवाल उठाया है, धन और मन के सम्बन्धों के बारे में। उत्पादन और बँटाई को लेकर। पहले उत्पादन की जरूरत है। नही तो क्या योजना छोड़ लोग धर्म-प्रचार करने निकलेंगे ?

पर अपने को युक्ति के कई आसरो के सहारे टिकाने पर भी मन मानता नही है,

कहीं कुछ उलझकर रह जाता है।

चल रही है जीपगाडी। दोनों ओर वही जाने-पहचाने दृश्य, देख-देखकर वह आदी हो गया है जिससे वे दृश्य अब दृश्य नहीं हैं। सिर्फ गाड़ी चल रही है। जैसे उसमें ड्राइवर भी नहीं है। सब उसी गाडी के पुरजे हैं, उसमें स्वतन्त्र आदमी कोई नहीं है।

सिर्फ चलती गाडी का वेग है, उसका भी अनुभव हो रहा है, इसलिए कि वह जो कुछ देख रहा है—सब ज़ोर-ज़ोर से पीछे हटते जा रहे हैं।

अपने को लीन कर दिया था अपनी चिन्ता में। यह भी आदत पड़ गयी, गाड़ी चलती रहेगी और वह अपनी भावना में डूबा रहेगा।

रास्ते के किनारे से गुजरा कोई सुन्दर जलभण्डार। पानी भरा है। नीचे खेत में गेहूँ लहलहा रहे हैं। जलभण्डार के लिए आधी सहायता देकर उसमें यह करवा दिया है। अच्छा काम हुआ। जमीन में चौदह आने भाग एक बड़े किसान का—*माधव आचार्य! गाँव के महाजन ठहरे। उद्यमी किसान, कालक्रम से गाँव की सारी* अच्छी-अच्छी जमीन उनके हाथ में आ गयी है। नदी किनारे पम्प बैठाकर नदी से पानी लाकर आचार्य ने कितना सुन्दर गन्ने की खेती की है। पम्प में भी 'आधी सहायता' मिली है, और आधे अपने रुपये।

उसके उस पार सुलेमान का गौ-कुक्कुट पालन-केन्द्र। पास में छोटा-सा पशु-चिकित्सालय। शेख सुलेमान उत्साही व्यापारी ठहरा। शहर ले जाकर अच्छे भाव पर बेचता है।

इसके बाद शुरू होता है यह भोली पट्टनायक का सौ एकड़ का फार्म। सड़क के बायीं ओर। यह थोड़ी दूर पर बगीचा, कितना सुन्दर सजा है, कतार-कतार गाछ—अलग-अलग एक-एक प्रकार के नारियल, आम, चीकू, अमरूद। हलकी जमीन में काजू, साग-सब्जी की बाड़ी, गन्ने का खेत, फाटक के सीधे पोखर के पास फार्म-घर और पोखर के किनारे-किनारे धान का खेत। चारों ओर कँटीदार तार की बाड़ लगा दी है। सुन्दर फारम, कितनी लुभावनी गोभी, मटर, मूँग, गेहूँ, अरहर लगी है, और भी अनेक किस्म की फसलें। पट्टनायकजी ने कृषि-विभाग की सारी सुविधाएँ दी हैं, अपनी इस जमीन में भाँति-भाँति की फसल पैदा करने के लिए, ताकि और लोग देखें और सीखें। बस उनकी एक ही शर्त है—कि कोई क्षति न हो। हालाँकि जमीन मरम्मत कराने से लेकर कुआँ-पोखर खुदाने, खाद खरीदने, कीड़े मारने की दवा खरीदने और यहाँ तक कि पौध और बीज खरीदने के काम में भी अनेक प्रकार की 'माफी' सहायता वे पा चुके हैं। इस इलाके में विकास के नमूने के रूप में इस फारम की फोटो ही तो जगह-जगह छपती है, कितने खरच से कितनी आमदनी हुई, इसका हिसाब बताया जाता है। और उसके साथ होता पट्टनायकजी का फोटो, चारों ओर से गोलमटोल काला चमकदार चेहरा, साधारण से कुछ अधिक लम्बे होने से भी क्या हुआ, छाती कमर-पेट

सब गोल-मोल होकर बढने के कारण दूर से खासे बौने नजर आते। घुप्प खद्दर का लम्बा चोला और धोती पहनते। कन्धे पर खद्दर की ही चादर, हाथ में बडा चाँदी का पान का डब्बा, गले में मोटी तुलसीमाला—किन्तु वे आमिष खा लेते हैं,—बडा सिर, चिकना-कट बाल सँवारते हैं, किन्तु पीछे चोटी है।

पट्टनायक बहुत परिवारी आदमी हैं। केवल खेतिहर ही नही, नेता, व्यवसायी, महाजन भी।

यह फ़ारम उनके सक्षम होने का प्रमाण है। जमीन्दारी उठ जाने के बाद पट्टनायक-जी ने पिछली तारीख देकर जमीन्दारों से बारह बरस की पावती लिखाकर अपने पास रख ली। उसमें किसी टुकड़े पर कोई एक-आध गरीब-गरीब खेती करते थे। आपत्ति उठायी, पर टिकी नही। पट्टनायकजी अड़ गये तो काम करने के लिए मजूरे नही मिले। तब पट्टनायकजी शहर से साँड-कल और दखिन देश के कुली लेकर आ पहुँचे। चारों ओर लोहे के काँटेदार तार घूम गये, अन्दर चलने लगी साँड-कल लोहे की।

देश-भर में नाना उपाय से विकास ही चल रहा है।

ईर्ष्यालु लोग कहते हैं—तेली के सिर तेल चुपड़ा जा रहा है। स्वार्थी लोग आवाज उठा रहे हैं—वह खा गया, हमें मिला नही। मगर पहले पैदावार! पैदावार! कलह के लिए बहुत समय पडा है।

यह देखो, सामने ही एक कलह है। लोग ताक में है। विपिन ने गाड़ी रोकी। स्कूल का मकान बन रहा था। झरोखे तक ऊँची दीवार उठ चुकी है, काम वही रुक गया है। उसके बगल से कोई सड़क बन रही थी, खेतों होती हुई सडक दूसरे गाँव को जायेगी। बीच में एक जगह रास्ते पर हल चलाया गया है, चारो तरफ़ चार काँटे रोपे गये है। यह सब किसी आदमी का काम है! कहाँ गया वह दुष्कर्मा? वही तो होगा?

"नमस्कार! नमस्कार! नमस्कार!"

वे दस-बारह लोग है, कुछ हटकर और भी एक व्यक्ति है। उमर तीस से अधिक होगी, बाल सिर पर बेतरतीब बिखरे है, मानो काली-काली सीकों का ढेर हो। आँखें धँस चुकीं, सिर झुकाये तिरछी निगाहों से देख रहा है। चेहरे पर दाढ़ी, उसमें दो-चार पके बाल। अच्छा-खासा तगड़ा, गँठीली देह, किन्तु तनिक टेढ़ी हो गयी है, मानो ओर ढूँढती हो, ताक में है। गैंडे की-सी नाक, पर उसकी नोक मानो आगे की ओर झुकी हो, और वैसे ही उसके पैने थोथडे का सिरा, आगे मुड़ गया है। माथे से ठुड्डी तक दो फाँक की तरह मुडे। चिड़चिड़े जिद्दी चेहरे की भंगिमा! आँख-कान सब सतर्क हैं। उसने भी दोनों हाथ जोड़ प्रणाम किया, पर उस प्रणाम में उत्साह न था। विपिन की निगाह ज्यादा उधर ही पसर रही थी।

"अरे, डाम खोलो, देखते क्या हो?" धोती पर मठे (पाट) का कोट और उसपर माणिआबन्दी चादर डाले नाटे प्रौढ़ सज्जन, घनी बडी-बडी मूँछें, हाथ में एक

मगरमुँही छड़ी, ये ही हैं सिध ओझा, मुखिया आदमी। गाँव के भले-बुरे में आगे ये ही आते हैं। गिलास में डाभ उँडेला गया। एक, दो—"नहीं, और नहीं।" इसके बाद चपरासी। ड्राइवर। फिर पान का डब्बा खोलकर लाया गया। चार-पाँच सज्जनों ने अपने-अपने पान के डब्बे खोले। पीठ फेरकर चपरासी ने एक साथ दो पान मुँह में ठूँसे, ड्राइवर ने जेब में डाले। इसके बाद सिगरेट। विपिन ने एक फूँक धुँआ फेंक, कुछ इस अन्दाज़ में पूछा जैसे कुछ भी न जानता हो—"कहिए, क्या हो रहा है आपके यहाँ? विकास का काम आगे क्यों नहीं बढ़ पाता? असुविधा कहाँ हुई?"

बरगद की छाया में जीप खड़ी है। बच्चे घेरे हैं। रास्ते के उस ओर पोखर में नहाना-धोना चल रहा है, भीगी साड़ी दाँतों में दबाये औरतें पीठ किये मुड़ी देख रही हैं। गाँव के लोग एक-एक कर आते हैं और खड़े हो जाते हैं। गाँव के स्कूल की अधूरी चारदीवारी के बीच घने कटहल हैं, उसकी छाया में टेबुल-कुरसी पड़ी है। विपिन बैठ गया। बेंच पर गाँव के मुखिया लोग ठूँस-ठाँसकर बैठे। विपिन के पास है—दनेई राउत, विराट् देह, रोयेंदार कलाई पर घड़ी बँधी, बड़े मुँह में पान की चक्की घूम रही है, ढेमा-ढेमा आँखें, घनी-मोटी बरौनियाँ, देह पर एक जालीदार गंजी-भर है जो पेट तक खिंची है। मुद्रा में संकोच के साथ दाम्भिकता भी भरी है। दनेई राउत अपने मान और अपनी तिकड़म के बारे में सचेत हैं। उनकी बगल में हैं पुर पाण्डी, भरी-पूरी देह, लम्बा बदन, छाती पर बाँहें सटाये, दोनों होंठ भींचे यों बैठे हैं कि कहीं कोई बात न निकल जाये। आँखों पर चश्मा। सूई-सी खड़ी मूँछें आधी भूरी-आधी स्याह, छाती के भी आधे पके बाल हैं। लोगों का कहना है कि पुर पाण्डी कभी चुप नहीं बैठते, जब देखो चिन्तन चलता ही रहता है—किसका घर कैसे लूटेंगे या तोड़ेंगे। पुर पाण्डी और दनेई राउत के बीच भिंचे-से एक छरहरे युवक अरि मिश्र, धोती पर डोरिया की हाफ-कमीज पहने हैं, कन्धे पर गमछा झूल रहा है। सामने की जेब में तीन सस्ती फाउण्टेनपेन टँगी दिख रही हैं, और उनकी टोंटी भी दिखाई पड़ रही है, आगे झुककर बैठे हैं। गाँव की राजनीति में भाग लेना शुरू किया है। उनमें हरेक यह अनुभव कर रहे हैं कि बाहर के हाकिम के सामने इस आसन पर एक जगह पाने का वो भी हकदार है। अब उस बेंच पर धक्का-मुक्की-सी चल रही है। सब वहीं समाये बैठे हैं।

बस यह आदमी नहीं बैठा जिसके विरुद्ध ये लोग फरियादी बने थे। अलग खड़ा इन्तजार कर रहा है। ये सब कह चुकेंगे तब उसकी बारी आयेगी। तब वह कहेगा कुछ। सिध ओझा अनर्गल कहते गये, उनके बाद दनेई राउत, फिर पुर पाण्डी, बीच-बीच में अरि मिश्र, और इसी प्रकार कई लोग। उनकी बातों से समझा जाये तो वह है एक गुण्डा आदमी—कुमति सेन, हठी, बदतमीज, स्वार्थी, नीच, जघन्य—और पता नहीं क्या कुछ। यही कुमति सेन, गान्धी-आन्दोलन के ज़माने में इन्हें रास्ता बताया करता था तो सबने फन्दा बना उसे पुलिस में पकड़ा दिया, पर पुलिस ने ही प्रमाण न देकर छोड़ दिया था, नहीं तो जेल हो जाती। ये लोग अपने नाम से बाँट-छाँटकर विभाग

के कामों की कण्ट्राकटरी लेते हैं। कुमरा सेण, गुस्से में आग-बबूला हो मन ही मन उबल रहा है। यही दनेई राउत ने स्कूल का मकान बनाने का काम हाथ में लिया है, यह रास्ते का काम पुर काण्डी का है। अरि मिश्र को मिला है कुआँ खोदने का काम, सिध ओझा ठहरे सरदार, सारे बडे-बडे काम उन्ही के है, माटी के काम दिखाने के लिए माटी के पुराने गड्ढों को फिर एक बार ऊपर-ऊपर से तराश कर नये माटी के काम के प्रमाण के रूप में 'माखी' खड़े कर पैसे लिये हैं। वे कौन उपाय भिडाना नही जानते, कहने बैठें तो पुराण बन जायं।

और ये लोग उसके विरुद्ध फ़रियाद कर रहे हैं।

कह जाने दो जो मन मे आये, कुमरा सेण ने मन ही मन कहा और सिर हिलाया। अबकी गरमागरम चाय भी आ गयी, पिलायें जो भरकर।

"सुनते हो कुमरा सेण ?"

"जी !" उसने तिरछे-तिरछे देखा, जैसे भेड़ा देखता है सींग मारने से पहले। नाक फन्-फन् कर रही है।

"बोलो तो, यह कौन-सी अकलवाला काम किया तुमने, कुमार सेण ? स्कूल का मकान बन रहा था, तुमने बन्द करवा दिया। इधर सडक पर हल चलाकर काँटे रोप दिये। तुम्हारे जैसे यदि गाँव में एक-एक करमठ निकल पडे, तो विकास का भी लक्कडदादा हो जायेगा। क्यो, क्या कहते हो ?" विपिन ने पूछा।

फिर भी वह निरुत्तर है। सिध ओझा ने कहा, "हुजूर की कलम मे अगर मिल जाती फैसला करने की क्षमता, एक ही बार में हेकडी निकल जाती। इतना आसान है कि लोग आकर सरकारी कामों को रोक दें !"

कुमरा सेण के कान गरम हो गये—"किसी ने अगर कसूर किया है तो जाकर ठोंक दो मुकदमा, देख लेंगे।"

अरि मिश्र ने विपिन की ओर देखकर आँख मारी और हँस पडे, "खाली मुकदमा-मुकदमा.. .देखें हुजूर—"

कुमरा सेण सुनाने लगा अपनी कहानी। पहले आहिस्ते-आहिस्ते, फिर तो धारावाह। नये रूप में विपिन ने उस घटना को देखना शुरू किया, और इन आदमियों की, कुमरा सेण के दर्पण में मानो एक नया ही झरना बह निकला, जिसमें बह गयी सारी पुरानी-पुरानी ये संस्थाएँ।

वही कहानी—

उसी का है यह घर, जहाँ स्कूल का मकान खड़ा किया जा रहा है, जहाँ रास्ता बन रहा है। और उसने काँटों से जहाँ घेरा डाला है, वह उसी का भाग है, दूसरा भाग बड़े भाई नकुल सेण का अंश है, अभी भी भतीजों के कब्जे में है। इस महाजन सिध ओझा से कभी बाबा आदम के जमाने में उसने पन्द्रह रुपये करज लिये थे, अबतक ले-देकर डेढ़ सौ तक उतार दिये होंगे। महाजन ने और भी बकाया निकाला ! अभी और

भी बकाया। चक्रवृद्धि की दर से ब्याज पर ब्याज। उसी के जंजाल से कुमरा गया कलकत्ता। जी-जान से मेहनत कर पैसे भेजेगा महीने की महीने, महाजन का ब्याज उतारा जायेगा, घर चलेगा। ऐसे ही रहते-रहते बीत गये सात वर्ष। इस बीच तीन बार घर आया, आखिरी बार के बाद तीन वर्ष तक नही आया। क्या देखने आता, माँ तो मर गयी हैजे में। एक मात्र छोटी लडकी। उसे भी पता नही क्या हुआ, वह भी मर गयी। स्त्री किसी और के साथ कही चली गयी। घर पर छप्पर नही डाला गया, वह ढह गया।

इसके बाद आ गये ये गाँव के उपकारी लोग। जमीन सरकार को दिखाये बिना स्कूल की इमारत खडी करने को पैसे नही मिलेंगे। अत: उन्होंने इसकी ही जमीन पर निगाह डाली। उसके बडे भाई नकुल सेण के बडे बेटे मंगुली सेण को हाथ में कर उसी के घर की जमीन को स्कूल के मकान के लिए लिखवा दिया। फिर उसपर कोठा बनाना शुरू कर दिया। रास्ता निकाल दिया, उसी की जमीन से होकर। हुआ न कि पराया बैठा मरा, रोग बाहर का बाहर टला!

कलकत्ते से लौटकर देखता है, माँ नही, स्त्री नही, बेटी नही, घर के टुकडे पर स्कूल का मकान खडा हो रहा है। जमीन पर बिछा रहे है सडक। अपने अधिकार के लिए प्रतिरोध किया। सब तो गया, बची है उसकी गरदन। मान लो वह भी कट गयी, तो क्या होता है? तो क्या जीव रहते-रहते यह सब अपनी आँखो देखे और सहता जाये? ऐसा हरगिज नही हो सकता!

बात पूरी होते न होते झपाटे से बात को दबोच बैठे मुकदमेबाज—ठीक है, ठीक है, साखी लाओ, कागज निकालो, कौन तुम्हारी तरफ से कहता है, देखें! बुलाया जाये मंगुली सेण को, उसने स्वयं तो स्कूल के मकान के लिए जमीन लिख दी है। बताये वही कि किसकी है यह जमीन, उसके बाप की या उसके दादा की। ऐसे ही अगर कोई तेरा हक छीन रहा है तो कर मुकदमा।

बूढे मिच्छू मिश्रजी लाठी टेकते काँपते-काँपते आ पहुँचे। कहने लगे, "न्याय तुम्हारी तरफ है तो फिर कर दो तुम्ही मुकदमा, उससे क्यो कहते हो? जबरदस्ती एक आदमी की जमीन पर मकान खडा कर रहे हो, धरम यह सह पायेगा तो?"

"ये देखो, कही से खबर पाकर सूँघते-सूँघते पहुँच गये, देखिए, इन्हे पहचान रखें, हुजूर—"

"अरे, तुम पहचानो, उन्हे क्यो कहते हो। वे कोई इस गाँव के है?" मिच्छू मिश्र ने कहा। उनकी लम्बी सुग्गे की चोच-जैसी नाक थी। सिध ओझा की ओर—"तुम हमें पहचानो, सुनो ओ सिध, तुम्हारे पहले तुम्हारे बाप ने भी पहचाना था, माधो ओझाजी ने। वे होते तो गाँव का यह हाल न होता, वे तो कितने न्याय-पुरुष थे। वे तुम्हारी तरह के नेता-नेम्बर आदमी न थे, तुम इसी में बढ गये।"

धन बाउरी, हाथ-पैर कीचड में साने, आ पहुँचा। गाल से कीचड पोछते-पोछते

कहने लगा, "ये कुमरा सेण की डीहवाली बात.. झूठ-मूठ ही बेचारे आदमी को डुबोकर मारने बैठे हैं ये। बाबू, ईसकुल-घर बना रहे हैं लेकिन यह उसी की डीह है। रास्ते पर जितना घेरा है वह उसी की जमीन है।"

कई लोगों ने इधर कहा, कइयों ने उस तरफ। विपिन कोई फ़ैसला कर न सका। लोगों की हो-हा बढ़ने लगी, उस छाया के नीचे बैठ उन्हीं लोगों की ओर देखता वह सिगरेट के कश लेने लगा।

अचानक पूछ बैठा, "पुरानी जगह गयी कहाँ? वहाँ तो पहले भी स्कूल लगता था।"

दनेई राउत ने आगे बढ़कर कहा, "हुँ, वह भी कोई जगह कहलाती है। चार अंगुल की इत्ती-सी जगह होगी!" सिध ओझा व्यंग्यात्मक हँसी हँस पड़े। अरि मिश्र हँसते-हँसते स्वरभंग करते हुए मुर्गे की तरह चहके, "इसकूल क्या, वह तो गुहाल था। भेड़ों का झोंपड़ा!"

धन बाउरी ने कहा, "वहाँ गुहाल किसने बनायी? हुजूर जरा पूछें तो सही। इन्हीं सिध ओझाजी ने तो! इसकूल के घर से दीवार सटाकर बाड़ बन्द कर दी और सब कुछ पोंछ डाला। इसकूल के पूरब की ओर मैदान था, मकान के छप्पर के नीचे टट्टी से ढाँपकर दिन में वहाँ गायें रखीं। रात होने पर गायें भर देते इसकूल के घर में। लो, गोरू और गुरु एक जगह रहो। एक आत्मा हरि-हर हो गये। इसकूल के घर पर छावनी डाली नहीं, सो छान में छेद हो गये, इधर रोज़ खींच-खींचकर खा गयीं इनकी गायें। सबइनसपेटर बाबू के आगे बराबर कहने लगे कि पहले सामने जो बरगद है उसे कटाओ, वहीं इसकूल का घर खड़ा हो, खेल-कूद करने के लिए बरगद के सामने का मैदान ठीक रहेगा। बस एक ही रट लगाते रहे कि यह मेरी जगह है, मुझे छोड़ दी जाये। इधर इसकूल बैठ गयी तीस बरस से, कुमरा तो कलकत्ता गया था, उसका घर पड़ गया आँखों के आगे, बस वह पुराना बरगद बच गया—"

दनेई राउत अपनी विराट् काया को उठाकर खड़े हुए, गरदन को बायें कन्धे की ओर मोड़, सिर हिला-हिलाकर कहने लगे, "क्यों इतनी बदतमीजी की बात कर रहे हो, बहुत कहनेवाले बने, ओ रे बाउरी छोकरे—"

धन बाउरी दाँत दिखाते हुए कहने लगा, "क्या बुरी बात कह दी इस बाउरी छोरे ने। ओ राउत साआन्तजी, ऐसे गरम क्यों हुए जा रहे हैं? बात-बात पर पित्त चढ़ा जा रहा है?"

सिध ओझा खड़े हो गये, "छोड़ो जी राउतजी, उसके साथ बेकार में....कौन कैसा आदमी है, क्या हाकिम समझते नहीं जो हम कहें! कोई गोरू चरानेवाला है, पर ये तो आदमी चराते हैं, इनसे कौन-सी बात लुकी-छिपी है कि ये इन्हें समझायेंगे!"

विपिन ने पूछा, "जी, तो वह पुरानी स्कूलवाली बात क्या है फिर? वह जगह कहाँ है?"

कुमरा एक विकृत हँसी हँस कह पड़ा, "बतायें, वे ही बतायें।"

मिच्छू मिश्र ने कहा, "निकलेगा, निकलेगा, मत जरूर उपजेगा, जो...."

सिध ओझा ने कहा, "जी, वह जगह का टुकड़ा, एक बिना बाप के बेटे के भाग में पड़ा, नाबालिग। वह हमारा ही हिस्सेदार। जगह हमारी, खाली पड़ी थी, सो हम लोगों ने कहा कि बेकार क्यों पड़ी रहेगी, वहाँ गाँव के बच्चे ही पढ़ें। अपने पैसे खरच कर इसकूल का मकान बनवाया था।"

धन बाउरी ने टोका, "हाँ, खुद करवाया था! बड़े दयावान्! गाँव-भर के लोग लगे थे, किसी ने मेहनत की, किसी ने बाँस दिये, किसी ने पुआल, और तुमने क्या दिया?"

सिध ओझा ने रोका, "कहते जाओ तुम भी अपनी, आजकल तो तुम्हीं लोगों का राज है!" फिर कहने लगे, "उसके बाद पाँच वर्ष हुए तब हमारा बँटवारा हुआ। उस बच्चे के भाग में वह जगह आयी, उसकी माँ ने रो-धोकर गाँव के पाँच लोगों के सामने कहा कि मुझे मेरी जगह दी जाये—"

कुमर ने कहा, "उसकी माँ तो बारह घरों में धान कूटकर पेट भरती है, उसने कहा या तुमने कहा? ..जी, उस औरत से इजहार लें, उसके गिरस्त ने इन्हें आदमी बनाया, और उसकी सारी जमीन-जायदाद ये हड़प कर गये, और आखिर में उसके नाम पर क्या कहते हैं कि उसने कहा यह इसकूल-घर तोड़कर मैं घर खड़ा करूँगी!"

सिध ओझा ने कहा, "अरे, किसके घर की बात? तू क्या जानेगा? तू तो फ़रार सा रहता आया है।"

कुमर ने कहा, "हाँ, हाँ, मैंने तो मानुष मारे हैं, फरार क्यों न होऊँगा?"

सिध ओझा ने कहा, "तो सुनें हुजूर, उसकी माँ ने जब गाँव के पंचों से गुहार की तब हमने कहा कि अपना हिस्सा वह ले ले, यह भी कोई जगह है जो यहाँ इसकूल-घर रहेगा? अपनी बाड़ी को तो उसने पहले ही दखल में ले लिया था—"

धन ने कहा, "द-ख-ल! बाप रे! मन किया तो नारियल भी लगाये! जमाने से तो इसकूल घर का बगीचा था, और दखल किया किसने.. .कब?"

सिध ओझा ने कहा, "इधर पटशाला का झोपड़ा टूटने को आया, उधर उस औरत ने ज़िद पकड़ी। हम लोगों ने कहा, कोई अच्छी जगह ठीक करें जहाँ इसकूल बने, और दैवयोग से—"

मिच्छू मिश्र ने कहा, "दैवयोग से कुमरा भी कलकत्ते रहने लगा, उसका घर टूट पड़ा, उसका भतीजा भी तुम्हारी लकड़ी पर नाचने लगा। क्या करे, उसके पास और चारा भी क्या था? उससे तो कागज़ पर अँगूठे की टीप लेकर रखा है, कोई बाँस-एक रुपल्ली ली थी! रुपये भी पा गये ऊपर ही ऊपर से, आधे की हेरा-फेरी और आधे का काम होगा—बुद्धि क्या कम है!"

मिध ओझा ने कहा, "जगह असल में मगुलिया के घर के नीचे की बाटी है।

यह तो घुमक्कड़ रहा, इसकी कभी किसी ज़माने में उधर जगह थी या घर था, मुझे तो अचम्भा लगता है !"

कुमर सेण ने कहा, "तुम्हें किस बात का अचम्भा नहीं होता ? रात में तुम्हारा दिन होता है, दिन में रात। अरे, मेरे जीते जी तुम लोग मेरा घर यों फूँक मारकर उड़ा देने को तुले हो ?"

पुर काण्डी ने कहा, होठ मोड़कर चबाते-चबाते, "तुम्हारे नाम से कागज तो होगा, पावती होगी, दिखाना जरा ?"

कुमर ने ऊँचे स्वर में कहा, "कागज मेरे बड़े भाई के नाम से है, हमारा कागज फाड़ा नहीं गया कि बाँट-बखरा नहीं हुआ। मेरा घर—"

पुर काण्डी ने बीच में रोका, "अधिक बकबक मत करो कुमर ! तेरे भाई का घरबार। तुझे उसने इस तरफ सेंहुड़ा गाछ के पास एक कोठरी छोड़ दी थी, दूसरी तरफ तो उसके गुहाल के पास की बाड़ी थी, तू अब कहाँ से इतना मामला निकालकर खड़ा कर रहा है ?"

सिध ओझा, अरि मिश्र और उनके दल के अन्य लोगों ने सिर हिलाकर समर्थन किया। उस तरफ से कुछ लोगों ने विरोध किया और भर्त्सना की। सिध ओझा ने हाथ जोड़कर निवेदन किया, "हुजूर एक बात, इन लोगों की यह शत्रुता तो देख ही रहे हैं। सब तो समझ गये होंगे, मैं अब क्या कहूँगा ?"

हो-होकर सब उठ खड़े हुए। पोखरी की ओर से औरतें गालियाँ दे रही हैं। ऊँची आवाज में कोई विधवा हल्ला मचा रही है, "इस गू खाये, घरफोड़ू, इस मूँडी-टूटे, आग जले, डायन खाये के लिए गाँव टूट पड़ता है। सब घिसट रहे हैं। मरने पर क्या ले जायेगा साथ में जो इतना वाद-विवाद निकाल रहा है। इन नालायकों ने किसी को कहीं का रहने नहीं दिया !"

विपिन ने हाथ में बँधी घड़ी की ओर देखा और झट उठ खड़ा हुआ। कोई साफ फैसला नहीं कर सका और सीधा चल पड़ा जीप की ओर। लगभग पचास लोग जमा हो गये थे। गाड़ी चल पड़ी।

आगे नयी माटी डालकर सड़क बनी है गाँव के लिए—कुछ दूर तक। कितने पोखर खुदे हैं। जगह-जगह कुछ नये क़िस्म के गाय-भेड़ें दृष्टि में पड़ जाते हैं। यह हरियाणवी साँड का बच्चा तो है, यह लाल सिन्धी गाय के मेल से—। यह गोदावरी है। वह उधर लम्बी बकरी, बड़े-बड़े चौड़े झूलते कान। रास्ते में बाउरी-बस्ती में, पाण-बस्ती में कहीं-कहीं पर आर. आई. आर. मुर्गे, कहीं सफेद लेग हॉर्न। बैलगाड़ी पर हाण्डी की हाण्डी गुड़ लादा जा रहा है। विपिन ने देखा गाड़ी रोककर, बिना धुएँ के चूल्हे पर लोहे के कड़ाहों में राँधा गया गुड़, पुराने मक्खन के रंग का। संखाली जेना का गुड़, जेना गन्ना पैदा करते हैं, बीस एकड़ का पलाट है, बहुत बड़े किसान !

चल रहा है विकास। फिर रवि की चिट्ठी के बारे में सोचने लगा। किसके

लिए है यह सारा प्रबन्ध ? किस-किसके हाथ धन लगा। मगर मन कहाँ ? आत्मा कहाँ ? हृदय कहाँ ?

सामने फिर लोगों ने जीप रोकी। वे लोग दरख्वास्त लिखकर लाये थे, थमा दी। और साथ-साथ आपत्ति जता दी। केन्द्र-घर उनके गाँव में न होकर वहाँ से पाव कोस दूर, दूसरे गाँव में क्यों खड़ा किया जा रहा है ? उनके गाँव की इज्जत मिट्टी में मिल गयी। उन लोगों ने दस गाँवों के लोगों का जनमत संग्रह किया है, कागज में दोनों ओर बस केवल दस्तखत भरे हैं—"हमारी माँग, यह केन्द्र-घर हमारे गाँव में हो—"

"ठीक है, विचार होगा।"

अब चढ़ाई है। पहाड़ी रास्ता, छोटी-छोटी कई पहाड़ियाँ। नीचे-नीचे घने जंगल रह गये हैं, झुरमुट के झुरमुट, बड़े-बड़े गाछ कटकर चले गये हैं। जगह-जगह खाली ठूँठ, पत्थर की चट्टानें। इसके बाद—सामने बैलगाड़ी उलट गयी है। आ रही थी कि दाहिनी ओर मुड़कर गिर गयी। दाहिनी ओर का भैंसा घुटनों के बल पड़ गया है। उसका पुट्ठा जख्मी हो गया है। गाड़ी में खूब लम्बे-लम्बे मोटे काठ के कुन्दे लदे हैं, नीचे भी एक-दो बँधे हैं। उनमें दो भैंसे की पीठ पर से होते हुए लदे हैं।

जीप गीयर बदलती पें-पें करती धीमी होकर पास पहुँची। भैंसे ने हरकत नहीं की, मुँह पसारे निश्चल एक ध्यान से मानो वह प्रतीक्षा कर रहा है। बड़ी-बड़ी काली-काली आँखें डब-डब चिकमिक देख रही हैं, मानो मौन निराशा में स्थिर होकर जीवन वहाँ ठहर गया है। वह आदमी से न कुछ माँगता है, न कुछ आशा है।

बस केवल प्रतीक्षा है।

भग्नदूत ने आकर खबर दी, सिन्धु चौधरी ने सुना। मानापमान के गुस्से में लोका नायक का चेहरा फों-फों कर रहा है। लोका नायक ने उपसंहार किया—"नहीं जानते थे कि वे इतने ओछे लोग हैं ! और होंगे क्यों नहीं ? कितनी पीढ़ी का घर है ? धन पुराना होता है तब न जाकर इनसानियत खुलती है, नहीं तो खाली बस, सिर में पित्त बढ़ता है, और सारी देह में फैल जाता है। वह तो आपके पैरों की जूती के बराबर भी नहीं, उनके इतने सुकरम कहाँ जो आपके घर का रतन लेकर गले में धारण करने की शक्ति हो।"

छवि की माँ तो जार-जार आँसू बहा रही थी। उन्हें तो विश्वास हो गया था कि किसी ने कुछ भड़का दिया है। सब इस गाँव के लोगों की करतूत है—और ये जो मूरत उनके पतिदेवता हैं, जिनपर सारी आसा-भरोसा है, वे चाहे भले आदमी हों, पर हैं दुरबल। किसी को कुछ भी नहीं कहेंगे, दुसमनों को इसी से मिल जाता है मौका !

सिन्धु चौधरी नहा-धोकर बैठे पोथी पढ़ रहे थे। सामने सारलादास की महाभारत की ताड़-पोथी, बहुत पुरानी। चेहरे पर प्रशान्त स्वप्निलता। सामने स्त्री आकर आंसू छलकाती हुई मानो ज्वाला भड़का रही हैं। आः! यह फिर कैसा रूप! माँ ने जनम दिया है, मन नहीं मानता! हृदय छटपटा रहा है।

"चींटी को छेड़ो तो वह भी जोर से काट खाती है, और तुम हो कि....जाओ, अभी जाकर समझो किसने क्या लगा-सिखा दिया, नहीं तो वे लोग क्यों इनकार करते? आज जो ठोकर मारता है, कल उसे देना चाहिए घूँसा, तुम बैठे-बैठे खाली पोथी पढ़ते रहोगे?"

"अरी, देख! सुनो, सुनो," सिन्धु चौधरी ने कहा, कितना सुन्दर लिखा है, सुनो तो सही, भागवान, इतने लोगों के रहने पर भी कितना विश्वास किया भगवान् ने अक्रूर पर? उसे क्यों ब्रह्मज्ञान बताया?

अक्रूर बोलि जेहु हिंसा आहार नाहिं।
तेणु करि दया कले जगत गोसाईं॥"

"न लाज है न छल, दुश्मन हँस रहे हैं और यह आदमी है जो पुराण बाँच रहा है। क्यों? तुम्हारे क्या हाथ-पाँव नहीं? लोग कह-सुनकर तुम्हारी बेटी का ब्याह-सगाई तोड़ेंगे! तुम्हारा मान महत् गया, तुम्हारे मुँह पर मूतेंगे, तुम बैठे रहोगे पत्थर बने?"

"बोलो, बोलो, और कहो। जानती तो हो, एक पत्थर हूँ मैं। तुम किस बात पर इतना रो रही हो? लो सुनो—

सुण हो राजन कृष्ण भालिण से कलेक उपाये।
द्वारका भुवन कु से लागिला कोकुआभय॥
अदभुते शुभिला से आइला कोकुआ।
पलाअ रे पोए खाइबटि कोकुआ॥
भए करि पोए लुचिले भितरे।
सान पोए लुचन्ति से माताक कोड़रे॥

(कृष्ण ने ऐसी लीला रची कि द्वारका में भय छा गया। लोग भागकर छुपने लगे। उस झूठे भय से बच्चे माताओं की गोद में छुपने लगे)

देखो, विनाश से पहले ठाकुरजी भय दिखाते हैं। वही भय विनाश को बुला लाता है, और क्या? भय का साँप फन उठाता है, और मार खाता है। भय के कारण एक दूसरे को मारता है, फिर दोनों एक दूसरे को मार-मारकर नष्ट होते हैं। दुनिया-भर में जितने लड़ाई-युद्ध होते हैं, सब उसी भय से निकलते हैं, वह उधर देख—"

छवि आईना नीचे रख गयी है। आरसी में मुँह देखकर एक गौरैया उसके साथ लगायें है भयंकर युद्ध। काँच पर चोंच मार-मार थककर चूर हो गयी, फिर उठकर उससे भिड़ गयी है।

चौधरी ने कहा, "देखा तो, कलि है, अपने हृदय के अन्दर शीतलता रखे बिना तुम भी वैसी ही होगी। क्यों इस तरह इतनी इधर-उधर की बातें सोचकर मन उदास करती हो? जाओ, अपना काम करो।"

छवि की माँ उठकर चली गयी। समय बह गया। कोई घड़ी की सुई देख, कोई अपने पसीने को देख, कोई ओस की ओर देख, नाप गये अपने-अपने बाँटे से अपना समय। सिन्धु चौधरी डूबे रहे अपनी उस पोथी में, उसके साँवले पुराने पत्र! पीढ़ी दर पीढ़ी, लोगों के हाथों ने छुआ है उसे। बिलकुल मन लगाये पढ़ रहे थे, बीच में आँख उठाकर देखने लगे सामने की ओर, शून्य की ओर, श्रीकृष्ण भगवान् की लीला का शेष दृश्य देखते-देखते गहरे दुख के बीच से जाग उठा कौतूहल, विस्मय। सोचने लगे—जो इतना महान् स्रष्टा है, वह कैसे स्वयं इतने सांसारिक मोह में पड़ विकल जर्जर हो रहा है। स्वयं रचा, स्वयं तोड़ा और फिर स्वयं उस मोह में पड़कर दुख पा रहा है, और फिर उससे दूर हो रहा है। नहीं, इसी में है यह सृष्टि-भर का परम सत्य!

"समस्त मराइ जे मुँहि होइला येका
दशदिग अंधार होइ वुलइ ताटका।—"

(सबको मरवाकर मैं अकेला हो गया हूँ—दसों दिशाएँ अन्धकाराच्छन्न हैं और विक्षुब्ध हैं)

समस्या से भागकर चेतना-सृष्टि की विचित्रता में उन्होंने अपने को प्रसारित किया था जिसमें न छवि की माँ थी, न वह समस्या ही।

वे ध्यान में मग्न थे। आँखों के आगे यह सृष्टि थी। फिर यह टूटती जा रही है। बनती जा रही है। माया उसमें अँधेरे की तरह मिली है। सोचा, खाली आँखों से किसी चीज का चेहरा शायद नहीं दिखेगा। रोशनी और अँधेरा मिलने पर दिखेगा। तभी तो इस सृष्टि को माया ढँपे है।

धूप बढ़ गयी। भात परोसा गया। पोथी में डोर बँधी है। छवि की माँ का चेहरा नित्य की तरह है। छवि परोस रही है। जैसे रोज करती है। देख लेने पर उनका हृदय करुणा से काँप उठता है, स्वतः धारा छूटती है मंगल कामना से, मन के अन्दर पुराण के भाव-रागिणी की आखिरी प्रतिध्वनि, यह, यह सृष्टि है, घड़ी-भर में भरा-पूरा। और घड़ी-भर में कुछ नहीं। श्रीकृष्ण की मरणशील देह भी लोप हो गयी है। सोचते-सोचते भोजन समाप्त हो जाता है। सोचने पर मुट्ठी-भर भात भी विचित्र लगते हैं। अपना श्रम नहीं, तो भी चावलों के दाने गये नहीं, आ ही जाते हैं। ऐसे ही किसी दिन न आये तो न सही, देखा जायेगा। अक्षय भण्डार था स्वयं श्रीकृष्णजी चले गये, और उनका क्या न था?

उसके बाद शुरू हुआ चरखा।

उसकी ताल पर फिर चिन्तन, और भी अनेक। आँख खुली रहने पर पोथी में

कब किस बात पर निगाह चली जाये। आँखों के आगे कुछ तैरने लगती। मन खुला रखने पर कब कौन-सी भावना आकर फाँक भर देती, फिर चली जाती।

वे गाँव के कलह की बाबत सोच रहे थे। सूखी हवा को भी किस पागलपन का रोग है, आँखें देख रही है, कान सुन रहे हैं। आँखों के सामने गाँव फटकर ध्वंस होने को बैठा है। कहने पर सुनेगा कौन ?

वे नहीं उत्तर सकते। जो अच्छा लगता है, उस वंश-परम्परा की शालीनता समझते हैं। मिलने के लिए गन्ध और गन्दगी को भी स्वीकार करना पड़ेगा। उनसे नहीं होगा। केवल देखना पड़ेगा। मन में से उत्तर आया, कि यह सब माया है, माया है, यह भी बदलेगा !

किन्तु माया के दावे में चेहरे पर खिन्नता की छाया पड़ी है। वे चिन्तित हैं, पर छवि की माँ कल की तरह काम में लगी है।

फागुन आ रहा है। वाड़ी-वाड़े में तिनके से पेड़-पौधों में नाजुक-नाजुक पत्ते, ऊपर सब्ज जाल बिछाये बड़े पेड़, साफ़ नजर आ रहे हैं; पुराने सूखक गाढ़े सब्ज-नीले पत्तों पर कोमल हरित पत्ते, कहीं लाल-लाल छाने लगे हैं। पेड़ तले बौराये आम की महक। उसके साथ कटहल के फूल, पुन्नाग और नीम के फूलों की भीनी सुगन्ध। लालिमा लिये खिल आये हैं सेमल के फूल, जगह-जगह पाटली, पालिधा, गुलमोहर पर झूल आये हैं फूलों के सघन झूमके।

देह को सुहाता-सा पवन का झोंका बहता आ रहा है। उसमें कई तरह की महक है। सारे जीव-जन्तुओं में एक प्रकार की नवीन चंचलता है। मुखिया बन्दर मानो अधिक उल्लास में उछल-कूद कर रहे हैं। चिड़ियों के कण्ठ मानो पहले से कई गुना खुल गये हैं। मैना, हल्दी वसन्त, कलिंग आदि पक्षी बराबर चहक रहे हैं। रात-भर चीखने के बाद दूर आकाश पर हंस चिलिका की ओर से लौट रहे हैं।

वसन्त आया है। मेंडों के किनारे पर जगह-जगह साँप के केंचुल। गाँव के आदमी की चंचलता मानो प्रकट हो आती है, फुस-फास की काना-फूसी में, गाँव के कलह में, नयी योजना बनाने में।

गाँव में भेद के पीछे-पीछे चन्दा। दोनों दल चन्दा उगाहने में जुट गये हैं। किसी से दोनों ओर के लिए दुहरा चन्दा। अपनी तरफ को ठीक रखने के लिए चन्दा उठाना ही पड़ेगा। कर सके तो बहुत काम हो जायेगा।

अलग-अलग घर के अलग-अलग चूल्हे होने की तरह गाँव में दो अखाड़े, दोनों दलों के। वहाँ मन्त्रणाएँ चलती, दूसरी तरफवालों के लिए परेशानी कैसे बढ़ायी जाये, कौन सा पेंच लड़ाया जाये कि उस तरफ की नाक जमीन में रगड़ी जा सके, मुँह पर

चौधरी ने कहा, "देखा तो, कलि है, अपने हृदय के अन्दर शीतलता रखे बिना तुम भी वैसी ही होगी। क्यों इस तरह इतनी इधर-उधर की बातें सोचकर मन उदास करती हो? जाओ, अपना काम करो।"

छवि की माँ उठकर चली गयी। समय बह गया। कोई घड़ी की सुई देख, कोई अपने पसीने को देख, कोई ओस की ओर देख, नाप गये अपने-अपने काँटे से अपना समय। किन्तु चौधरी डूबे रहे अपनी उस पोथी में, उसके साँवले पुराने पत्र! पीढ़ी दर पीढ़ी, लोगों के हाथों ने छूआ है उसे। बिलकुल मन लगाये पढ़ रहे थे, बीच में आँख उठाकर देखने लगे सामने की ओर, शून्य की ओर, श्रीकृष्ण भगवान् की लीला का शेष दृश्य देखते-देखते गहरे दुख के बीच से जाग उठा कौतूहल, विस्मय। सोचने लगे—जो इतना महान् स्रष्टा है, वह कैसे स्वयं इतने सांसारिक मोह में पड़ विकल जर्जर हो रहा है। स्वयं रचा, स्वयं तोड़ा और फिर स्वयं उस मोह में पड़कर दुख पा रहा है, और फिर उससे दूर हो रहा है। नहीं, इसी में है यह सृष्टि-भर का परम सत्य!

"समस्त मराइ जे मुँहि होइला येका
दशदिग अंधार होइ वुलइ ताटका।—"

(सबको मरवाकर मैं अकेला हो गया हूँ—दसों दिशाएँ अन्धकाराच्छन्न हैं और विक्षुब्ध हैं)

समस्या से भागकर चेतना-सृष्टि की विचित्रता में उन्होंने अपने को प्रसारित किया था जिसमें न छवि की माँ थी, न वह समस्या ही।

वे ध्यान में मग्न थे। आँखों के आगे यह सृष्टि थी। फिर यह टूटती जा रही है। बनती जा रही है। माया उसमें अँधेरे की तरह मिली है। सोचा, खाली आँखों से किसी चीज का चेहरा शायद नहीं दिखेगा। रोशनी और अँधेरा मिलने पर दिखेगा। तभी तो इस सृष्टि को माया ढाँपे है।

धूप बढ़ गयी। भात परोसा गया। पोथी में डोर बँधी है। छवि की माँ का चेहरा नित्य की तरह है। छवि परोस रही है। जैसे रोज करती है। देख लेने पर उनका हृदय करुणा से काँप उठता है, स्वत: धारा छूटती है मंगल कामना से, मन के अन्दर पुराण के भाव-रागिणी की आखिरी प्रतिध्वनि, यह, यह सृष्टि है, घड़ी-भर में भरा-पूरा। और घड़ी-भर में कुछ नहीं। श्रीकृष्ण की मरणशील देह भी लोप हो गयी है। सोचते-सोचते भोजन समाप्त हो जाता है। सोचने पर मुट्ठी-भर भात भी विचित्र लगते हैं। अपना श्रम नहीं, तो भी चावलों के दाने गये नहीं, आ ही जाते हैं। ऐसे ही किसी दिन न आये तो न सही, देखा जायेगा। अक्षय भण्डार था स्वयं श्रीकृष्णजी चले गये, और उनका क्या न था?

उसके बाद शुरू हुआ चरखा।

उसकी ताल पर फिर चिन्तन, और भी अनेक। आँख खुली रहने पर पोथी में

कब किस बात पर निगाह चली जाये। आँखों के आगे कुछ तैरने लगती। मन खुला रखने पर कब कौन-सी भावना आकर फाँक भर देती, फिर चली जाती।

वे गाँव के कलह की बाबत सोच रहे थे। भूखी हवा को भी किस पागलपन का रोग है, आँखें देख रही हैं, कान सुन रहे हैं। आँखों के सामने गाँव फटकर ध्वस होने को बैठा है। कहने पर सुनेगा कौन?

वे नहीं उतर सकते। जो अच्छा लगता है, उस वंश-परम्परा की शालीनता समझते हैं। मिलने के लिए गन्ध और गन्दगी को भी स्वीकार करना पड़ेगा। उनसे नहीं होगा। केवल देखना पड़ेगा। मन में से उत्तर आया, कि यह सब माया है, माया है, यह भी बदलेगा!

किन्तु माया के दावे में चेहरे पर खिन्नता की छाया पड़ी है। वे चिन्तित हैं, पर छवि की माँ कल की तरह काम में लगी हैं।

फागुन आ रहा है। बाड़ी-बाड़े में तिनके से पेड़-पौधों में नाजुक-नाजुक पत्ते, ऊपर सब्ज जाल बिछाये बड़े पेड़, साफ नजर आ रहे हैं; पुराने खुश्क गाढ़े सब्ज-नीले पत्तों पर कोमल हरित पत्ते, कहीं लाल-लाल छाने लगे हैं। पेड़ तले बौराये आम की महक। उसके साथ कटहल के फूल, पुन्नाग और नीम के फूलों की भीनी सुगन्ध। लालिमा लिये खिल आये हैं सेमल के फूल, जगह-जगह पाटली, पालिधा, गुलमोहर पर झूल आये हैं फूलों के सघन झूमके।

देह को सुहाता-सा पवन का झोंका बहता आ रहा है। उसमें कई तरह की महक है। सारे जीव-जन्तुओं में एक प्रकार की नवीन चंचलता है। मुखिया बन्दर मानो अधिक उल्लास में उछल-कूद कर रहे हैं। चिड़ियों के कण्ठ मानो पहले से कई गुना खुल गये हैं। मैना, हलदी वसन्त, कलिंग आदि पक्षी बराबर चहक रहे हैं। रात-भर चीखने के बाद दूर आकाश पर हंस चिलिका की ओर से लौट रहे हैं।

वसन्त आया है। मेंड़ों के किनारे पर जगह-जगह साँप के केंचुल। गाँव के आदमी की चंचलता मानो प्रकट हो जाती है, फुस-फास की काना-फूसी में, गाँव के कलह में, नयी योजना बनाने में।

गाँव में भेद के पीछे-पीछे चन्दा। दोनों दल चन्दा उगाहने में जुट गये हैं। किसी से दोनों ओर के लिए दुहरा चन्दा। अपनी तरफ को ठीक रखने के लिए चन्दा उठाना ही पड़ेगा। कर सके तो बहुत काम हो जायेगा।

अलग-अलग घर के अलग-अलग चूल्हे होने की तरह गाँव में दो अखाड़े, दोनों दलों के। वहाँ मन्त्रणाएँ चलती, दूसरी तरफवालों के लिए परेशानी कैसे बढ़ायी जाये, कौन सा पेंच लड़ाया जाये कि उस तरफ की नाक जमीन में रगड़ी जा सके, मुँह पर

कालिख पुत जाये। पेशेवर झगड़नेवाला खड़ा किया जा सकता है, जो दूसरे पक्ष को लताड़ेगा। खुला पालावालों की लड़ाई खड़ी की जा सकती है, जो चामर हिला-डुलाकर गीतों के जरिये गाली देते रहेंगे। काली निकाली जा सकेगी, और इच्छा हुई तो स्वांग भी भरा जा सकेगा, गाँव में कवियों की तो कोई कमी नहीं। इसके अलावा बाजा, मृदंग, और फिर ऐसे बोल छूटेंगे कि मुनि भी विचलित हो जायें—जैसे

"ताता ताता थेइया
जा घोड़आ, जा घोड़आ।"

घण्टा बजाने का भी ढंग है, उसके बजाने के शब्द से गाली निकाली जा सकेगी, पारखी ग्राहक कानों में पड़ते ही जान लेंगे कि—"घण्ट पुअ मादल पुअ डेईं पड़ रे—(अमुक) पुअ।" इस तरह चिढ़ाकर आदमी को पागल बना देना होगा, एक बार पागल होने के बाद तो शुरू होगी मारपीट। गाँव के कलह की आग लपलपाती उठेगी हजार-हजार लपटों में। उसीकी प्रतीक्षा है।

ताक-झाँक, अड़ना-डटना, धक्का-पेली। यह उसके और वह इसके गाय-गोरू काँजी-घर ले जाने में लगे हैं, बिलकुल सनातन कौशल। बाधा देते समय सिर चाहे न फटें, पर गाली-गलौज की बौछार करने का तो अवसर मिल ही जाता है। खेत का कलह तो मुट्ठी में ही समझो, पहले हल-बैल जाने का रास्ता बन्द, उस तरफ के लोगों का खेत पड़ा तो खेत में जाने का रास्ता पहले की तरह खुला नहीं मिलेगा, बाहर से घूमकर जाने को कहा जा सकता है।

छोटी-बड़ी अदावतें चल रही हैं, सब बल रहने तक गला साध रहे हैं। घर के सामने खड़ी हो कमर तक झुक, पीठ की ओर हाथ किये बस्ती को कँपाती हुई, औरतें गालियाँ झाड़ रही हैं। एक जरा थकी कि दूसरी सहारा देने आ जाती है।

बाहर रास्ते पर भरदों में रे-रेकार चल रहा है, अचानक इधर से पाँच तो उधर से सात कहाँ-किधर से दौड़ आते हैं, आमने-सामने जमकर वाक्-युद्ध छिड़ जाता है। चीखों और चिल्लाहटों से मानो आकाश फट जायेगा। धमका-धमकी हुई, नंगे बदन चिलचिलाती धूप में ऐसी उछल-कूद मचायी मानो दो-चार लाश पड़ेंगी। किन्तु कोई दुर्घटना नहीं हुई। देखा तो रास्ता सुनसान, कुछ नहीं हुआ।

हरि साहू दुकानदार हिम्मत के साथ बैठा रहा अपनी गद्दी पर। सहायता के लिए हट्टा-कट्टा बेटा है। उसने पहले कभी चन्दा नहीं दिया, अब भी नहीं दिया।

किन्तु छोटा दुकानदार धोबा नायक इस टण्टे से उबर न सका। केवट बस्ती के सिरे पर किनारे के पास उसकी छोटी-सी दुकान है, उसकी ज्यादा दुकानदारी अहीर और केवटों में है। वे उधार लेते हैं, किन्तु डुबोते नहीं। लेते हैं—चुका देते हैं। थोड़ा सौदा लेते हैं। परन्तु वह लोका नायक के कुटुम्ब में से एक है, और अर्पति पधान ने उसका कई दिन हुए तीन रुपये की उधारी कर गया है, इसके लिए कई बार वह माँग चुका है। अर्पति पधान ने उसके विरुद्ध लोगों को उकसाया है। अथच दूसरी ओर के लोगों

का भी उसके प्रति मन साफ नहीं है। वे कह रहे हैं कि वह दूसरी तरफ के लोगों से कोई सम्बन्ध न रखे। उसके तो दोनों छोर गये, बकाया रुपये भी डूबने पर है।

और दोतरफा पड़कर परेशान होनेवालों में है—जुजेष्टी धोबी। जुजेष्टी और उसके बेटे को मिलाकर है पाटेली गाँव में एक घर धोबियों का। हालांकि उन दोनों का अलग-अलग घर है। जुजेष्टी धोबी धुलाई अच्छी करता है इसीलिए दूसरे गाँवों से भी उसे बयाना मिलता है। इस दल के लोगों ने आकर कह दिया, "देखो, खबरदार! तुम उस तरफ के लोगों के कपड़े धोओगे, तो बस गाँव से निकल जाओ।" इस तरफ के लोग भी यही बात दुहरा गये। एक पक्ष ने कहा, "दधिवामन इस बार चन्द्रपुर के मेलन पर निकलेंगे, चन्दा हुआ है, तुम्हें दो रुपये देने ही पड़ेंगे।" दूसरे पक्ष ने कहा, "खबरदार, दधिवामन के लिए तुमने एक पैसा भी दिया तो! तुम हमारी तरफ के हो, सदा से साआन्त के सेवक हो, राधेश्याम ठाकुरजी का मेलन होगा, ठाकुरजी फिर चन्द्रपुर जायेंगे, चन्दा हुआ है, तुम्हें दो रुपये देने ही पड़ेंगे।"

एक पक्ष ने कहा, "तुम्हारी बहुत हिम्मत हो गयी, हमारे कपड़े अगर न धोने है, तो निकलो इस गाँव से, रास्ते में चलना बन्द कर देंगे! साले, क्या समझ रखा है? भला चाहते हो तो कपड़े धोओ!"

दूसरे पक्ष ने कहा, "क्यों रे, चर्बी हो गयी, क्या? पित्त बढ गया? इन्द्र-चन्द्र किसी की खातिर नहीं? धोबी हुए है, कपड़े नहीं धोयेंगे!"

बाहर ग्राम-संगठन की योजना, उन्नति-विकास का प्रचार।

और सब भोहर है।

गाँव के कलह का चाप केवल आदमी और पशुओं पर ही पड़ा सो बात नहीं, माटी और पेड़ों पर भी पड़ा। आड़ काटना, गाछ काटना तो मामूली बात हो गयी। अर्पात पधान ने तुरही बजा दी उस दिन जब कुल्हाड़ी की चोट पड़ी किनारे के विख्यात उस पीपल के तने पर। बहुत बड़ा, ऊँचा घना। पुराना पीपल का पेड़—मानो पाटेली गाँव का मुकुट हो। किनारे-किनारे आने पर कितनी ही दूर से दिख जाता। परदेश से लौटता गाँव का आदमी दूर से ही पेड़ों की भीड़ में पाटेली गाँव का पीपल-गाछ देखकर कह उठता—"वो, वहाँ है मेरा गाँव।"

.

वह बढ़ा था—प्रकृति की जीवन-मत्तता में, अपनी जीवनी-शक्ति का विकास दिखाकर केवल बल में, सौन्दर्य में लोगों का सम्मान भाजन हुआ था। कितना विशाल वृक्ष! आस-पास के कुचला, बरगद और माहाल की तरह मानुष गढ़े ठाकुर नहीं कि ठाकुरजी का आश्रयस्थल नहीं। कुचले के पेड़ के नीचे कुचलेई देवी, बरगद की सात जटाएँ मिलकर सात बहनें, सेंहुड़ा पेड़ के नीचे जागुलेई देवी। वे सब गाँव की रक्षा

करनेवाली है। अतः उसकी देह में खून घनी-घनी सिन्दूर, नीचे माटी के अनेकों घोड़े, फिर भोगपने की हण्डियाँ-गगरे आदि ठीकरे। पीपल धरम का भेस लेकर बड़ा नहीं, केवल अपने विकास में बड़ा है, जैसे कि एक प्राक्-वैदिक आर्य हो।

नदी के किनारे के उस ओर की उबड़-खाबड़ जमीन पर धार के किनारे उसका आसन है, उतरने पर दूर तक नदी का बालू फैला है। बाढ़ के समय वह पानी के बीच रहता है, पानी छूटने पर ठीक उसके किनारे से पानी बहता है। वहाँ से पानी के कटाव के कारण माटी बह गयी और जड़ें जटाओं की तरह दिख रही हैं, फिर भी उसका कुछ बिगड़ा नहीं। वैसा ही सोधा, वैसे ही अटल।

किसकी जमीन पर वह खड़ा है, किसी ने कभी नहीं पूछा। किनारे पर खड़े होकर अन्यमनस्क भाव से देखते समय वह अचानक याद आ जाता है। चिलचिलाती धूप में आँखें चौंधिया देनेवाले पत्ते, चाँदनी रात में झिलमिलाते, वर्षा में सनसनाते। तूफान के समय योद्धा की तरह और बाढ़ की प्रलय के बीच स्थिति की टेक थामे अकेले खड़ा रहता। तभी उसका अस्तित्व लोगों के हृदय में पैठा हुआ है। धर्म का प्रतीक न रही, जीवन का प्रतीक बनकर वह साहस का आश्वासन देता है।

अचानक एक दिन अर्पति पधान ने घोषणा कर दी कि उसने जो जमीन राण्ड अन्धी गुड़ियानी बुढ़िया से बन्धक लिखवा ली थी, पीपल का आधा उसमें पड़ता है, बाकी आधा पड़े भले ही मदना नायक की जमीन में। इसलिए पेड़ जब उसकी जमीन दाबे खड़ा है, जड़ें पसर गयी हैं, तो उसे भी चाहिए कि वह पेड़ को काटकर दखल करे।

"ऐं, शरदी बुढ़िया की जमीन में पीपल गाछ!" लोका नायक ने कहा, "वहाँ, मेरी तो उमर बीत गयी, यह बात कभी तो सुनने में नहीं आयी।"

"माप करा लो!" अर्पति पधान ने हाँका।

अर्पति पधान ने लाकर हाजिर किया अमीन आरत महान्ती को। नपाई शुरू हुई। गाँव के लोग कमर पर हाथ धरे पान खाते हुए देखने लगे। मन में कुतूहल, कैसे यह असम्भव बात सम्भव होगी। आरत अमीन ने चारों ओर घूमकर कहाँ-कहाँ से पत्थर निकाले। कहा, खोदो यहाँ पर, पत्थर है। पत्थर निकला, सबकी आपत्ति के बावजूद लाइन लेकर माप कर ठीक बैठा दिया पीपल को शरदी गुड़ियाइन की जमीन पर।

गाँव के लोग मुँह बाये देखते रह गये। अर्पति पधान मन ही मन मुसकाता रहा। आरत अमीन ने पीपल का आधे से अधिक भाग शरदी गुड़ियाइन की ओर दिखाकर पेड़ के पिछवाड़े में कील ठोक दी। कहा, "यहाँ पन्द्रह कड़ी पूरी हुई, शरदी गुड़ियाइन की इतनी दूर में पूरी होती है।"

लोगों का झुण्ड। किसी के मुँह में जैसे ज़बान तक नहीं। दोपहर में अर्पति पधान ने कहा, "मेरी जमीन का तो सत्यानाश कर दिया इस पीपल ने, जो हो, खैर, दो गाड़ी काठ ही काटने पर काम आयेगा।"

लोका नायक ने सिर हिलाते हुए कहा, "यह कैसे हो सकता है! पीपल के गाछ

पर कुल्हाड़ी चलेगी ? फिर गाँव-भर के गाछ पर ?"

अर्पति ने कहा, "नही पड़ेगी क्यों ? अपने-अपने घर में सब है, यही तो न्याय है। मैं तो किसी के घर मे घुसने नही जाता कि कोई दो बात कहे। उधर का आधा तो मदना नायक की जमीन में पड़ता है। काट ले जाये उधर का टुकड़ा, कोई जबान तक हिलाये !"

अचानक दोनों पक्षों मे हो-हा मच गयी। मुकुटी मिश्रजी नाक से चीं-चीं करते कहने लगे, "अधरम, अधरम ! यह तो घोर कलजुग है ! आदमी अश्वत्थ वृक्ष रोपता है, धर्म करता है, और कोई कुलांगार उसे काटने की बात सोचता है। यह नाप-जोख गलत है। यह न्याय गलत है, इसमे सब गलत ही गलत है।"

आरत अमीन अचानक गुस्से में भरकर मिश्र के चेहरे के आगे नाच उठने की तरह हिलकर गरजने लगा, "क्या....या....कहा ? क्या कहा ? यह नाप गलत है। बड़े नापनेवाले आये ! लोहला, ब्रह्मादेस से हजारीबाग, खोर्धा, अठारह रजवाडे, बंपारीगुड़ा, दुनिया-भर नापता-नापता आया, बाल पक गये इसी नापने में, और आज यह मुकुटी बामन कह देगा कि आरत महान्ती की नाप भूल है !"

त्रिदेई वेहेरा ने कहा, "नही, मेरा मन नही मानता, तुम गाँव के उस सिरे से बेबाक नाप कर लाओ।"

आरत ने कहा, "क्या कहा, सारा गाँव सर्भे करता-करता आऊँ ? यही कहते हो ? ठीक है, कर दूँगा। जितने दिन भी लगें, गाँव-भर की नाप-जोख निकाल दूँगा। किसने किसकी जमीन दबायी है, किसकी बाड़ी में घर बनाया है, आम रास्ते से कितना कौन खा गया, सारा नाप दूँगा। आलू खोदते-खोदते महादेव निकलेंगे। मेरा क्या जाता है ? पर सारा गाँव नपेगा, पहले मेरी फ़ीस रखो। पहले रखो पन्द्रह रुपये, चाहे बाकी बाद में देना। लाओ, अभी नाप शुरू करता हूँ।"

लोचा नायक ने कहा, "काहे की 'फीज' ना 'फिस' ? क्यो, हम क्यो रुपये भरें ?"

"न दोगे तो मत दो, थिर होकर बैठो। फिर क्यों कहते हो, यह नापो—वह नापो ? क्या सिर्फ हराम मे काम हो जायेगा, फिर क्यों कहते हो ?"

हो-हा बढ़ता गया। अर्पति पधान ने बात समेटकर कहा, "मैंने अपनी नाप पूरी कर सबके सामने दिखा दी। तुममे कोई आपत्ति करे तो अपनी इच्छा का अमीन बुलाकर नापता रहे। मेरा दखल तो तुम लोगों ने देख ही लिया, और क्या ?"

हो-हल्ला करते एक-एक सरकते हुए खिसक लिये। खाने-पीने की बेला, भूख हो आयी। धूप भी चढ़ आयी। पीपल की डालियों पर सदा की तरह चिड़ियों ने किचिर-मिचिर लगा दी। किस जमाने का पुराना पीपल गाछ, उसी की छाया के नीचे आदमियों के दल के बीच इतना बड़ा ऐतिहासिक फैसला हो गया। उसमे परिवर्तन नही, वह अविचल है। पुराना पीपल मानो समय की लहर की कोई छाया है, सूक्ष्मदेही, सुख-दुख नही छूता। चारों ओर का वस्तु बोध उसे नहीं होता, अथवा वह स्वयं ही एक स्थूल

वस्तु है। बाकी चारों ओर तो छाया-भर है। उधर नदी-बालू में कोमल अन्तिम तेज की सूचना और प्रलोभन है।

सभी आगे-आगे अर्पति पधान और पीछे-पीछे बोमेक लोग बरगद के नीचे पहुँचे। ये लोग कण्टराक्टरी के विदेशी कुली, इस गाँव से तीन कोस नीचे की ओर उनकी छावनी है। अर्पति पधान ने उँगली दिखा दी, "इधर काट लो।" कुली गाछ पर चढ़कर डाल काटने लगे।

नीचे गाँव के लोगों में हलचल। चल पड़ी कहा-सुनी, कलह-झगड़ा। ऊपर दुल-दाल करते हुए डाल की कटाई चल रही थी। अर्पति पधान ने ऐलान किया— "इस गाछ में-से अपना भाग मैं कण्टराक्टर बाबू को बेच चुका हूँ। उन्होंने अपने कुली भेजे हैं। काम अटकाना हो तो अटकाओ, मेरा कुछ नहीं जाता। बस इतना याद रखकर चाहे जो करो। वे बारीक मिस्त्री कण्टराक्टर हैं, उनके हाथ में दो हज़ार कुली और वे घड़े से पैसे नापते हैं। इज़्ज़तदार आदमी। बात-बात में मुकदमा चला देते हैं।"

तेरी-मेरी करते-करते दो घण्टे बीत गये।

सूरज डूबने को आया। ज़ोरदार आवाज़ कर, कड़कड़ाते हुए पीपल की दो मोटी डालें धड़ाम से कटकर गिर पड़ीं। मानो धड़ सहित दो बड़े-बड़े पेड़ गिरे हों।

नीचे जनता की उत्तेजित चीख-पुकार। अर्पति पधान ने देखा सबके पीछे, उसके सामने, खड़े हैं सिन्धु चौधरी। किसी को हूँ-चूँ भी न कहनेवाला आदमी मानो आधीन्य दिखा व्योहारा कर बोल रहा है—"अर्पति, अब बन्द कर बेटे। मेरी ज़रा-सी यह बात मान। लोगों के मन में कितना दुख हो रहा है, देख तो सही? ये दो डाल हमारे पड़दादा से भी बूढ़ी हैं, गाछ की ओर तो निगाह उठा, कैसा दिखता है? आज से उसकी श्री ही समाप्त हो गयी। यह तूने गाछ पर अपने हाथ का निशान रख छोड़ा। इतने में ही तेरी मनोकामना पूरी नहीं हुई, फिर और कटवाता है? कितने दिनों बाद आज कितनी बड़ी बात हो गयी? आह! रहने दे अर्पति, अब भी रोक।"

अर्पति ने उनके पीछे की ओर देखा। लोगों की भीड़ भरी थी। आदमियों की भीड़ का तूफान उमड़ा आ रहा है। अब साँझ ढलेगी। वह उल्लू नहीं। आवाज़ दी, "अब गाछ काटनेवाले उतर आयें। यह तो दस गाड़ी होगा। कण्टराक्टर बाबू से कह देना। साँझ डूब गयी। बाकी रहने दो और किसी दिन पर।"

कुली उतर गये। उनके साथ-साथ चला गया अर्पति पधान। आज उसने गढ़ जीता है। किनारे पर से गाछ की ओर देखा। इस ओर निचली दो डाल घनी होकर कितनी दूर तक फैल गयी थीं, अब वे और नहीं हैं। उनके बदले खुला-खुला दिख रहा है नदी के ऊपर घिर आता हुआ हलका-हलका अन्धकार। एक ओर से सफाचट होकर गाछ कैसा भी तो दिख रहा है—जैसे कोई हथकटा भूत हो।

मुड़कर अर्पति पधान अदृश्य हो गया।

गालियाँ देते बकर-बकर करते लोग चले गये।

रास्ता रोककर दोनों डालें पड़ी रहीं, धुलाई-सफ़ाई करने एक-एक कर गाँव के लोग-बाग, औरतें नदी की ओर चल पड़े। डाल के पास आने पर बात-चीत बन्द कर देते। छाती में चाँव-से लगता। धीमे-धीमे बातें कहकर दूर हटते हुए वे लोग आगे बढ़ जाते।

डाल नहीं, दो लाशें हैं।

पीपल गाछ फिर भी निर्विकार, फिर भी मजबूत, सीधा खड़ा था।

वैसे ही सीधा खड़ा, आकाश में तारों की ओर सदा की तरह देख रहा था— जाने, चाहे देह से एक टुकड़ा।

छवि।

रवि की चेतना को मानो वह भेद कर गयी है, जैसे उसके रक्त में उसकी स्मृति घनीभूत होती गयी है। मन ही मन कई भंगिमा में वह सजती-सँवरती है और मन की गहराइयों में से अपने आप बाहर निकल आती है उसके चेतन मन की जानी-पहचानी स्मृति में। हाँ, उस दिन चट से उसकी नींद टूटी थी... लम्बी-लम्बी साँस भरते हुए वह बाहर बरामदे पर निकल आया था। सामने चाँदनी फैली थी। कितनी चुपचाप। कितनी छाँह-भरी। उसे लगता था मानो वह कुछ ढूँढते हुए बाहर निकल आया था उठकर; और ऐसी रात और चाँदनी तले कई रूपों में छाँह बिछ गयी है और सामने सब कुछ जाननेवाली चाँदनी रात है जो थोड़ा-सा स्पर्श पाने पर उठ बैठेगी। उस जादू-भरी रात में नशीली पगली चेतनता में वह छवि के ध्यान में खोया हुआ था,....या और किसके?

और तब रात के आकाश पर, क्या पता कितनी दूर चिलिका से घर लौटते हंस उड़ गये कि उनकी घर लौटती रागिणी के कई पद झर गये। आकाश के अनन्त पथ पर मानो उसकी कामना माया बनकर उड़ गयी....और तब भी उसने छवि का ही अनुभव किया था।

छवि तो वैसी है, जो आँखों को दिखाई नहीं देती। दूर के इशारे की तरह उसे महसूस किया जा सकता है। चारों ओर जब तनहाई से भर जाती है, जब चारों ओर हर तरह से बन्द वर्तमान की कहानियाँ सो जाती हैं और मन का दिग्वलय खुल जाता है, जहाँ अतीत और भविष्यत् एक-दूसरे का हाथ थाम लेते हैं, तब आँखों के आगे वही चेहरा उभर आता है और वही संकेत-ज्वार उठाता है। अपने आप उस ज्वार में झूमती-नाचती लहरों से खेलती हुई पता नहीं कब उसकी चेतना एक नयी दिशा पकड़ती है और छवि फिर से मन की गहराई में डूब जाती।

चेतन मन से छवि की कहानी को रवि तौलने लगता है। जितना देखा था

उसके साथ कई गुना मिलाकर वह उसे एक जीवन्त रूप देता है। उस सरल, निष्पाप, निर्दोष लड़की को लोग अकारण बदनाम कर रहे हैं। यह भी वह समझने की कोशिश करता है। वह सोचता है—वे पागल हैं, उनका मन बीमार है, नहीं तो क्या कोई फूल को पैर तले रौंदता है? इस तरह के बीमार दुनिया में भरे पड़े हैं। कोई राष्ट्र ध्वंस करता है, कोई लड़ाई करवाता है तो कोई गला दबाता है। ये सब एक ही साँप का जहर है।

अपने को छवि की दुर्दशा का कारण मानकर वह कभी-कभी अधीर हो उठता है। लोगों के मुँह की अफवाहों को याद करते ही उसे लगता है मानो उसकी बढ़ती चेतना के सफेद चादर पर काले धब्बे अभी-अभी पड़े हैं। बाहर के लिए यह झूठ है, पर मन कहता है यह सच भी हो सकता है। यहाँ झूठ से सच का अन्तर सिर्फ एक ही मोड़-भर है। उसपर यही झूठ की सम्भाव्य सूचना से ही उसका मन सहक उठता है; क्योंकि वह खास अपनी है, मन की गहराई में उसकी स्थिति है। बाहर से चोट लगने पर निगाह उसी ओर चली जाती है और वह बारम्बार अनुभव करता है कि वह वही है, वह स्मृति उसकी अपनी है, और वह उस मोह को स्वीकारता है अपने आप।

और कभी वह चौंक पड़ता है, बहकर चली गयी हवा की दूर की आवाज को मन लगाकर सुनने की तरह उसकी छाती धड़कने लगती है, यह सोचकर कि वह गयी और लौटेगी नहीं। सब दिन के लिए चली गयी। तब वह समय के खिंचाव का अनुभव करता है मन ही मन, उसी खिंचाव के कारण तो माँ की गोद से शिशु चला जाता है, खो जाता है।

फिर शान्त होकर भविष्यत् को देखने को मन करता है ..सामने लम्बी राह है, लाल तीखे पत्थरों पर कड़ी धूप से मानो दहक रही है। कछुए की पीठ की तरह दूर क्षितिज तक फैल गयी है। पत्थर बनकर सीधी तरह चलना है ...न बायीं ओर न दायीं ओर। रास्ते में न पेड़ की छाँह है न सराय है। सिर्फ सीधा....सामने की ओर!

जाना ही होगा।

इतने आदमी, इतनी समस्याएँ, इतने सारे लोगों के अनगिनत दुख-दर्द, इसी हाथ से दुखी का उजड़ा घर बनाना होगा, टूटे उजड़े आदमी को सीधा कर खड़ा करना होगा, पत्थर और ओले की चोट सहन करते हुए राह चलने लायक बनाने के लिए, सपने को वास्तव बनाना होगा। यहाँ निकम्मेपन और पागलपन के लिए जगह कहाँ है! स्मृति वहाँ एक-रस राह की कविता हो, यन्त्र की शक्ति हो ...जाना ही होगा!

गाँव की हिफाजत के लिए मन किया है, अपने लिए काम निकाले हैं, निर्घण्ट और योजनाएँ बनाकर समय को काबू में रखना चाहा है। कितने घर में कितनी उलझनें हैं... कैसी-कैसी परिस्थितियाँ हैं....कितने काम, सिर्फ काम, काम!

शहर चलना होगा। कुछ दिन हुए भोर-भोर से उठने की इच्छा होने लगी है। विपिन ने पत्र पाकर जवाब दिया है—लिखा है एक बार चलने को—बहुत-बहुत। उसे

लग रहा है, उसे भी जरूरत है, कई लोगों की जरूरतें हैं; जैसे कि वही विशेष कर गांव की उन्नति के लिए लग गया है। शहर से इसलिए कई सुविधाएँ जुटानी है। गांव में चेचक का टीका लगानेवाले को ले जाना है। आस-पास के गोरुओं के खुरों में घाव का रोग धीरे-धीरे फैलने लगा है, इसलिए डाक्टर से सलाह लेनी है। खेती के लिए अच्छा बीज और खाद का ठिकाना करना होगा। इन सब कारणों से परे उसमें एक इच्छा भी है, जिसकी कोई संज्ञा ही नहीं है।

रवि जाने के लिए निकल पड़ा।

रास्ते ने उसकी भावना बदल दी। लगता है, यहाँ कोई-सा भी घर उसका अपना हो सकता था। वैसे ही छप्पर, दीवार, बाड़ी-बगीचा, नारियल के पेड़। वह जो आदमी खुरपी लिये घास खोद रहा है, जो हल लिये खेत की ओर जा रहा है, जो कन्धे पर बहँगी रख नाचने की भंगिमा में चला जा रहा है, वे सब उसके गाँव के लोग हैं। पराये गाँव में किसी के घर देखने पर लगता जैसे अपने गाँव की गली के काका, दादा या भैया या ताऊ का घर हो, रुककर देखे तो शायद वे बाहर निकल आयेंगे। वे ही परिचित बच्चे हड़बड़ाकर दौड़ आयेंगे। पीछे कगन-चूड़ी आदि पहने मैले कपड़ों में बायाँ पैर आगे कर स्नेह में भीगी आँखों से देखती कोई काकी या भौजी खड़ी होगी....। यही तो सब कुछ है....हर जगह, हर एक का घर है।

अनुभव कर रहा था, यही तो उसकी जन्मभूमि का सदा का रूप है, सर्वत्र करुणा। वेश-भूषा का आडम्बर नहीं, मीठी-मीठी बातों का अन्त नहीं। सब उसी के हैं।

इस मोड़ के पार पाटेली गाँव है। नदी यहाँ किनारे तक सरक आयी है, तीखा, पतला। उसके नीचे सँकरा बालू पर। किनारे पर खूब घना बगीचा। कहीं शहद के छत्ते बने हैं, मधुमक्खियाँ गुनगुना रही हैं। आम के बौर की छुपी महक में घुल गयी है पुन्नाग की उग्र सुगन्ध। देह अलसा-सी रही है। रवि ने नदी की ओर देखा। पानी के पास बालू पर घड़ियाल पसरा है। पानी के किनारे लम्बे पैरवाले सफेद बगुले। छोटी-छोटी चिड़ियाँ पानी पर लोटती-सी चक्कर लगाकर भाग-दौड़ मचा रही हैं। और इन्द्रनील शरीरवाला मछरंगा ऊपर उठकर पानी पर सीधा झपट रहा है। समय नौ के करीब। धूप कुछ-कुछ तपने लगी है। माथे पर हार की तरह पसीने की चमकती बूँदें। नदी से उठती आ रही है भीगी सरसराती हवा, उसमें नदी की सुगन्ध, भीगे बालू और पानी की।

रवि रुककर घड़ियाल को देखने लगा। कितनी सुन्दर दिख रही है उसकी गुलाबी पूँछ। कितना स्थिर लग रहा है उसका चेहरा। घड़ियाल के प्रति उसे क्रोध नहीं हुआ। अपने खयालों में खोया वह पानी में उतर पड़ा। याद आयी उस दिन की बात—

नूआ बहू टि

नई कि गाधोई यिबु नाहिं टि

घंटिआ किमीर जनि बसिछि
टाकु किना गिलि दबटि ॥

(नयी बहू, देख नदी नहाने मत जाना। घड़ियाल ताक मे है निगल जायेगा।)

डर नही लगा।

उसकी कल्पना में छवि आयी है पानी लेने, और पीछे-पीछे जा रहा है स्वयं वह। घड़ियाल और वह भाई-भाई।

पानी के किनारे घास का घना झुरमुटा है और कही कुछ नही।

घड़ियाल टप से डूब गया। बगुले फड़फड़ाये। छोटी-छोटी चिड़ियों का खेल पानी के काफी ऊपर उठ गया। कही से आकर दो टेंटेई चिड़िया उसके सर पर चक्कर काटने लगीं और चहकने लगी। शायद बालू में वहीं अण्डे दिये होंगे। रवि पानी के किनारे-किनारे चलने लगा।

बालू पर जगह-जगह आदमियों के पैरों के चिह्न हैं। कितने आये, कितने गये। दूर से दिखता—तट के नीचे-नीचे सीढ़ी की तरह अरथी के बांस, फटे कपड़े-चीथड़े, इधर-उधर पास-पास तक की चिड़ियों के चिह्न की तरह टुकड़े-टुकड़े पड़े हैं।

रात में घूमनेवाले सियार और लोमड़ी के पद-चिह्न।

बालू की छाती पर बिछे पदचिह्नों के हार! कतार की कतार।

वे चले गये हैं।

जगह-जगह अगरा के फूल खिले हैं। जगह-जगह कांटेदार अंकरान्ति की बेल लिपटी है। पानी के किनारे जगह-जगह छोटे-छोटे गाछ, बेमौसम कुजगह गेंदे की सूखी माला से पौधे उग आये हैं, तुलसी के गुच्छों से तुलसी के पौधे। पशुओं के शरीर से लगकर यहाँ तक आते 'बाघनख' के झुरमुट उगे हैं। बालू में मानो जीवन मिला है।

आदमी का संकेत है। वही परिचय भी रह गया है। बालू से पानी आकर टकरा रहा है....कोई नहीं है।

जब ख्याल आया तो देखा सामने जनाना घाट है, औरतें नहा रही हैं। पानी थिरक रहा है। यह घाट पाटेली गाँव का है। वह अचानक लजा गया। मन हुआ कि वहाँ से दौड़कर भाग आये। उन नहाती हुई औरतों पर तीर की तरह नजर फेंकी। लाज से चेहरा झुलसता जा रहा था। [illegible] ने से इधर-उधर देख अर [illegible] लेने
के लिए वह बेरास्ते चलने लगा [illegible] और गन्दा....। दूर [illegible]
पार करते हुए घूम-फिरकर जैसे [illegible]
खड़े हो इधर-उधर [illegible] पर, धूप भी है
सूरज ऊपर चढ़ चु[illegible] भी
उसे खाली-खाली-[illegible] तरह
चमकने लगी थी।

अब सिर्फ़

मन में उमंग मानो पानी की धार की तरह बालू में पड़ बालू में ही सूख गयी।

शहर पहुँचकर उसे लगा मानो वह अपना आने का उद्देश्य ही भूल गया है। खाली भीड़ देखकर आदमियों के झुण्ड में घुसकर इधर-उधर देखते-देखते वह बँध-फँस गया है; देखने को मन नहीं है, लौटने को भी रास्ता नहीं है।

और लगता है जैसे यह शहर कोई सन्दूक है, जिसपर ढक्कन है और उसी में वह घुस गया है। इतने लोगों के बीच हर एक उस नपी-तुली सड़क का राही है। उसकी बाड़ अलग-अलग लोगों के दावे और अधिकारों से गढ़ी गयी है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता अपने को अटूट रखने में जितनी व्यग्र है उतनी ही संयत और सीमाबद्ध भी।

केवल कोठे के सिरे ही नहीं, अहाते की दीवारें ही नहीं, प्रत्येक की स्वतन्त्र वृत्ति और उद्देश्य यहाँ एकजुट हुए हैं।

इर्द-गिर्द का रूप-समूह स्वतन्त्र उद्देश्य के बर्छे की नोक की तरह बींधता जा रहा है, इमारत बनाने के लिए ईंट-पत्थर, छड़-बालू ट्रक पर लादे जा रहे हैं, लोग गाड़ी पर चल रहे हैं, पैदल चल रहे हैं, दूकानों में बेचने-खरीदनेवाले हैं, दफ्तरों में कागज पर झुके लोग काम कर रहे हैं, विद्यालयों में पढ़ाई चल रही है, सब अपने-अपने मतलब में चंचल है, गतिशील है, प्राणवन्त है।

जैसे उसी का कोई उद्देश्य नहीं है। वह क्लान्त है।

गाँव आ गया। सर पर ढोनेवाले की टोकरी में लपलपाते ताजा साग और बैंगन, दुकानों में चावल, साग-भाजी की दुकान में ढेर की ढेर सब्जियाँ मुरझा गयी हैं, उनपर धूल की परत चढ़ गयी है। उन्हें ताजा करने के लिए दुकानदार पानी छिड़क रहा है। मार खा-खाकर साँड आँख टिमटिमाता मुँह बढ़ाता इस दुकान से उस दुकान को लपकता जा रहा है।

गाँव आ गया है। इतने लोग जो यहाँ हैं वे सभी उसी के गाँव के हैं। गेहूँ के खेतों की छवि, अमराई और नारियल-ताड़ के बगीचे के बगीचे, कतारों में फैले खेतों का मोह, नदी के किनारे चौड़े सपाट इलाके में फैली सब्ज क्यारियाँ, उर्वर खेतों में लहराते धान के हरित पौधे और सन के हरियाले पत्ते; सब मानो धूल-धुआँ और कोलाहलमय शहर में जीविका-अर्जन के नशे की आड़ में छिप गये हैं।

छोटी-बड़ी फैक्टरियाँ बन रही हैं। वह देख रहा है; धूप की तपिश में काम पर निकल आगे-पीछे औरतें चल रही हैं। पत्ते-से नरम सिर पर ईंट उठाकर कोई युवती चली जा रही है। खुले पैर तपती जमीन पर पड़ रहे हैं, हवा में धूल का छींटा सनसनाता आ रहा है... आँचल उड़ाती जा रही है....दाँतों में दबाये रखना भी मुश्किल है, मानो भरी दोपहर में शहर की भीड़ के बीचों-बीच नारी की लाज बेपर्द हो रही है। घर

की रानी और लक्ष्मी मजदूरनी बन निकल पड़ी हैं, अवस्था ने विवश किया है; यह कोई नयी बात नहीं। जाये जो जाने को है। वह जीने को लड़ रही है, हार नहीं गयी।

पर सामने बदलता शहर का रूप बिछा पड़ा है—इतना ध्यान उसने उस दिन रात में नहीं दिया था। चौड़ी सड़क की काली पीठ, कतारों में बिजली बत्तियों के खम्भे दूर रेत के उस पार तक पसर गये हैं। लम्बा बाजार, कितने छोटे-बड़े होटल, कितनी दुकानें, सबके सामने मधुमक्खियों की तरह आदमी हैं। दूर ऊँचाई पर पानी की टंकी धूप में चमक रही है, चौक पर नल है। सटे हुए कई घर हैं ...और भी बन रहे हैं।

पोखर के इस ओर दो मन्दिर बने हैं, छतवाली दो इमारतें बनी हैं। वह कहता है—नये शहर मानो पुराने भारत में कुकुरमुत्ते की तरह गिल रहे हैं जिसमें न आभिजात्य है, न सौन्दर्य। नौकियों, बैठने के लिए आसन, पत्थर से बना किनारा—साफ-सुथरी जगह देख एक-एक तर थामे कई भंगिमा में नाई बैठ गये हैं और लोग मुस्ताते हुए से उनकी कैंचियों के पास मानो आत्मसमर्पण किये हैं। किसीका कान पकड़कर कहीं कान के ऊपर के बाल काट रहा है तो कहीं समूचे सिर को गोद में दाब रखा है, कहीं किसी के गाल थपकाते हुए इधर-उधर घुमाकर सही जगह ला रहा है सिर को। कोई साँस रोके आकाश की ओर ऊँट की तरह ताकते हुए बैठा है और नाक को ऊपर उठाकर नाई मूँछें उड़ा रहा है चूट से, जैसे कोई कठिन ऑपरेशन में व्यस्त हो और जीवन-मृत्यु की समस्या है। कहीं मालिश चालू है, एक छोटा-सा गमछा लपेटे हुए कोई छाती के बल लेटकर अपनी पीठ सौंप दी है मालिशवाले को खेलने के लिए। वहाँ स्त्री-पुरुषों की भीड़ है, कोई पोखर की ओर जा रहा है तो कोई आ रहा है। बाल बनाने-बनवानेवाले निर्विकार भाव से बैठे हुए हैं. ..रिक्शा, बैलगाड़ी, सायकिल, कभी-कभार बालू-पत्थर से भरी ट्रकें उसी ओर से गुजर रही हैं। कोई कुछ भी क्यों न सोचे, सोचता रहे। शहर के लोग अपनी शहरी आदतों के अनुसार अपनी-अपनी सुविधा देख अपना मतलब पूरा करने में जुट पड़े हैं।

विपिन का घर आ गया। विपिन घर पर नहीं है—गश्त पर गया है। अरखितिया ने खातिरदारी की—घर पर बाबू नहीं है तो क्या हुआ। घर तो है, वह तो है सेवा करने के लिए। चले जायेंगे तो बाबू लौटने पर दुःखी होंगे। उन्हें रहना ही होगा। सारा साजो-सामान मौजूद है। अरखितिया ने रसोई का इन्तजाम किया।

राह चलते हुए आकर, देर से खाने की वजह से थकावट की गहरी नींद लग गयी थी जो अरखितिया और किसी और की बोलने और हँसी की आवाज से टूटी। उठकर वह बाहर आ गया। दूसरा व्यक्ति एक युवती थी। उसे देखकर भागता-सा जाकर अरखितिया चिल्लाता हुआ कहने लगा, "साफ करना इसे अच्छी तरह. .ऐ सुना, समझती है कि नहीं। देख, चिकनाहट न रह जाये, बाबू आयेंगे तो नाराज होंगे। बदबू आयेगी, समझी।" और युवती खुले पीठ पर पड़ी लम्बी चोटी को झटके से उछालती, देह को लहराती-लहराती सी कहने लगी, "अरे मेरे हाथ लग जाये तो सूखा-चिकटा

तक नही रहता और सब चमकने लगता है। बात ही बात मे वक्त टालते हो, सारे बरतन तो बाहर निकाल देते ! उठो....।" और वह तिरछी नजर से रवि को देखने लगी। शरारती मुसकान बिखेरती हुई झट से कन्धे पर से आँचल खीचकर पीठ ढँक ली उसने। पूछा, "बाबूजी के भाई लगते हैं क्या ?" अरखितिया ने बताया, "भाई नही, दोस्त हैं।" अकारण हँसकर रवि को देख, वह फिर काम मे लग गयी। उसके साथ-साथ 'यह कर वह कर' कहते हुए घिसटता हुआ सा अरखितिया अन्दर चला गया। और चौंकता-सा लौट आया मानो कुछ अचानक याद आयी हो। पूछा, "चाय बनाऊँ ?"

"नही।"

सुना बुहार रही थी। आवाज धीरे-धीरे पास आ रही थी। रवि कुरसी पर बैठा था, अब दिखा, दरवाज़े की उस ओर झुकी हुई सुना घर बुहारने में जुट गयी है। उसका रंग काला नही, अंगों में उमर की कसाव है। पैर साधारण पैरों से कुछ बडे है। चेहरे पर से बचपना उतरा नही है। वह एक हरी पतली साडी पहनी हुई थी, ऊपर आधी बाँह का ब्लाउज। झुककर लहराते हुए आगे बढती जा रही थी, धीरे-धीरे। हाथ में झाड़ू। दूसरी ओर अरखितिया है, साफ़ नजर आ रहा है।

रवि ने सुना की कल्पना किसी की गृहिणी के रूप मे की""वह शायद इस तरह किसी दूसरे के घर काम करने नही आती....अपना आँगन बुहारती होती।

अरखितिया कहने लगा, "आप तो हैं ही घर पर। मैं बाजार हो आऊँ। खुला घर है। खाली रहे तो चीज़ बचेगी नही।"

सुना कुछ भी बोली नही। बुहारती-बुहारती घर के एक कोने में अलसाकर बैठ गयी और रवि पर तीर-सी नजर फेंकने लगी। फिर बुहारती-बुहारती धीरे-धीरे रवि की ओर बढने लगी। उठकर रवि बाहर चला आया। बोला, "देखो, तुम्हे जाना है तो काम खतम करके किवाड़ बन्द कर जाना। मैं भी निकलता हूँ। बहुत काम है।"

रात को दिखाई पडी नहीं। अब साफ नजर आ रही है विपिन के मकान की उस ओर की छोटी-सी बस्ती""छोटी-छोटी, आपस मे सटी हुई झोपडियाँ, सब अलग-अलग ढंग से बनी है। टूटी-फूटी उन झोपड़ियो पर दरिद्रता ने अपनी मुहर लगा रखी है। पूछा उसने, "वहाँ कौन रहते है ?" अरखितिया उत्साह के साथ समझाने लगा—"पता नही जी, कही-कही से, दूर रजवाड़ों से और फिर दक्षिण से काम-धन्धा ढूँढ़ने आये लोग यहाँ झोपड़ी बनाकर बस गये हैं। मजदूरी भी तो रोज मिलती नही, काम करने के लिए भी काफी लोग है, जैसे-तैसे पेट पालते हैं। सुना का घर भी वही है।"

शाम ढल चुकी है। उस ओर का नाटक नजर आ रहा है। एक पुरुष एक स्त्री एक दूसरे पर कीचड उछालते से चीख-चीखकर झगड रहे हैं। पुरुष स्त्री को मारने को झपट रहा है और स्त्री की भंगिमा और गालियों की बौछार से फिर रुक जाता है। दोनो नाना मुद्राओं का प्रदर्शन कर रहे है। अरखितिया कहने लगा, "पहले ये आराम से थे""शान्ति थी, अब कुछ दिनो से लड़ने-झपटने लगे हैं। औरत बडी मुँहफट है।"

मुना बरतन माँज रही थी, कहने लगी, "खुद मेहनत कर कमा रही है, क्यों उसकी बात सहे ? घर से फुसलाकर उसे ले आया। लाकर परदेश में रखा, और यहाँ आकर कुत्ते की तरह सत्तर पत्तलों में मुँह गड़ाये""जूठन चाटनेवाला ! बेशरम, यहाँ मर्दानगी दिखा रहा है, लाज नही आती।" इतने में मानो मुना ने अपनी रुचि और इच्छा का वर्णन कर दिया।

अरविंदिया ने टोका, "सिर्फ उसी के सिर पर जूँ है कि चुगेगी। कौन कहाँ से आकर रह-बस गये है....यहाँ न लडाई बन्द होती है न हल्ला-गुल्ला।

मुना बोली, "मेरा बापू उन्हें अपने चौखट तक आने नही देता। माँ शीतला ने उसकी आँखें ले ली, फिर भी कोई पकड में आ जाये तो पीस डालेगा। लकडी काटकर हथेलियाँ पत्थर बन गयी है। बुराई देखी तो जान से मार डालेगा। भाई भी बहुत गुस्सा करता है, उसी के डर से हम बहनों से बात करने तक की हिम्मत नही है उनमें।"

उस ओर बस्ती की दो युवतियाँ इस ओर के बरामदे की ओर देखकर लाड़ से एक-दूसरे को धकेलने लगी है। सायकिल पर से उन्ही के सामने युवा उतरा और फिर बात शुरू कर दी है। पतला आदमी, पैण्ट और हवाइन पहने फिट-फाट नजर आ रहा है। मुना हँसती हुई बोली, "मरी आज बउल !" (सहेली के लिए प्यारा सम्बोधन)।

अरविंदिया ने पूछा, "कौन है वह।"

मुना बोली, "पता नही कौन है""हम जानते है.. बाबू है....बाबू है कि आबू है! बडी-बडी डींग हाँकता है....बडा ही फुसलानेवाला। बउल से कहता है, आ मेरी बन जा, मेरा घर बसा। बउल भी ऐसी फूल बन रही है कि पैर उठाये खडी है जाने को।"

अरविंदिया हँसा। तबतक रवि का अजनबीपन भी कुछ-कुछ छँटने लगा था। हँसकर कहा, "अच्छी बात तो है, ठीक तो कह रहा है, तेरी बउल सुख से रहेगी।"

यह सुन मानो मुना के मन के अन्दर कहीं सुलगती आग अचानक जली और वह भभक उठी। मुँह बनाकर कहने लगी, "सब सुख के साथी है, दु:ख में कोई साथ देता नही।"

मुना उठकर चली गयी। उसकी बात मानो रवि के मन में चिपक कर रह गयी। मुना ने दो आदमियों को पहचाना है, उसमें से एक जानवर है। भूख उस आदमी को रास्ता बताती है, उसमें तपिश भरती है, नचाती है और उसी से वह धर-पकड़कर खाता है। राक्षस-सा आग्रह है उसमें !

वह घूमने निकला। बस्ती के बीचो-बीच कमर तक ऊँची जालीदार दीवार से घिरा चौकन्ना पार्क है। पार्क में पानी सींचा जा रहा है। काफी कोशिश से वहाँ घास उगाया जा रहा है, करीने से। वहाँ चारों ओर लाउडस्पीकर लगाये गये है और संगीत की गूँज आ रही है। एक-दूसरे पर कीचड उछालते हुए राजनीतिक दलों की तीन चार मोटरें गुजर गयी....अपनी-अपनी योजना के बारे में बताकर नये दल बनाने की कोशिश

हो रही है। पार्क में पत्थर-सिमेण्ट से बनाये गये हस तरतीब से सजाये गये हैं, सिमेण्ट से बनी मछली के मुँह में से फुहारा निकल रहा है और सिमेण्ट से बने कमल पर गिर रहा है। उसी पार्क के अन्दर खड़े-खड़े सूर्यास्त के आकाश को देखकर रवि ने उस ओर की दो मंजिली इमारतवाले होटल की कल्पना की। उसके नीचे एक मनोहारी दुकान है, जूतों की दुकान और प्रेस है। उसे लगा मानो शहर सिर्फ आदमी की मानसिक अवस्था के अनुरूप एक पृष्ठभूमि है।

अपने मन की अस्थिर अवस्था में वह कल्पित मनुष्य को रूपायित करने लगा—जैसे कि वह भाड़े की गाड़ी पर, भाड़े के पैरों से चढ़ हिलते-डुलते उतर गया, पान की दूकान से पान लेकर, गिलोरी भर पीक थूकता गया मानो कर्तव्य पूरा कर रहा है। सड़क के किनारे की दुकान में बैठकर ढक-ढक कर चाय पी, सिगरेट सुलगाया, जलती आँखों से पीली दीवार पर चिपकी नारी की तसवीर और घड़ी देखकर उठ खड़ा हुआ—चला गया उस होटल की बाम्बियों की तरह सीढ़ियों की ओर।

उसने कल्पना की कि वह बहकते कदमों से ऊपर चढ़ा होगा, अपने छोटे से कमरे के दरवाजे पर झूलता ताला खोल अन्दर चुपचाप दाखिल हुआ होगा। और फिर से अन्दर से कमरा बन्द किया होगा''''और खटमलों से भरपूर बिछौने पर थकान से चूर लेट गया होगा।''''फिर सब खोलकर रख दिये होंगे....दाँत जो नकली हैं, आँख जो काँच की बनी''''नकली''''सर के बाल''''वह भी''''पर कितना सुन्दर है! नीचे गंजा सिर है।''''बिछौने की सलवटों को ठीक कर तकिये के सहारे लेट गया होगा। फिर गया, एक पैर, जाँघ तक, वह भी नकली है। उसके पंजर की हड्डियाँ—वे भी नकली हैं। लोहे की बनी। उसके मन में अमिट क्रूरता के साथ-साथ अकूत उत्तेजना है। उसी की याद आयी होगी उसे, क्योंकि उसी को याद कर वह अपनी असहाय देह में ऊष्मा भरता है और अतीत की कई विफलताओं की अभिज्ञता को उलट-पलटकर वह उसे संगीत की तरह गुनगुनाता है।

''''रवि को लगा, वहाँ वह कल्पित आदमी नहीं है,...., वह स्वयं है, निष्प्रभ सूर्य के साथ घुल-मिल गया है।

वह फिर लौट आया। चेतना की स्थिति लौट आयी। सामने छवि है, उसकी पीठ पीछे गाँव है, परम्परा है। आँखों में, होंठों में स्थिर शीतल शान्ति की द्योतना है, ध्यान में निर्द्वन्द्व आनन्द है। साँझ ढलती आयी, बिजली बत्ती की मालाएँ चमकने लगीं। उसे उस मुँह की याद आयी; और छत के नीचे अन्धेरे को, जिस ओर से होकर चमगादड़ उड़ जाते हैं और अँधेरे में शामिल हो जाते हैं, रूप और गति की झलक दिखाकर। उसके पास मानो गाँव की खुशबू तिर आयी; तुलसी का बिरवा, बिरवे की सीढ़ी पर जलती ज्योति, दीये की....फिर वही मुँह, नाना भंगिमा में। मानो उसके अन्दर तक स्रोत बह गया है''''वहाँ उसकी गगरी गीत के साथ-साथ भरती जा रही है। अवसाद मिट गया और वह चलने लगा।

सोचते-सोचते सुख की अनुभूतियों की ऊष्मा से देह भरती जा रही है, बढ़-बढ़कर वह धीरे-धीरे उद्दीपना बनती जा रही है। उसके साथ आ रहा है आत्मविश्वास, जीवन और स्वप्न में विश्वास। अनुभव हो रहा है कि वह युवा है, उसमें सामर्थ्य है, और उसके सामने असीम परिसर है। उत्साह की गति तेज हो रही है, कल्पना में पंख लग रहे हैं। उसकी स्वप्न-भोगी आँखों के सामने शहर ने फिर अपना रूप बदल लिया। उसने अनुभव करके देखा कि वह शहर नहीं है, गाँव नहीं है, आदमी है।

होटल के उस दुमंजिले कमरे के उस कल्पित आदमी को उसने फिर से देखा। अँधेरे को चीरती बिजली की रोशनी की पृष्ठभूमि पर, इतनी तरह के स्वरों से, दर्पित चीत्कार से भरी पृष्ठभूमि पर मानो उसने घास भरे ऊसर पर नाप-जोख कर, मन के मुताबिक सजाकर मकानों को कतारों में रख दिया है। ऊपर वेश में आकाश है, मेघ, बिजली, शीत, तूफान और झंझा लिये; और अपनी शक्ति से उसने निरापद रह दुर्ग गढ़ा है। पृथ्वी की अन्दरूनी तपिश शीतल हो जाये, फिर भी उसमें गरमाहट वैसी ही है। प्रकृति और परिस्थिति के अनादर और शत्रुता में अपने आप को प्रतिष्ठित कर आगे बढ़ जाने का दावा वह नहीं करता। देह कटकर तार-तार क्यों न हो जाये, वह दर्प के साथ छाती दिखाकर भयानक लहरों का मुकाबला कर रहा है।

घास पर धूल क्यों न भर जाये, उसने घास उगाये हैं। शहर नहीं, गाँव नहीं, इमारत नहीं या झोपड़ी नहीं, उसके अपने अन्दर ही उसकी कला है।

थोड़ी देर इधर-उधर घूमकर वह विपिन के मकान की ओर लौटने लगा। कितने अपरिचित घर बनाये जा चुके हैं, मोहल्ले बस गये हैं, जिन्हें वह जानता तक नहीं। कई जगह बने मकान, सड़क और गलियों की पहचान तक मिट गयी है, जिनके सहारे वह राह चलता था।

दल के दल लोग काम करके घर लौट रहे हैं। कितने देशों की भाषाएँ एक हो गयी हैं। बारम्बार कइयों के मुँह से वही एक ही शब्द निकल रहे हैं....भिन्न-भिन्न भाषा में""रुपया-पैसा, डाबू""टंका ""।

भीड़ से हटकर वह सूनी गली में चलने लगा। कैसे इतने कम समय में शहर लुप्त हो गया है—अँधेरे आकाश के नीचे। एक ओर धनुष की तरह मुड़कर कई परतों में शहर में रोशनी दीवाली की तरह सजी है""उसपर आकाश की ओर धीमी-सी आँच मानो उठ गयी है। चलते नक्षत्रों की तरह बीच-बीच में नीचे मोटरों की रोशनी दिखाई पड़ जाती है""मानो उड़ती जा रही है। सायकिल और रिक्सों की रोशनियाँ जुगनुओं की तरह लग रही हैं। और उस अँधेरे में तैरते जुगनुओं में से आवाज़ आ रही है""'बाबू! रिक्सा!" न, उसे रिक्से की जरूरत नहीं है। जुगनू उड़ गया। फिर वही सूनी सड़क। रास्ते के पेड़ अन्धकार में मूर्तियों की तरह खड़े हैं। इधर-उधर बस्ती में रोशनी जल रही है। फिर अँधेरा। हवा आयी, उसकी चाल ने गति पकड़ी। अँधेरे में फैले पेड़ हिल उठे। सारे पत्ते एक ही फिसफिसाते स्वर में कहने लगे, मानो

अँधेरे में एक साथ बैठी गाँव की औरतें बातें कर रही हैं। अपने आप कान तन गये.... आवाज आ टकरायी''''मृदंग''''झाँझ की आवाज। कहीं संकीर्तन हो रहा है।

हर गाँव पर उसी का स्पर्श है। उसके घर के बरामदे से भी यही तारा दिखता होगा। माँ बैठी बातें करती होगी। पिताजी माला फेरते होंगे।

और पाटेली गाँव की वह लड़की। मानो वह एक स्वतन्त्र सृष्टि है। गहरी साँस लेकर वह अपने मन की गहराई से तोतली भाषा में उसका वर्णन करने लगा। पत्तों की मरमराहट मानो उसे संकेत दे रही थी। उसमें प्रतीक्षा की चमक की लहर दौड़ गयी। अँधेरे से घिरा, सुनसान रास्ते में चलते हुए मानो वह दूर जलती लालटेन को देख रहा है।''''शायद यह मोड़ पार करने पर वह साफ दिखेगी, नहीं तो अगले मोड़ पर। अपने जीवन को उसी के साथ मिलाकर अपनी कल्पित भावना में रवि चलने लगा।

रवि अपने भविष्यत् को मन ही मन आँकते हुए लौट रहा था। जीवन को उपभोग करने के लिए बहुत सारे तरीके अँधेरे में टिमटिमाते-से दिख रहे हैं। पता नहीं कितनी बार जन्म लेकर, तमाशे कर, फिर मुक्त हो कितने नये पथ अपनाये होंगे, अपने को प्रकाशित कर गये होंगे, न रख गये हैं, न लेकर कुछ गये हैं।

रात, लगभग नौ बजे, विपिन के मकान के बरामदे में लालटेन धीमा कर अरखितिया उसी की प्रतीक्षा कर रहा था। चौंककर उठ बैठा। खाना पका चुका है, इसलिए हँसमुख नजर आ रहा है। चारों ओर सन्नाटा है। दूर कहीं मशीन चलने की आवाज आ रही है। अरखितिया रवि के पास बैठा उसे अपने आदमी की तरह खिला रहा है। कई बातें बता रहा है। गाँव, उसका घर, माँ-बाप, गाँव का नाटक-दल। वहाँ वह राधा बनता था, रानी बनता था। वह नहीं हो तो नाटक जमता ही नहीं था। गाँववालों ने कितना कहा उससे कि अरखितिया, तू मत जा, तू जायेगा तो इस गाँव का संगीत-अखाड़ा ही नहीं रहेगा। उसने रवि को साक्षी मानते हुए कहा, संगीत अखाड़ा तो उसे पालता-पोसता नहीं। लोहार-बढ़ई तक को गाँव में काम नहीं मिल रहा है और वे इधर-उधर भटक रहे हैं। मजदूरी न करें तो कहाँ से खायें! फिर आजकल का जमाना जैसा है उससे मजबूरन उसे सब छोड़-छाड़कर आना पड़ा है। विपिन कहता है कि उसे चपरासी की नौकरी दिला देगा। इसलिए यह पड़ा है। बाबू भले आदमी हैं।

खिला-पिलाकर हँसते हुए अरखितिया ने अनुमति माँगी, एक जगह 'गोटिपुअ' नाच हो रहा है, दो घण्टे के लिए जाकर देख आयेगा।

अरखितिया चला गया। अब कोई कहीं नहीं है—चारों ओर सुनसान। सुनसान घर में वहीं अकेला है। आकाश में अँधेरा है, बादल घिर आये हैं। हवा बह रही है। थोड़ी ही दूर की इस उजड़ी-सी बस्ती की ओर उसने दृष्टि की। टिमटिमाती-सी वही कोई लालटेन जल रही है।....

तेज कदम वह चला जा रहा है। घर लौटते मन और कदम दोनों मे तेजी है। विपत्ति पीछा करती आ रही है। हाथ की पहुँच में आश्रय की जगह है,...वह जीना चाहता है। पहले जीवन।

उसने सँभलने के पहले दौड़ना शुरू कर दिया। पिछवाड़े की बाड़ी, टूटी भीत और खुला आँगन पार कर वह आँगन के बीचों-बीच खड़ा हो गया है। उचित-अनुचित सोचने के पहले ही उसके मुँह से चीख-सी निकली, एक नहीं तीन बार—"कोई है ?"

कुत्ते ने भौंका। सामने मकान का दरवाजा खुला। एक हाथ में किताब और दूसरे हाथ में लालटेन लिये बरामदे में आकर सिन्धु चौधुरी खड़े हो गये और अँधेरे की ओर मुँह कर पुकार लगायी—"कौन है वहाँ ?"

अब उसके पैर मानो लाज से अवश हो गये। इच्छा हुई कि उस बारिश और अँधेरे में खो जाये। वह चुपचाप उसी जगह खूँटे की तरह खड़ा रहा। सिन्धु चौधुरी धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे थे। बोले,—"अरे वहाँ बारिश में भीग क्यों रहे हो, ऊपर आ जाओ।"

यूप की लिये जाने की तरह उनकी दृष्टि से खिंचता हुआ-सा रवि बरामदे पर चढ़ गया। देह सर्दी से काँप रही थी। इसके पहले देखा नहीं था। अनुमान लगाया—सिन्धु चौधुरी हैं।

बोल रहे थे—"अरे पूरा भीग गये। यह जो बे मौसम की वर्षा है, आ जाये तो हालत बिगाड़ देती है।"

बरामदे के किनारे खड़े रहकर रवि कपड़ों से पानी निचोड़ रहा था। निगाह की, अधखुले किवाड़ की फाँक से छवि की माँ दिखाई पड़ रही है। उनके कन्धे से सटकर एक और मूर्ति खड़ी है, झाँकने की कोशिश कर रही है। वह है छवि।

रवि शर्म से झुका जा रहा था। छवि की माँ सामने आ गयी। पूछने लगी, "तुम कौन हो बेटा ?" तबतक सिन्धु चौधुरी उसकी ओर अँगोछी बढ़ाकर कह रहे थे,...."पानी पोंछ लो !" तभी छवि की माँ उसे पहचान चौंककर रह गयी।

"तुम हो !" बस, यही स्वर निकला मुँह से।

उस एक बात से कई बातें हो गयी। उन्होने घूँघट खींच लिया।

बाहर मानो इन्द्रजाल से वर्षा और अन्धकार घिरे हुए थे। भीतर उसका मन, बाहर के साथ मानो परामर्श कर, ठीक वर्षा और अँधेरे के समय आकर पाटेली गाँव पहुँचेगा—यही सोचता हुआ सा, रास्ते की ओर देखे बिना वह चला आ रहा था। मुँह पर हलके से पानी की धार पड़ रही थी बायी ओर खुली नदी, दायी ओर की टिमटिमाती रोशनी और खेतों को देखे बगैर अगर वह चला होता तो कब का पाटेली गाँव पार कर

गया होता। गुरुवार, बारवेला, यात्रा में सामने योगिनी रहती है।

ऐसा नही कि उसने यह सब सोचा न था। दर्रों में बैठी गौरैया धूल में नहा रही थी....पेड़ पर मैने के घोंसले में हो-हल्ला मची थी....शाम को नहाकर आये भैंसे की देह में गरमाहट भरी हुई होती हाथ लगाया होता तो वह भी पता लग जाता। ये सब वर्षा के लक्षण हैं।

फिर भी वह आ गया था।

तेज तूफान में बार-बार थप्पड़ मारने की तरह जब वर्षा हुई और अँधेरे में चारों दिशाएँ छिप गयीं, तब वह नदी के किनारे-किनारे फिसलन पर, अकेला चल रहा था। सामने वह घर है....पर मानो उसके लिए वहाँ तक चलना सम्भव नही होगा।

हवा और तेज बारिश मानो उसे धकेलकर नीचे गिरा रही थी। नहीं सँभल पाया तो हाथ-पैर टूटेंगे। मानो अँधेरे की परत पर परत चढ़ रही थी। बीच-बीच में बिजली चमक रही है और चड़चड़ाकर बादल गरज रहे हैं....उसे अब गिरा, तब गिरा-सा लग रहा है। ऐसे मौसम में पेड़ उखड़ जाते हैं, इसलिए पेड़ के नीचे रहना निरापद नहीं, रवि ने सोचा। सिन्धु चौधुरी के घर के पास खड़े रहकर मानो जीवन के प्रति उसकी माया बढ़ गयी जिससे विपत्ति का बोध उसे और अधिक हुआ। उसने अपने आपको समझाया, ऐसे मौसम का कोई ठिकाना नही है, इसलिए अपने को खतरे से दूर रखना ही ठीक होगा।

बिजली चमकी। मानो कुटिल हँसी में वह उस तूफान और अन्धकार की भयानक घड़ी में अपना चरित्र और अभिप्राय प्रकाशित कर रही थी। वह निर्मम है.... कोई उपरोध नहीं है उसपर। वह जगह नहीं देखी। गरजती हवा के झोंको से मन के अन्दर वहशियत की आदिम आकांक्षा चीखने लगी, वह काठ-मारा-सा खड़ा रहा....सिन्धु चौधुरी भी भौंचक्के से उसे देख रहे थे। रवि कपड़ों से पानी निचोड़ता जा रहा था.... क्या सब हो रहा है, होता जा रहा है वह सब जानने-समझने के लिए उसमें चेतना नहीं थी। छवि की माँ धीरे-धीरे घर के अन्दर चली गयी। बोली—"चल अन्दर, यहाँ खड़ी-खड़ी क्या कर रही है ?"

तब रवि कैफियत देने लगा। गरमाहट से भरी बोझिल थी उसकी भाषा। अपनी अवस्था को सहज बनाते हुए सहानुभूति भरे स्वर में सर हिला-हिला सिन्धु चौधुरी बोलने लगे, ऐसा कई बार हो जाता है। बहुत अच्छा किया कि यहाँ चले आये। घर के पास रहते हुए क्यों कोई आफत मोल लें, अकारण !" फिर बोले....अरे किधर चली गयी, धोती और चादर तो दे जाती कि ये बदल लेते ? सर्दी से काँप रहे हैं। सिगड़ी में आग भेज देती, ये थोड़ा हाथ-पाँव सेंक लें !"

किवाड़ की ओट में से एक हाथ बाहर निकल आया। छवि की माँ धोती और चादर बढ़ा रही थी। अचानक बारिश थम गयी। रवि कहने लगा, "अब बारिश तो थम गयी....मैं चलता हूँ।"

"पागल हो गये क्या ? ऐसी रात में कोई बाहर पैर भी धरता है ? आओ, अन्दर आ जाओ । ये कपड़े सुबह तक सूख जायेंगे । लो देखो, फिर दुगुने जोर से बरसने लगा ।...आओ, आ जाओ अन्दर ।"

वे आगे-आगे अन्दर चले गये । कमरे के अन्दर से फिर पुकारा—"आओ अन्दर !"

पानी फिर थमने लगा । रवि परिस्थिति के साथ अपने को मिला कर थोड़ा सहज बन गया था । बाहर अँधेरा था, पानी था कि थमने का नाम नहीं लेता था । घर के सामने की जगह पर लालटेन की रोशनी फैल गयी थी । अँधेरे के बीच तैरते जीवन की तरह रोशनी का एक छोटा-सा टापू ! एक जगह गुँथा हुआ एक छोटा-सा संसार, उसमें वह भी एक है । वह खड़ा रहा । अनुभव किया, झूमती वर्षा में मानो कहीं घनीभूत क्रन्दन की ध्वनि सुनाई पड़ रही है... मन की सारी इच्छाएँ बरस रही हैं । उसी घर के अन्दर से सिन्धु चौधरी स्नेह से बुला रहे हैं—आओ, अन्दर आ जाओ । घर की छत, उसके नीचे का स्नेह भरा आतिथ्य-द्वार उसके लिए मानो उदार मानविकता के संकेत के रूप में खुला हुआ है ।

चुपचाप लालटेन जल रही है । सिन्धु चौधरी पालथी मारे बैठे भागवत पोथी पर झुक गये हैं । आँखें झुकी हुई हैं । चेहरे पर के निविष्ट भाव ठहरे हुए-से हैं । लालटेन की रोशनी उस चेहरे पर बिछी पड़ी है, जैसे चाँदनी दूर खेतों पर सपाट जमीन पर बिछी रहती है । रवि ने देखा, स्तब्ध शान्त भंगिमा में रहस्य का हृदय मिल गया है, और उस विस्मय को भेदना आसान नहीं है । बाहर अँधेरा और पानी ढुलक रहे हैं । दूसरे कमरे में जो कुछ कार्य चल रहा है उसका अनुभव वह कर पा रहा है । पर इस घर के अन्दर पोथी के पास निश्चल हो ध्यानमग्न बैठा, जिसे देखने के लिए, जिस पर सोचने के लिए, सिर्फ वही है ।

भागवत पढ़ते समय चेहरे पर झलकते भाव यही कह रहे हैं कि किसी नीति या सूत्र से बँधे रहने को मन नहीं । मानो उस एक ही पृष्ठ में वह सम्पूर्ण सृष्टि को देख रहा है, बाहर से चित्तवृत्ति को समेट कर उसने अपने आपको उसी में सीमित कर लिया है, जैसे इसके अलावा उसमें और कोई इच्छा ही नहीं है या उसकी और कोई आवश्यकता ही नहीं ।

रवि को इस बारिश और अँधेरे के कारण आज इस घर में आश्रय मिला है । पास बैठे दूसरे लोग उससे दूर हैं । उसका दायित्व है कि वह अपने मन को किसी में भी लगा ले । सब एक से हैं, इसमें उसको सहायता करने को कोई भी आगे नहीं बढ़ आयेगा । उसने स्थिति के स्वरूप को समझने की कोशिश की । सिन्धु चौधुरी की

अनासक्त अवस्था से उसे सोचने का साहस मिला, कम से कम सीधे विवृत होने को तो कुछ भी नहीं है, सब ओर चुप्पी है।

फिर भी वर्षा के झमाझम शब्द की पृष्ठभूमि में वह सोचने लगा—उसी को तो आधार बनाकर लोगों ने इस घर पर कीचड़ उछाला है! कम से कम उस झूठ को झूठ साबित करने के लिए उसे यहाँ आना नहीं चाहिए था। पर परिस्थिति ऐसी हुई कि वह आ गया है—इतनी सारी बातें उठ खड़ी हो गयी हैं, फिर भी।

फिर क्या कोई झमेला खड़ा कर बैठेगा वह? उसके बारे में क्या कुछ सोचते होंगे वे लोग? कम से कम वह—वह क्या सोचती होगी? कहाँ होगी वह?

इधर वही ध्यानस्थ भाव से पोथी की पढ़ाई चल रही है। कान लगा कर उसने दूसरी ओर की आवाज़ सुनने की कोशिश की। मन ही मन कई रूपों का चित्रण किया। उन रूपों के साथ एक खास भंगिमा को संयोजित किया उसने। कान लगाया, कोई आवाज़ आ नहीं रही थी। अकेले बैठे-बैठे उसे बन्धन-सा लगने लगा। सोचा, सिन्धु चौधुरी के चेहरे पर जो उदास भंगिमा है, कौन कह सकता है, वे उसी की ओट में उसी के बारे में नहीं सोच रहे हों, और उसे अपने हिसाब से अबतक तोल न लिया हो। वे सोचते होंगे, यही है वह, इसी के कारण इतने अपवाद, निन्दा, और क्षति हुई है.... कौन कह सकता है....?

उसने मुड़कर देखा। पोथी पर आँखें गड़ाये सिन्धु चौधुरी मुसकरा रहे थे।

छाती पर छुरी भोंकने की तरह लगी वह हँसी। हँस रहे हैं? क्यों? यह क्या उसके प्रति विद्रूप नहीं है? मानो उसमें दम्भ नहीं है, साहस नहीं, वह सिर्फ एक कंगाल भिखारी है, झंझा, तूफान, बरसती रात में थाल पसारे वह आसरा ढूँढता यहाँ आ गया है।

सिन्धु चौधुरी हँस रहे हैं। नहीं, वह हँसी वैसे ही आयी थी—अब नहीं है। अभी-अभी पोथी का पृष्ठ पलटा है। उसकी ओर उनकी दृष्टि ही नहीं है।

फिर उसने वर्षा की आवाज़ सुनने में मन लगाया। घनघोर वर्षा नहीं, झिमझिमाती हलकी बारिश। लगातार चार घण्टे बरसने के कारण चारों ओर भीग गया है। हर जगह कँदैली बन गयी है। सर्दीली हवा बह रही है, भीगी-भीगी-सी लग रही है। रह-रह कर भीगी जीभ से चाटने की तरह लग रही है सनसनाती हवा। गहन पेड़ों पर जुगनुओं की मालाएँ लटक रही हैं। बारिश की विशिष्ट हलकी महक आ रही है, भीगी मिट्टी की, भीगे पुआल की सोंधी गन्ध। बेमौसम नहीं लगता, बल्कि वर्षा ऋतु की कोई बरसती रात है जैसे, और लगातार आसमान बरसता रहा है। समवेत संगीत की तरह लग रही है मौसम की खास आवाज जो दूर-दूर से तैरती आ रही है। मेंढक, झींगुर, और कितने कीड़ों की चें चें की आवाज़। इसी मिट्टी पर पड़े थे इन्तजार में, मुँह गड़ाये, बेशुमार प्राणी। वर्षा आकर आज अपना आत्मपरिचय दे गयी है। बरामदे पर से जो मेंढक आवाज़ लगा रहा है, किसने उसे इसके पहले जाना

था ? दोनों ओर से खूँटे में से दो झींगुर सीटी बजा रहे हैं ।

सिन्धु चौधुरी ने पोथी बन्द की । खोचकर उसे डोर से बाँधा, तीन जगह, फिर चौकोर, और उसके बाद परत-परत से पोथी पर डोरी लपेट दी । रवि की आँखों में कुतूहल देख सिन्धु चौधुरी हँसते हुए कहने लगे, "आजकल हर जगह छपी हुई पुस्तकें मिल रही हैं । अतः ताड़-पोथियों के प्रति आदर कम होने लगा है । पर एक ताड़-पोथी जितने दिन घर में रहेगी, किताब उसके पाव दिन भी टिकेगी नहीं । इस पोथी को देख रहे हो, यह इस घर में डेढ़ सौ साल से है । यह तालपत्र पर उतारी गयी थी ।

रवि ने पोथी को हाथ में लेकर उलट-पलटकर देखा । देखा, चारों ओर से उसे अच्छी तरह से बन्द किया गया है । सिन्धु चौधुरी ने उसे समझाते हुए कहा, "पोथी का बन्धन निरंध्र न हो तो कोड़े चाट जायेंगे ।" फिर हँसकर बोले, "यही हमारी शिक्षा है, पुराने ज़माने की । आदमी कहो, समाज कहो, जो भी कहो, अगर निछिद्र न हो तो ज्यादा टिकेगा नहीं ।"

पोथी पर लगे काठ की जिल्द पर २७ अंक खुदा हुआ था । सिन्धु चौधरी ने बताया, "पुराने ज़माने से उनके घर में हजार की संख्या में पोथियाँ थीं । उनके साथ ताडपत्र पर लिखित एक सूचीपत्र था । सूचीपत्र में लिखित संख्या पोथी पर भी लिखी गयी थी, जिससे पुस्तकें आसानी से ढूँढी जा सकती थीं । धीरे-धीरे वे सब भी गयीं, एक-आध जो बच गयी हैं, ये हैं ।" इसके बाद उन्होंने उस पुस्तक की विशेषता बतायी—"छपी हुई किताब के साथ मिलाकर पढ़ने से इस पोथी में जगह-जगह मेल नहीं खाता ।"

पोथी रखकर सिन्धु चौधरी ने किवाड़ के पास जाकर आवाज़ लगायी—"थाली लगाना, देर हो रही है ।" रवि को उन्होंने मुँह-हाथ धोने के लिए बाहर बुला लिया । रवि ने खाने से इनकार किया । घर के अन्दर से घी से तली गयी पूड़ी की खुशबू आ रही थी । रवि कहने लगा, "भूख नहीं है जी, मैं खा-पीकर चला था ।" सिन्धु चौधुरी हँसते हुए कहने लगे, "ठीक है, ठीक है, आओ । जवान लड़के हो—क्या भूख नहीं है । हाथ-मुँह धो लो, खाना ठंडा हो रहा है ।"

छवि की माँ परोस रही थी । चुप-चाप । चेहरा मानो भावहीन था, मुखौटा पहनने की तरह । वे मानो रवि की आँखों में आँखें न डालने की चेष्टा कर रही थीं । जैसे अपने चेहरे को मानो जानबूझकर असहज और भावहीन बनाया गया था, ऐसा लग रहा था । कभी-कभार होंठ काँप जाते, बीच-बीच में उनके पैर डगमगा जाते । कभी-कभी तेज चाल से मन की क्षिप्र भावना भी छिपी नहीं रहती थी । सब मिलाकर मानो एक नीरव निवेदन था....रवि ने गहरी साँस ली ।

पास सिन्धु चौधरी बैठे थे । रवि ने देखा, वहाँ शान्त, आलस्य, स्थिर भंगिमा है, जिसमें कोई और अर्थ नहीं है, असहज कुछ नहीं है । छवि की माँ ने अन्दर जाकर

देर लगायी। भोजन समाप्त होने को था कि किवाड़ के पास अनजाने ही छवि आ गयी और दाँतों तले जीभ दबाकर रह गयी। फिर जल्दी से अन्दर चली गयी। सिन्धु चौधरी ने छवि को देखा या नहीं पता नहीं, पर रवि ने उसे देखा था। कुछ देर के बाद सहज, स्वाभाविक स्वर में सिन्धु चौधरी ने बुलाया...."छवि !" "माँ से कहना, ज़रा तरकारी दे जाये।"

"जी।"

साफ़ और मीठी है उसकी आवाज़....जो अँधेरे में से आयी थी! उसी के सहारे बिछौने में पड़े-पड़े रवि उस दिन अँधेरे में अनेक रूपों को चित्रित करता रहा, मन ही मन। कहीं खट से आवाज़ आयी कि वह उस ओर मुड़ जाता, मानो उस शब्द को पकड़ लिया हो। नींद कहीं भाग गयी है। अन्धकार को देख-देख उसकी आँखें अँधेरे को इस क़दर पहचान गयी थीं कि वह धीरे-धीरे उस अँधेरे कमरे की कई चीज़ों को देखने-पहचानने लगा। और उसने अन्दाज़ किया—वह है अहाता-घर, ऊपर एक ही छत, सामने बरामदा, और आँगन। उसमें एक कमरे में वह है, और किसी दूसरे कमरे में छवि सोयी होगी। छवि, उसके माता-पिता और वह, सब एक ही कमरे में है। मानो यह उसके जीवन का एक नया रूप है, जिसे उसने सहज भाव से अपना लिया है। मानो यह पहले भी था, और अब भी है। फिर निःसन्देह यह विचार आ रहा है कि जिस तरह वह था उसी तरह रहेगा। असहज और बेजोड़ कुछ भी नहीं है,—सब प्रत्याशित है।

सब कुछ को सहज-सहज सोचते हुए रात ही उसके लिए असहज बनकर कटने लगी। उसे रात भर नींद ही नहीं आयी। देह में बारबार ऊष्माहट और मन में चंचलता। कान तेज़ और आँखों पर तपिश, छाती धड़कती रही। बाहर बरसती रात, हलकी-हलकी एकरस आवाज़ों के बीच उसे कई प्रकार के मोहक संगीत के स्वर सुनाई पड़ने लगे,...कितनी गोपन, निभृत, मीठी भाषा उसके अन्दर गूँजने लगी। उसे लगा मानो साधारण अवस्थिति के साथ-साथ साधारण अनुभूति को ग्रहण कर लेने के बदले उसका व्यक्तित्व किसी और असाधारण माध्यम में तैरने लगा है। नयी सूचनाओं के द्वारा उसका सारा अस्तित्व और किसी अनकही भाषा का अर्थ उसके सामने आ रहा है और वह अपनी स्नायुओं के ज़रिये साँप की तरह सब सुन रहा है, कान से नहीं। अन्धकार और वर्षा की संकेतमय भाषा—इन दोनों ने मिलकर मानो उसकी पहचान उसके निभृत उपादानों के साथ करायी है।

उसने मन ही मन इस परिवार को अपना समझ अपने से सम्पृक्त कर लिया।

मानो पूर्व जन्म की बातें इस जन्म में अचानक याद आ गयी हैं और उसी याद में खोया हुआ था कि पता नहीं कब उसे नींद आ गयी।

अँधेरा रहते पता नहीं कब सिन्धु चौधुरी उसके पास आये थे। उसके बगल में खड़े-खड़े देर तक उसे देखते रहे थे। उसे अच्छी तरह चादर ओढ़ायी थी और पंखा कर

मच्छरों को भगाया था....यह रवि उसे मालूम नहीं था।

उसके बाद जब वे आये तब पौ फटने लगी थी; आकाश रँगने लगा था। रवि की नींद हलकी होने लगी थी। लगा, मानो कोई कमरे के अन्दर चहल-कदमी कर रहा है। आँखें मलते-मलते उसने भोर का पहला स्वर सुना। मच्छर फिर भी गुनगुना रहे थे। कभी बढ़ती, कभी घटती रहती भिनभिनाहट। सुना कलिंग का स्वर... दूर से भली लग रही थी उसकी स्वरलहरी ! गाय-गोरू रँभाते जा रहे थे, ढेंकी की आवाज आ रही थी, जिसमें एक अटूट छन्द था। सुबह की चेतना के साथ बासी गुहाल की बू, मूत की कड़वी गन्ध, छान तले की पेशाब की बदबू। उसे पेशाब लगी, इस साधारण दैहिक आवश्यकता के साथ-साथ मानो उसमें वर्तमान की चेतना भी लौट आयी, वह सोचने लगा, अब अगर विदा हो जाये तो कोई उसे देखेगा नहीं। उसकी नींद से जागी आँखों ने रंगीन भोर को प्रणाम किया।

उसके बाद उसने सरसराहट सुनी और मुड़कर देखा—सिन्धु चौधुरी खड़े थे। उदार सहानुभूति में भीगी-भीगी सी आँखें। होंठों पर हँसी नहीं है, फिर भी चेहरा मुसकराता-सा लग रहा है। सुबह-सुबह उठकर पहले उन्हीं के चेहरे को देख उसे लगने लगा मानो मध्ययुगीन विस्मृत चित्रों में से किसी एक को वह देख रहा है। चाँदनी और भोर का प्रकाश एक साथ मिल गये हैं। वही तो उसने स्वप्न में भी देखा था—हलके वर्ण की आभा है, जो धीरे-धीरे दिन के उजाले में विलीन होती जा रही है।

उसने बिछौने से हड़बड़ी में उठकर उन्हें प्रणाम किया। तब उसकी चेतना से अचानक वह भावनाएँ दूर चली गयीं.. .वह रूप जिसे उसने देखा था ...आधे-अधूरे रूपों की समष्टि... उसकी भावना की किल्लोल मानो छल-छल झरना का गुंजन है.. .पक्षी की काकली है, आदमी की भाषा है, जानवर का रव है जो धीरे-धीरे सरकता दूर होता जा रहा है मानो समवेत वाद्य की गूँज हो, जो पीछे हटती जा रही है, दबी जा रही है.... और जैसे उसी को कोई आकाश से लाकर नीचे रख हटता जा रहा है। उसने अचानक चौंककर रोज की दुनिया को सामने साफ देखा।

सिन्धु चौधुरी हँस रहे हैं। नहा-धोकर तैयार हो गये हैं। केश चमक रहे हैं। कन्धे पर गमछा। बोले, "इतनी सुबह उठ गये ! कल तो मच्छरों के कारण तुम्हें देर से नींद आयी थी !"

"जी, मैं रोज जल्दी ही उठता हूँ।"

"....नदी की ओर चलोगे या घर ही पर निपट लोगे।"

"जी, मैं घर जाऊँगा।"

"ऐसी भी क्या जल्दी है ! मुँह-हाथ तक नहीं धोया।" नहाये भी नहीं। नाश्ता तो करके जाओगे। उठते ही घर की याद आ गयी !"

सिर झुका लजाते हुए रवि ने कहा, "कल रात भर घरवाले परेशान हुए होंगे। मुझे कल शाम तक घर पहुँचना था।"

सिन्धु चौधुरी बस हँस दिये। उन्होंने उसे न ही रोका, न चलने के लिए ही कहा।

रवि ने उन्हें प्रणाम कर जब कहा, "जी मैं चलता हूँ" तो वे बोले,...."मुँह हाथ-धोये बिना चले जाओगे।"

हड़बडी दिखाते हुए रवि ने कहा,—"रुकूँगा तो देर हो जायेगी और बाहर निकल न पड़ूँ तो आलस जायेगा नहो।" उसने फिर नमस्कार किया। बोला, "चलूँ?"

पीछे, बरामदे के उस ओर छवि की माँ खडी थी। उसने उन्हें भी दूर से प्रणाम किया। अचानक नजर पडी....सामने चौखट पर कोमल हथेली ..कुछ आगे बढ़कर मानो चिपक गयी है और थोडा ऊपर किवाड़ से चेहरे का एक भाग तिरछा हो कुछ बाहर आ गया है, एक आँख दिखती है और अब वह भी नही।

रवि निकल पड़ा....इच्छा हो रही थी कि मुड़कर देखे. ..पर देख नही सका।

यन्धमूल वाले बट महान्ती के घर पर उसी दिन बात छिडी। मस्त दोपहर, रवि खाने बैठा था। माँ और पिता दोनों थे, उसने बताया, कल रात कैसे रास्ते मे रुक जाना पड़ा। पिता ने गम्भीरता से हुँकार भरी—"रवि।"

"जी!" थाली पर से मुँह उठाकर उनसे नजरें मिलाने की चेष्टा की। उनकी आँखें जल रही हैं, धूप की तरह उसके चेहरे को भेद रही हैं। वह झुलसाती दृष्टि! नाम लेकर पुकारते समय स्वर में झटका और तोड। मानो इतने में ही उन्होंने बहुत कुछ कह दिया, जिसके लिए भाषा नही है। उसने तो बतायी थी अपनी अचानक की दुर्दशा की कहानी, और यह कि कैसे सिन्धु चौधरी के घर में वर्षा से बचने के लिए आश्रय लिया था, कितनी उसकी खातिरदारी हुई, ऐसी ही बातें। किन्तु उनकी आवाज के स्वर से तो जैसे खँपा खाकर उसके मन के नीचे से कोई और ही कहानी दिख गयी, जो उसने कही नही थी। उस दृष्टि को रवि झेल न सका। भातों की ओर ध्यान चला गया। पिता पीठ फेर कर चले गये।

माँ ने बात बढ़ायी, "है रे, वह सिन्धु चौधरी का घर चलता कैसे है? अपने तो वे पुराने सम्बन्धी है।"

रवि ने बताया, "बहुत घर-द्वार थे, शायद। सारे आँगन में ढेर के ढेर उसके चिह्न भरे पडे है। अब किसका हालचाल कौन पूछता है? फिर भी, आदमी बहुत भले हैं, उनका व्यवहार ही बता देता है कि बड़े सज्जन और इज्जतदार आदमी हैं।"

माँ ने गहरी साँस छोडते हुए कहा, "तू कब तो जनमा, कब आदमी हुआ, किसी का व्यवहार तू क्या समझेगा। तू क्या किसी के पेट मे घुसकर देखेगा।"

भात खाते-खाते रवि ने कहा, "देख कर आया हूँ, तभी कहता हूँ। भले लोग हैं।"

चट से माँ पूछ बैठी, "तूने किस आदमी को देखा रे बेटे ?"

"क्यो ? सिन्धु चौधरी को, उनकी स्त्री को देखा, वे अन्दर से सारी बातें सँभाल रही थी। उन्हे तो पहले भी देखा था। पानी मे भीगता-भीजता कोई आ पहुँचा। वह क्या खायेगा, कहाँ रहेगा, उसकी खबर लेना, ये कर, वो कर—"

"तू तो वैसा ही आदमी ठहरा। किसी ने दो मीठी बात कही, उसे ही ले कर सिर पर बैठा लेगा।"

"लोग तो होते हैं जो कहते हैं—आ गयी यह भी एक आफत; कैसे टलेगी अब ? और वे उलटे मुझे रोक रहे थे—"

माँ ने कहा, "अरे, इस जग में सारे धरम-करम लोप हो गये। रात-बिरात कोई अगर किसी हाल पहुँच गया तो आये-गये की खबर पूछने का धरम तो अभी भी गया नही है। करेंगे कैसे नही ? करेंगे ही। जिसका कुछ नही वह भी तो काँसा लोटा बन्धक रखकर कुछ करता ही है। क्या खिलाया था ?"

रवि ने बताया, "वे लोग जो खाते हैं, वही दिया। अच्छा पकाया था।"

"कैसा, तेरी माँ जो बनाती हैं, उससे भी अधिक स्वाद का ?" माँ हँस पड़ी। रवि भी हँस पड़ा। माँ ने पूछा, "उनके तो एक बेटी है ? कैसी है वह बेटी ?"

कुछ 'कहूँ-कहूँ' सोचकर भी रवि कुछ बोल न सका। अचानक उसने सब्जी में से एक-एक बड़ी चुन कर खाना शुरु कर दिया। कुछ क्षण बीते। देखा, अभी भी माँ उसकी ओर देख रही हैं। फिर पूछा, "कैसी है वह लड़की ?"

सूखी हँसी हँसकर उत्तर दिया, "कौन लड़की कैसी है, ये सारी बातें मैं क्या जानूँ ?" माँ गम्भीर हो गयी। सोचती-सी कहने लगी, "कौन जाने, भई, किसकी हाण्डी में किसने चावल डाले हैं ?"

पिता को कब फुरसत है। यह कुण्डली देखो, वह लगन देखो, उस लड़की को देखो, इसे देखो। मुझे सदा झकझोरते रहते है कि अपने रवि के लिए बता कि कैसी लड़की ठीक रहेगी ? बता तो, मैं ठहरी औरत जात, मुझसे भला क्यो पूछते है ? उनकी बुद्धि से क्या मेरी बुद्धि ज्यादा तेज है ?"

रवि ने कहा, "मुझे यह सब क्यो सुना रही हो माँ ? कौन ब्याह करने जा रहा है कि इतना हाय-तौबा मचा रही हो ! जो इतनी उठा-पटक लगा रखी है ?"

माँ ने पूछा, "पढ़ाई की, उमर हो गयी। ब्याह नही करेगा तो क्या बैठा रहेगा ? तुझे हाथ मे दो हाथ कर देने पर हमारा दायित्व पूरा हो जाये—फिर अपना घर, तुम सँभालो !"

"दुनिया में और कोई काम ही नही रहा क्या तुम सोचती हो ?" रवि ने बात हँसी में उड़ा दी।

माँ ने कहा, "तुम बच्चे हो, अभी तुम्हारे दिन है—मन-इच्छा के मुताबिक काम करना। हमारे दिन तो अब पूरे हुए। और क्या काम रहा ? बस वही एक काम

है। देह मे बल गया। इतना सारा काम मैं अकेली कैसे कर सकूँगी ? तुम बहू नही लाओगे तो क्या सारा काम का बोझ मैं अकेली ही उठाती रहूँगी।"

रवि ने कहा, "सकोगी तो ? तुम्हारी बहू तो हैं ही, ले आओ। लिखो भाई को।"

अनजाने ही रवि ने उसकी दुखती रग को छू दिया था। कहकर सिर उठाकर देखा तब तक तो आंसू की धार बह चली थी। घबराकर पूछा, "क्यों, क्या बात हुई, माँ, तू रो रही है ?"

फिर एक ग़लती। जो बहू इस घर में आकर उसी दिन से अपनी अलग दुनिया खोजकर, बिदेस ही बिदेस में रहती आयी हैं, जिन बेटे-बहू, जिन पोते-पोतियों की इस घर में छाया भी नही पड़ी, उन्ही की बात उसने याद दिला दी। भाई के विवाह के बाद की बातें याद आ गयो, अब भी उनका भला मनाती हैं। कितनी बार देवी-देवताओं का महोत्सव, ठाकुरजी की पूजा, पानी चढ़ाना, आदि कितना कुछ करती हैं। कितनी निराशा से बूढ़े-बुढ़िया दूर तक देखते हैं कि शायद भाई-भावज घर समझकर कभी चले आयें। नदी से धार खुलकर अलग से बहकर ऐसी चली गयी कि लौटी नही।

माँ ने भी रूठने जैसे अन्दाज़ में, स्वर को बोझिल करते हुए उत्तर दिया, "माँ का मन तू क्या समझेगा रे ? मैं कब रोयी-हँसी ? इससे तुझे क्या मिलेगा ? वह सब छोड़। मेरी बड़ी बहू, वह अपनी घर-गिरस्ती लिये वहाँ है। बाल-बच्चोंवाली। सबों की देखभाल करना, घर चलाना—उसके लिए क्या सहज बात है! वह कैसे आयेगी यहाँ रहकर हम बड़े-बूढ़ों को पानी देने के लिए ? नही, उसे लेकर मेरे मन मे कोई अरमान नही। तो भी, माँ का मन है। वह अपने सुख-सुविधा-धन्धे के लिये वहाँ रहें, मेरे पास क्यों रहेंगे भला।"

फिर फफक उठी। और कुछ नहीं कहा।

खाकर रवि उठ गया।

उसे कोई कुछ न कहे तो भी कभी-कभी वह अपने मन की आच्छन्न अवस्था का अनुभव करता है। जान-बूझकर भी अनचाहे ही वह सोचता जा रहा है। काम की ओर ध्यान रहने पर भी कोई पाँच बार आवाज़ लगाये, तब जाकर चौंक 'ऐं' कहता है वह। घर आने पर माँ और पिता दोनों की निगाह से दूर भागना चाहता है। भात खाना—बस। उल्टे-सीधे चार कौर डाले मुँह में, किसी तरह खतम किया कि छुट्टी! खेत-बाड़ी में घूमता है, गाँव के लोगों के भले-बुरे के बारे में खबर लेता है। चर्चा भी करता है कि क्या करने से गाँव का भला होगा, लोगों को संगठित करने के लिए कितने ज़माने भर के झगड़े-टण्टे भी मिटाता है। किन्तु मानो वह अन्दर ही अन्दर रास्ता टटोल रहा है, भावना में डूब रहा है। अपनी निगाह में वह स्वयं एक समस्या

बन गया है।

एक और दिन उसके खाते समय माँ ने पूछ लिया, "क्यों इस तरह चुप हो रहे हो, खाते नहीं ?"

"ऐं ?"

"रवि, सच बता, तुझे मेरी सौगन्ध, क्या बात है ?"

"धत् !"

"मानो तुझ पर किसी डायन की नजर लग गयी है। तू तो ऐसा न था। शायद कुछ हो गया है तुम्हें, जिससे सब कुछ धूल कर देने पर तुला है। तेरी इन आँखों को क्या हुआ ? अपना मुँह तो देख ? मेरे पेट से जनम कर तू मुझसे ही छिपाता है ? बता, तुझे क्या हो गया ? किस बात की इतनी चिन्ता कर रहा है ? इस आगलगी चिन्ता को चूल्हे में झोंक दे। बता दे मुझे सारी बात। तू तो मरद बच्चा ठहरा। थोड़े ही बेटी की जात हुआ है। तुझे परवाह किसकी ? जैसा तेरा मन होगा वैसा ही तो होगा। वही कर। बता, तू क्या सोच रहा है ?"

"हत् ! झूठे ही क्यों बावली हो रही हो ? दे एक गिलास पानी और दे।"

"क्या खाना हो गया रे ?"

"और क्या, मैं कोई भैंसा हूँ ?"

"अरे !"

वह उठकर चल दिया बाहर।

जब चाहे तब ऐसे ही। मन की बात मन में ही मर जाती, कह नहीं पाता। रवि की माँ विवश-सी देखती रहती। बेटा गूँगे की तरह आँख टिमटिमाकर देखता रहता। कुछ खाता नहीं, उठकर चल देता। देह से मानो काला पानी बहे जा रहा है। लोक-दिखावे की खिंची-खिंची हँसी, उसमें वास्तविकता नहीं। जितना सम्भव होता, वह बाहर ही घूमता-फिरता रहता। दिन भर फिरने-डोलने के बाद रात में घर लौटता तो ढेर की ढेर किताबें पढ़ने में लग जाता। रोशनी जलाकर बहुत रात गये तक पढ़ता। कभी उसकी आँखें चमकती दिखती, पर वह कुछ नहीं बोलता, बस हूँ भर देता। और कभी बैठा रहता अपनी कोठरी में, कागज-कलम बिछाये खिड़की से उस पार आकाश की ओर देखता रहता। पता नहीं वहाँ क्या देखता। उसके मन को पता होगा।

माँ पास लगी रहती—इधर-उधर के बहाने बनाकर।

कभी उन्होंने जनम दिया था, पर वह तो कब की बात हो गयी। वे चाहती हैं, उसे नये सिरे से पहचानना। बचपन में हलदी-तेल मलकर रगड़ने की तरह उसके इस बढ़ आये मन पर स्नेह और सहानुभूति का स्पर्श देते-देते उसे सहेज देना। उसके अनजान दुख का बोझ अपने कन्धे पर लेना। फिर भी इतने पास होकर भी वह पकड़ में नहीं आता था। उसकी दुःखकातर दृष्टि कभी-कभी चुभ जाती। सदा नहीं, कभी न जाने कैसे। तब उसके मन में कोई अनजान आन्दोलन उठा होता। साँस तेज हो जाती।

झट वह इधर-उधर के दो शब्द कह डालता, जैसे माँ को पहले कहा था—उसी क्रम से कहता आ रहा था। पर उसने एक दिन भात खाते हुए जिस तरह विह्वल होकर बात कही वह भूली नहीं जा सकी।

"देखो, हम कितना सुन्दर दिव्य आहार पाते हैं। और ठीक इसी समय ऐसे भी हैं जो भूखे रहेंगे। जिसमें शक्ति है वह खा रहा है, जो लाचार है वह नहीं। इस दुनिया में कोई किसी के लिए नहीं सोचता। बस—मैं-मैं-मैं—हम खायेंगे, सुख से रहेंगे। हमारा भला होगा। बस अपने लिए ही सब कुछ—और किसी का हो, चाहे न हो।"

कई बार तो जैसे कलह करने की तरह, वाद-विवाद का-सा स्वर होता उसका। मानो उसके अन्दर से कोई और ही बात कह रहा है, कह कहने लगा, "कब तक सब अन्धे रहेंगे कि उन्हें ठगा जा सकेगा, शोषा जा सकेगा? किसी न किसी दिन आँखें खुलेंगी ही? उसके बाद तो पहिया घूम जायेगा। पर वह कब होगा? ईर्ष्या ही ईर्ष्या में दुनिया कहीं जल न जाये।"

ऊपर चढ़कर माँ ने पूछा, "कौन किससे ईर्ष्या करता है रे बेटे?"

"कौन नहीं करता? सब में है ईर्ष्या। ईर्ष्या और भय में गुजर रहा है मानव-समाज। कहीं किसी को मुँह से तनिक ऊँचा उठा देने से, कहीं सड़क या कुआँ बना देने से, या कहीं कोई दवा-खाना खोलने से यह समस्या नहीं सुधरेगी। आदमी-आदमी के बीच अथवा देश-देश के बीच केवल चिकनी-चुपड़ी बातें कहकर समय निकालने से भी आग बुझेगी नहीं। काम पर निकलना पड़ेगा। आराम और स्नेह की माया, आलस का मोह—कितने गड्ढे हैं रास्ते में। चलने के लिए निकलना पड़ेगा, नहीं तो देखते रहो, धू-धू घर जलता होगा। केवल जबानी जमा-खर्च—समय बरबाद करना है।"

इन सबका क्या मतलब है? कैसे विचार तैर आते हैं उसकी आँखों के आगे? शायद कुछ नहीं। एक-आध उड़ती चिड़िया जैसे आँगन में आकर बैठ जाती है, उसी तरह किसी समय को कोई बात आ जाती है उसकी जबान पर। उसके पिता कहते हैं—वह सब कुछ नहीं है, किताबों की पढ़ाई का चूरा है, बैठा नहीं, घर आकर बैठ गया है, अतः मन भड़भड़ा रहा है। दुनियादारी में आने पर खुद ही सब भूल जायेगा। उन्हीं की बात की लीक पकड़ माँ हिम्मत कर उन्हें समझाने की चेष्टा करने लगी। बोली, "मुझे लगता है—वो सिन्धु चौधरी की बेटी की बात से बात चलाते सो ठीक होता। भला घराना, भले लोग, रंग-रूप भी ठीक। क्या पता वहीं इसका मन लगा हो, लाज से कहता न हो। कहना होगा तो शादी कर देंगे। नहीं तो ऐसे को किस उपाय से बाँधेंगे?"

क्रोध से भृकुटी तान पिता ने जवाब दिया, "हाँ, कुँए की रस्सी से, जबरदस्ती बाँधेंगे। सिन्धु चौधरी के घर की बेटी लाऊँगा? क्या मेरी अक्ल-बुद्धि सारी मारी गयी है? जो लोग बस बाट चलते आदमी को पकड़ लें, सीधे ही उसे चले हैं पालतू बनाने, इधर गाँव में पंचायत हो गयी, देश भर में हल्ला मच गया, हमसे दो बात भी न पूछना

जमीन चली गयी। बस बची है आज दिन-भर की सेवा, भोग से आधा हिस्सा। और अपनी खुशी से कोई देता है या मनौती करता है कभी-कभार तो बस वह।

आज के दिन वहाँ मेला लगता है। आस-पास के गाँवों से लोग आ-आकर जुटते हैं। मन्दिर के सामने से जंगल साफ़ होता है। पास के पुराने कुएँ की मुँडेर के चारों ओर से झाड़-झंखाड़ काटकर साफ किया जाता है, वहाँ एक नयी रस्सी लगायी जाती है, कुएँ को साफ किया जाता है। झुरमुटों के नीचे जगह बनायी जाती है। फिर बेच-खरीद शुरू हो जाती है। साँप, चिड़ियों और गोदड़ों को भगाकर वह वनभूमि कीर्तन, संगीत और झाँझ-मजीरे के स्वर से मुखरित हो उठती है। कहीं सँपेरों की बीन भी सुनाई देती। और कहीं एक-आध हारमोनियम। दिन में और रात में जगह-जगह महोत्सव मनानेवालों के चूल्हे जलते दिखते।

वराह आज जी भरकर नहाते हैं। उनकी देह पर मक्खन से मालिश की जाती है, कनखे फूटे मूँग, चने और अन्य अँकुराये अनाजों के साथ 'सरणुलि', घी मक्खन से तर मड़वे के पीठे, ये आज उनके विशिष्ट भोग हैं। इसके अलावा जो और जो कुछ श्रद्धा से ले आये—खीर, खिचड़ी, केला, नारियल, पीठा, पना, भात, तरकारी। उनके चरणों में सिर टिकाये प्रणाम कर लोग भोग-भाग्य, सन्तान, धन, रोग से मुक्ति—जिसे जो चाहिए माँगते हैं।

और वे वहाँ देखते। रोज़ घर-गिरस्ती की भारी चिन्ता के बीच अचानक किसी फाँक से होकर झर आता मन के विशिष्ट क्षणों में अचम्भित होने का गुण। जाने किस अनादि काल की सूखी नदी के नीचे से फाल्गुनी धार वह निकलती। उसमें मानो आँखें भिगोकर आदमी चारों ओर देखता। चाँय-चाँय-सा लगता, चौंक उठता। वही झाड़-झंखाड़, उसके उधर घना जंगल। कितनी ही बार की देखी-जानी पुरानी जगह। गाय-बकरियाँ चरने आतीं। पास-पास में इस गाँव से उस गाँव और उस गाँव से इस गाँव को रास्ते गये हैं। वहाँ और कई चीज़ें आँखों में पड़तीं। केवल समय और आदमी की स्मृति और कल्पना की मिली-जुली छाया की सृष्टि।

वो देखो मुँह बाये देख रहे हैं एक गड्ढे के किनारे कुछ स्त्री-पुरुष, बच्चे से लेकर बूढ़े तक, गड्ढे में खिरनी, कँटाइ और कई झुरमुट फैले हुए हैं। कैसे धूप में लपलपाते चिकने से दिख रहे हैं उनके पत्ते....और उसकी हरित लहर! एक भरत पक्षी और कलिंग पक्षी लड़ते-से खेल रहे हैं। हलकी भूरी और हरी पट्टीदार देह सुन्दर दिख रही है पर कितना कर्कश सुनाई दे रहा है उसका स्वर। और गड्ढे के किनारे-किनारे इधर-उधर झुरमुटों के बीच एक-एक ऊँचे-ऊँचे पेड़ हैं—केन्दू, गूलर, खजूर, बेल और बीच-बीच में एक 'पटली' लता है—रक्त जैसे लाल फूल, मानो डाली के साथ झर रहे हैं। और उस ओर है एक घना इमली का पेड़। पूरे दम्भ के साथ इन सबके उधर खड़ा है एक घना लम्बा सेमल का पेड़ जिसके पत्ते नहीं दिख रहे, सिर्फ लाल-लाल फूलों से लदा है। इसके इधर आधा ठूँठ हुआ पुराना बरगद है जो एक माग माटी बना और

आधा बचा हुआ है। सट-सट कर खम्भों की तरह जटाएँ हैं। ऊपर ही ऊपर से टूट गया पेड़। आँखों के सामने वही पुरानी किंवदन्ती नाच उठती है—किसने कब कही थी, किसे मालूम है, कही होगी जरूर किसी ने किसी से कुछ ही देर पहले बात छेड़ी होगी। बात का छोर पकड़ लोगों ने चर्चा भी की होगी। इसके बाद एक-एक कर कितनों के बीच पड़ी होगी। फिर वही उत्सुक दृष्टि—यही वह गड्ढा है।

तब यह गड्ढा राजा के महल के पास का पोखर था। उधर का वह ढूह था राजमहल। इधर उनके पूर्वजों ने वराहनाथ की स्थापना की थी। राजमहल में वे रहेंगे नहीं। वे तो बाहर घूमनेवाले ठाकुरजी ठहरे।

"यहाँ!" "हाँ यहीं!" आगे गरदन उचक जाती है। आँखें विस्मय से फैल जाती हैं। पिघलकर भाप बन उड़ जाती हैं यह एकान्त परती और घनी झुरमुटी बनी उजाड़ बस्ती का चित्र खिल जाता है आँखों के आगे और उसके उधर राजमहल। काँटों के झुरमुटों से ढँका गड्ढा कोई उथला नहीं है, पहले यहाँ काँच की तरह दिखते साफ पानी से भरा पोखरा, कमल खिले रहते, सुन्दर पावछ थे, सहारे-सहारे खिले फूल। पद्मिनी कन्या पानी से निकली आ रही—राजा देख रहे हैं।

कहानी कही गयी है—कि तब यहाँ असल में राजमहल न था, शबर पल्ली थी। तब इस इलाके में शबर राजा थे, राजधानी उनकी थी एकाम्र। ढेंकानाल में कपिलास पहाड़ पर सन्त शिखरा शबर तपस्या करके शिखरेश्वर महादेव हो गये। उनके वंश में आगे चलकर दण्डी पाटमहादेवी बनी। उस तरफ समुद्र के किनारे उनके गुरु थे सन्त मुद्गल, जिनकी मूर्ति अभी भी है। वे ही तो पहले इन शबर जगन्नाथ को पूजते थे। पहाड़-जंगल, लताच्छादित बालूचर, झाऊवन के उस ओर महोदधि, मालभूमि या समतल, सब जगह वे शबर—शबर थे—महाभारत में लिखा है न? ऐं?

शबर पल्ली थी उधर। इधर बड़ा पद्मपोखर। राजा शिकार खेलने पधारे थे। पल्ली के रास्ते से गुजरते समय देख गये थे कि किसी की बाँधी साड़ी सूख रही थी जिसपर भँवरे बैठे थे। राजा जान गये कि यहाँ कोई पद्मिनी कन्या है। छोर खोजा, बाद में पद्मतीसर पर आँखें चार हुईं। ताड़पत्र की पोथी में जैसा चित्र आँका गया होता है ठीक वैसी ही पद्मिनी कन्या! ततैये की तरह पतली कमर, हरिण जैसी आँखें। आदि आदि।

शबर राजी हुआ कि ब्याह देगा। पर शर्त बस एक ही थी—राजा महल बनवाकर यहीं रहेंगे, बेटी यहीं रहेगी, शहर में नहीं जायेगी। राजा मान गये। इसके बाद यहाँ खड़ा किया गया महल और गढ़। वराहनाथ की स्थापना हुई। पद्मिनी शबर कन्या को तेरह पुत्र हुए। उन्हें एक-एक गढ़ में सामन्त बनाकर रखा गया। उन्हें ही अब कहा जाता है—तेरह सबरी खण्डायत।

"यह देखो, दूसरी तरफ जो ढूह दिख रहा है, वह था मुखी जी का निवास। मुखीजी याने राजा के मुख्य मन्त्रीजी। किसी राजा के समय मुखीजी और ब्राह्मणों के

बीच बहुत बड़ी टक्कर हो गयी। ब्राह्मण ठहरे महापण्डित। राजा उन्ही की मानकर चलते। उन्हे बहुत कुछ देते-दिलाते रहते। मुखीजी से यह सहा न जाता। मुखीजी सोचते, ये राजा पण्डितों की बात अधिक सुनते हैं। उनका समय गया। सो मुखीजी ने एक तरकीब लगायी। छिप-छिपाकर ब्राह्मणों के घर की कुरी में केंकड़ों के छिलके, मछलियों के काँटे आदि गड़वा दिये। राजा को कहलवा दिया कि ये ब्राह्मण अनाचारी हैं, आचार भ्रष्ट होकर आमिष खाने लगे हैं। यहाँ तक कि केंकड़े-घोंघे तक खाने लगे हैं। महाराज स्वयं देखें उनकी कुरी। राजा ने देखा। गम्भीर होकर ब्राह्मणों को आदेश हुआ, "ये सब छिलके, मछली के काँटे तुम्हारे घर-द्वार के आगे मिले हैं, इस बात का क्या जवाब है ?"

ब्राह्मणों ने छलछलायी आँखों से उन चीजों की ओर देखा और उन चीजों को सम्बोधित कर कहा, "हम तुम्हें लाये नहीं, हम तुम्हें जानते नही, सचमुच अगर हमारा तुम से कोई सरोकार है तब तो जैसे हो वैसे ही रहो, नही, तो अगर कोई और लाया है तो अपना-अपना रूप धरकर उनके पास चले जाओ।"

देखते ही देखते वे हाड़-कंकाल सजीव हो उठे। केंकड़ा, मछलियाँ, घोंघे, जिनके जैसे हाड़ थे। वे सब मिलकर चल पड़े मुखीजी की ओर। राजा मुखीजी की कारस्तानी समझ गये। हुकम हुआ, उनका समूल वंशसहित नाश कर दिया जाये। वह उधर रास्ते के पास जो खड्ड दिखता है वहो मुखीजी का वंश खतम किया गया।

इसके बाद इधर देखो, पूर्व की ओर का यह टीला, जहाँ पुराने-पुराने पेड़ थूहर आदि खड़े हैं, उनके गरदन तक ऊँची बाम्बियाँ हैं। किसी पीढ़ी में एक राजा ने तन्त्र सिद्धि पाने के लिए तन्त्र गुरु को वरण किया। तन्त्रकार ने बताया कि पूरे हज़ार श्रोत्रिय ब्राह्मणों की बलि देनी पड़ेगी। उनकी लाशों पर जगह बनाकर उनपर देवी की स्थापना करनी होगी, फिर सिद्धि सुनिश्चित है। वह देवी राजा के वचनों में रहकर उसकी बातें मानेगी। हज़ार प्रेतों की पीठ पर बैठ वह रात-रात भर घूमेगी। दिन होगा तो जहाँ-तहाँ गायब।

लोगों में घोषणा की गयी कि राजकुमार के कान बींधे जायेंगे। सो, हज़ार श्रोत्रिय ब्राह्मण वरण हुए हैं। चारों ओर ऊँची दीवार, दरवाज़े पर पहरा। अन्दर एक ही जा सकेगा, अन्दर से खबर आ जायेगी, फिर दूसरा। सौ गये, दो सौ गये, दो सौ इक्यावन। अन्दर देवी की स्थापना की गयी थी। आसन पर बैठे थे तन्त्रकार। राजघराने का पाट मलिक, दशहरे पर भैंसे की बलि दिया करता था। वह बड़ा खाण्डा लिये एक चोट से दो खण्ड कर रहा था। दो सौ बावनवाँ आदमी लोभ और भूख नहीं सँभाल सका। सोचा, और लोग पता नहीं कितना खा चुके हों, कितना पा गये हों। यह पहरेदार मुझे कहता है कि पीछे ठहरो। उसने नारियल के पेड़ पर चढ़कर झुककर देखा। उसकी आँखों ने देख लिया कि दो सौ इक्यावनवें व्यक्ति की क्या दशा हुई। केतकी की तरह गोरा, शाल की तरह सीधा लम्बा कद्दावर जवान था वह ! कितना

मटियाले-से प्याले रखे हैं मानो अनेकों के जूठे वन लजा रहे हैं, फिर भी और कई लोगों के होंठों से लगना पड़ेगा। पोसरों पर वहीं छाया करने की चेष्टा की गयी थी, पर पूरा हुए बिना अधूरी हालत में पड़ा है। अपने आप छाया देनेवाले कुछ पेड़ हैं। चाहे छोटे ही हों। एक-एक आँवला के पेड़। एक-एक जामुन और एक-एक इधर-उधर के पेड़। उनमें अनाप-शनाप लताएँ लिपटी हैं। पेड़ और लताएँ जगह-जगह गुँथकर छोटे-छोटे कुंज बन गये थे। वहाँ भाँति-भाँति के जंगली फूल। दुकानों के उधर वन। एक-एक बड़े-बड़े पेड़। सिरस, कुचला, बरगद, पीपल वगैरह। जगह-जगह गहरे लाल फूलों के झूलते गुच्छे। सेमल, पलाश, पालिधी, लतापलाश आदि कितने पेड़-लताएँ अलग-अलग हैं। देवल के पास कई पुराने बकुल, पुराने नागेश्वर के पेड़ और कुछ पुराने गुलमोहर खड़े थे। फागुनी हवा की महक फैली है। और केतकी फूलों की खुशबू चुपके से चली आती है। इस वन में कहीं छुपी है। और कुरैया फूलों की तेज सुगन्ध तो सब जगह है। वन-जंगल और सभ्य आदमी एक जगह मिले हैं आज के दिन। आज वराहनाथजी का जन्म-दिन है।

जगह पर पैर धरते-धरते सुना हुआ अतीत याद पड़ जाता है। केवल किंवदन्तियाँ! दादा ने अपनी नानी से सुनी। अपनी बेटी से कही। बुआ ने कही भतीजे से—जो कहा करते थे, वे भी गये!

आदमियों की भीड़ के बीच चर्चा के समय वसन्त है इर्द-गिर्द। लाल और हरा। उधर काली अमराई से बकुल की महक तैर आती है, घास पर से मुँह उठाये, नथुने फुलाये यह जो सफ़ेद गाय खड़ी है, शायद इसके मुँह के काले-काले दागों में वही महक लिपटी है। एक ही क़तार में तीन इमली के गाछ। तीनों बहुत बूढ़े। माघ में फल पककर झर जाने के बाद भी एक आध लटक रहे हैं। कुछ नयी कोंपलें फूट रही हैं, हलकी सब्ज़रंगी। दो बहुत पुराने नीम के पेड़। ललाई लिये पत्तों के बीच फूल भरे हैं, बौराये हैं। नीचे की घनी में 'गील गाछ' फल देकर थककर सोया पड़ा है। केवड़े के झुरमुट में नीचे के पत्ते पक आये हैं, ऊपर के गहरे हरे। बेर, कितने पककर सूख गये फिर भी झाड़ी से लटक रहे हैं। छोटे-छोटे नये पत्ते फूट रहे हैं। नये पत्ते, नयी कलियाँ, नयी महक!

भीड़ जम रही है। देवाले के दरवाज़े पर धक्कम-धक्का, आगे जाकर उस विग्रह के आगे पूजा कर आने का आग्रह सब में। इसी दिन इस जगह ऐसे ही पूजा की है इस इलाके भर के कितने पुश्त दर पुश्त लोगों ने, उन सबने समर्थन किया है कि पाप दूर हो, पुण्य की प्रतिष्ठा हो। सद्विचार और सत्कार्य विराजते रहें इस धरती पर। आदमी को शान्ति मिले, ग्रहों को शान्ति मिले, सृष्टि पर शान्ति हो। वनों के बीच उजाड़ में आदमी ने सत्य और शान्ति की पूजा की है, दीया-बत्ती किया है, बाजा बजाया है, जैजैकार कर रहा है, ओदक और भोग बाँट रहा है।

वराह आशीर्वाद करेंगे, दया करेंगे, अभाव मिटायेंगे, रोग दूर करेंगे, बाल-बच्चे

देंगे, मुकदमा जितायेंगे। बेंचने की चीजों का भाव बढ़ायेंगे, खरीद की चीज का घटायेंगे, फसल सोलह आने करेंगे, आदमी जो कुछ भी सोच सकता है वह सब करेंगे, जो नही सोच पाता वह भी। बस जता देने मे ही गुर है।

वराह मेले मे भोर से ही लोगों की धार वह छूटी है। दूर-दूर से मेला देखनेवाले पहुँचते है। फागुनी धूल उठने लगी है। आकाश मामूली धुँधला गया है। छायेदार रास्ते पर पैदल चलनेवालो की धार कितनी ही दूर तक चली गयी है। खेतो के छोर पर, पोखर की पाल पर, बाँस के झुरमुट तले। कभी किसी गाँव के रास्ते पर जाते वाधवार चलते-चलते ढोल पर दो थाप ढाँव-ढाँव दे देते है। किसी रास्ते पर बैठ जाते है कुछ बटोही। लोग घेर लेते है। पोखर के पास कोई कपड़े रख नीचे उतर जाता है। बच्चे गोद में है, कोई-कोई कन्धे पर चढे है। किसी की पीठ पर पोटली है, किसी के सिर पर बोझ है। प्रायः सब के कन्धो से थैलियाँ झूल रही हैं। जल्दी-जल्दी बातचीत, हँसी और नकल। जूडा तेल से चमक रहा, देह पर साफ धोती जो इस माटी पर अनभ्यस्त-सी लगती। वैसे ही कोरे नये कमीज। गाल का फुलाव कम होते न होते चलते-चलते ही चाल धीमी कर, बटुआ खोल पान लगाते है, बात-बात मे ठहाका! बता देते है कि ये सब मेला देखने जा रहे हैं।

"क्या यही विचार किया, समधी ने ?" कोई बुढिया अपने किसी साथिन से कहती आ रही है, "एक उनकी बेटी ही तो है नही उनके घर पर। वैसे तीन-तीन बहुएँ हैं, ननद भी भगवान् की दी हुई है। इस तरह चार जने हुए। अपनी बेटी को ही बीस की साडी लाकर दी, अगर उसे ही चारो मे बाँटकर सस्ती साडी ही ला देते तो क्या मर्यादा न रहती। बस अपनी बेटी आँखो को दिखी, परायी बेटी तो दिखी नही। बताओ, ऐसे दुनिया कैसे चलेगी ?"

साथ की बुढिया कुछ लँगडाते-लँगडाते कमर पर हाथ रखे चल रही थी। कहा, "यह बुद्धि अब इसी युग मे हुई है, बहन! बस मेरा-मेरा करते मे ही तो दुनिया डूब गयी, और अब क्या रहा ? अब भाई अपनी बहन की खबर कैसे लेता है—हमारे ही घर मे देखो न! गंधिया चाकरीवाले गाँव से लौटा था। भाई आ रहा है सुनकर बहन के तो बस पैर ही नही टिक रहे थे। स्त्री के लिए तो हार ले आया, बहन के लिए कुछ नही। उलटे कहता है, उसके पीहरवालो ने भेजा है। यही तो कलयुग है, कहीं पैसा में थोड़े ही फलता है!"

दो युवक बातें कर रहे है। पीछे से देखने पर दोनो की देह प्राय एक ही ढाँचे की, पैर भी धनुष की तरह बाँके, बौना चेहरा, देह के अनुपात मे सिर और हाथ बड़े दिख रहे हैं। एक कह रहा था, "भाग करना है तो अच्छी तरह बाँट लिया उसमे फिर विचार क्या ? रास्तेवाला कमरा बस पाँच हाथ का था। हो गया ढाई-ढाई हाथ, बीच में दीवार दी। जो था सब आधा-आधा। भारत पोथी में से आरण्यक पर्व था, वह भी समूचा न था, पीछे का जितना तो दीमक चाट गयी थी, उसे भी आधा किया गया।

भाई-भाई का बँटवारा, कोई क्यों अधिक ले ? जो न बँट सकी, उसे बेच दिया गया। पैसा बाँट लिया फिर। मुग्गा था उसे उड़ा दिया, उसका काम हो गया।"

आदमी चले जा रहे हैं, भाँय-भाँय बातें उड़ती चली जा रही हैं। किस समय, किस जगह किसी के व्यक्तित्व का प्रकाश। इसके बाद फिर वह वहाँ नही होता।

धू-धू करती हवा बह रही है। हवा में कोई लकीर नही, न खोल है।

इसी माटी पर युग के बाद युग बहते चले जाते हैं। रौंदते चला जाता है एक पर एक पटवार।

समय बदला है। दबाकर रखनेवाला ढक्कन उठ गया है। यह ढक्कन सदा ही न था पर बीच में डेढ़ सौ बरस तो जरूर था। अचानक आयी थी स्वाधीनता। पिंजरे का पंछी बाहर आकर फड़फड़ाता पंख तौल रहा है। किसी-किसी ने तो अब तक भी यह अनुभव ही नही किया कि वह मुक्त हो चुका है। सामन्तों को वंश-गौरव, राजाओं का राजत्व लोप हो चुका है, पर किसी की आँखों में अब तक भी रह गया है वही पुराना मोह जिसका जन्म भय से, फिर भय का जन्म युग-युग के दमन से, शोषण से है, अतः 'हूँ' कहते ही अब भी उसके पैरों में अपने आप गति भर जाती है। वह दौड़ रहा है पुराना सामान्त। कड़ा कुछ कह दे तो भी वह सिर नही उठाता। सिर झुकाये रहता है, काम बताने पर कहना मानता है जैसे कि करते थे उसके पूर्वज। उस अँधेरे युग की धर-पकड़, धमक और अत्याचार की आँच से पिघले साँचे में ढलकर गढ़ी है उसकी नीति-अनीति, पाप-पुण्य के बारे में धारणाएँ। उनको विचार छूता नही, विश्वास चिपटा रहता। जो-जो अधिकार पहले उससे छीन लिये गये है, उसने मान लिया है कि वह उसके नही। उधर हाथ बढ़ाना पाप होगा, दोष होगा। वैसे ही वह यह मान बैठा है कि जमीन मालिक की है, उसकी नही। बँटाईदारी में जोतनेवाले का तीन और जमीन के मालिक का दो भाग होगा यह कानून सरकार ने बना दिया तो भी वह सोचता है कि मालिक का आठ आना या दस आना तो ईश्वरदत्त अधिकार है। उतना न देना असत् होगा, उसे पाप लगेगा। फिर हरिजनों का मन्दिर-प्रवेश। पहले तो वे बूढ़े-बड़ेरे हरिजन खुद घबराये। सोचा, मन्दिर मे घुसे तो छाती फट जायेगी, पुराना चलन ही ठीक है। जहाँ ज्ञान नही पहुँचा, प्रकाश नही पहुँचा, आदमी के मन में अँधेरा और अन्धविश्वास का भय है, वहाँ स्वाधीनता के बावजूद भी भय-संकोच से गढ़े पुराने संस्कारों का राजत्व अब भी चल रहा है, टूटा नही। पर वह अँधेरा, सन्देह रह गया है पुराने मरहटियों के मन में। और कहीं ठेठ देहात या अँधेरे वन-पहाड़ों में, जहाँ बाहर की खबर सहसा पहुँचती ही नही। और जहाँ शहर है या शहर के साथ सम्पर्क है, जहाँ की कोई चाहे कुलीगिरी करने ही जाकर बाहर घूम आया है, दस बातें देख आया है—वहाँ अवस्था कुछ भिन्न प्रकार की है। नदी किनारे का बन्यमूल गाँव शहर से कोई अधिक दूर न था। कुल पाँच कोस रास्ता। एक नदी बहती आयी है शहर की ओर से इधर। सम्बन्ध जोड़े है लम्बा बाँध का रास्ता और आती-जाती नावें। बाहर

और विचार मार्ग से अनुशीलन कर समझा-बुझाकर श्रमजीवी को चेता रहे हैं उसके अधिकार और दावे के सम्बन्ध में, वे भी दुनियावी चलन में अपनी जमीन की खेती उसी पुरानी रीति से चासी मजूरों पर छोड़कर उनसे हिस्सा लेकर चलते हैं।

पराये पसीने की कमाई में से अनाज वसूल गाँव से लाकर मजे में खाकर शहर में अपना दूसरा धन्धा चला रहे हैं। फिर विचारों के विलास में पड़े उन्ही में से कुछ लोग सोचते हैं, समझाते हैं, वही बात, जिसे वे लोग उचित मानते हैं अपने मन में, किन्तु कार्य में परिणत नही कर पाते। कार्य में तो उसी पुराने जमाने से चले आते चलन को ही मानते हैं। उनका कहना है कि अब बेगार का लोप होना चाहिए, ब्याज की दर कम होनी चाहिए। जमीन पर जो खुद खटता है, फ़सल में बड़ा भाग उसी का हो, वरन् जमीन उसी की हो। नया युग अपनी बात उन मझोलियों के ही मुँह से कहलवा रहा था, चाहे उनके चलन और रीति पर सीधी चोट ही क्यों न करती हो।

और फिर सचमुच जब चासी मजूर अपनी माँग रखकर सुविधा-सुयोग चाहने लगे, तभी असुविधा पैदा हुई। इस विचौलिये श्रेणी के आकाश-महल में नीचे-ऊपर तक हलचल मच गयी। मजूर अब मुफ्त में कोई काम नही कर जायेगा। सस्ते में मजूरी नही करेगा। पहले की तरह लाकर ढेर नही लगा जायेगा। अपने घर के सामने आम के पेड़ से आमों का हिस्सा, अपने घर के पोखर से मछलियाँ, जमीन से पुआल लाकर बाबू का घर भरना तो दूर, उलटे आप दस आना रख जमीन की उपज में से छह आने लाकर देना भी मुश्किल हो गया है। लाल आँख दिखा देने भर से अब वह और पहले की तरह आराम से जमीन नही छोड़ देगा, घर छोड़कर उठ नही जायेगा। वह खुशामद नहीं करेगा, देह को मोड़-मरोड़ टेढ़ी कर सिर झुकाये खड़ा हुआ विनय-भगती नही करेगा। अब और पहले की तरह समय नही कि चाहे जितना भी बकाया होता जाये, गुड़िया साहु करज देता जायेगा, केवल लिखवा देता रहेगा। अब अहीर सवारी ढोयेंगे नही, बाउरी-स्त्रियाँ पानला-थैली पर घर लीपने आयेंगी नही। नही—नही—नही। उस जमाने की बातें गयी भूल, औरों पर हाकमाई लोप होती आ रही है। जिसे जो पहले स्वयं ही मिल जाता था, अब और वह मिलता नहीं। यहाँ तक कि प्रणाम दण्डवत् भी कितना कम हो गये हैं। हाथ से काम कर जीना न सीखने के कारण मझोली श्रेणी के लोगों के लिए गाँव में रहकर चलना क्रमशः असम्भव होता जा रहा है। शहर में वरन् पैसे खर्च करने पर सब खरीदा जा सकता है, गाँव में पैसा भी उतना असर नही करता।

मझोली श्रेणी के लोग सोच रहे हैं बड़ी तेजी से। मन में हताशा का भाव है। जिस सूत्र से पूर्वजों की रख छोड़ी जमीन की फसल अपने आप प्राप्त होते चलती आयी, अपने बेटे-पोतों के समय तक शायद वैसा नही हो सकेगा। यह जमीन-बाड़ी उनकी होकर नही रहेगी। चाकरी से पेंशन पाने के बाद घर बैठकर सुख से बिताया नही जा सकेगा—हिस्से के धान के आसरे पर। किसी विधवा, किसी थोड़ी तनख्वाह पानेवाले का काम चिर आचरित रीति से उन्ही परायों के श्रम से भाग लेकर चल जाया करता था, अब

शायद सम्भव दिखता नहीं वैसा। जीवन जीने के पुराने तरीके को बदल अब नये तरीके का अभ्यास करने का समय और उमर भी नहीं। दूसरे के श्रम से हिस्सा पाना कम होने के साथ-साथ पुरानी मर्यादा भी कम हो जायेगी, जमीन पर घिसटती-सी धोती पहनना, डब्बे-डब्बे भर पान, पूनम पर्व पर पिठा-पना खाने-खिलाने की धूम, भर टोकरी का देन-लेन, बन्धु-मेहमानों की आवभगत का आडम्बर। ब्याह निमित्त मात्रा तमाशे का आडम्बर, कितना कुछ बदल जायेगा। टूटी दीवार, फटी छान, खाली डीह, परिश्रम में अनभ्यस्त सुकुमार देह लेकर श्रम संघर्ष के जीवन में दुर्बल प्रतियोगिता, आवरण में नैराश्य से भरा छोटा मन शायद ऐसा ही होगा—मझोली श्रेणी के निचले स्तर के विछु-पर्ण उस स्तर के गाँव के सटकर खानेवाले समाज के साथ मिल जाने तक। वैसे मिलने के लिए केवल देह का अलगाव ही अड़चन नहीं है। पहले तो समाज के संस्कार ही आड़े आते हैं, कितनी ही दुःखी-विधवा हो तो भी खानदान घर की बड़ी बहू खेत निराने जायेगी कैसे? उसकी बजाय घर में पड़े रहकर मरना चाहेगी वह। किन्तु मरण को आलिंगन करने की भावना भी केवल मन का एक खयाल है। एक झोंक की बात है। कुछ लोग झोंक में बहकर मसान जा सकते हैं, पर ईश्वर की गढ़ी देह की जरूरत और नित्य सतेज अखण्ड जीवन का लोभ स्वतः जय प्राप्त करेगा मनश्री उस झोंकपर, जिस की नींव केवल कुसंस्कार, केवल अतीत की कहानी की धुँआ पर है, आज की माटीमटाल (पक्की माटी) पर नहीं। अतः मझोली श्रेणी भयभीत है, चिन्तित है, अतः वह दीवार के सहारे पीठ सटाकर अब आखिरी लड़ाई लड़ने में व्यस्त है। समय रहते अपनी जमीन से बटाईदार चासी को हटाकर जमीन अपने अख्तियार में लेनी पड़ेगी। सादे कागज पर अँगूठे का निशान लेकर चासी-मजूर को अनुबन्ध में बाँधने के बाद तब जमीन देनी होगी।

बाद में अगर बटाईदारी कानून के मुताबिक पाँच भाग में तीन भाग का दावा करे, पहले के चलन के अनुसार निश्चित आठ आना भाग न दे, या जमीन छोड़ने को कहने पर इनकार कर दे, तब उस कागज द्वारा जो मन में आये सो लिखकर बकाया निकाला जा सकेगा, मुकदमा-नालिश की जा सकेगी। और भी दाँव-पेंच लगाने होंगे, कई उपाय करने होंगे। उन्हीं के बीच आपसी कलह पैदा कर उनकी तरफ के लोगों को लाकर अपनी तरफ रखना पड़ेगा।

बराह-दरामी का 'मेला-महोछव' देखने जाते समय भी रास्ते में बराबर के लोग मिलें तो बड़े-बूढ़ों में यही चर्चा! बदल गये सामाजिक संस्कारों की पट्टभूमि के सामने देश की अवस्था—जीती-जागती समस्या!

कोफ्त-भरी दोपहर ढलती जा रही थी गोधूलि की ओर। संकीर्तन से कान फटे जा रहे थे। झुण्ड के झुण्ड खंजरीवाले बैठे थे। भीड़ भरपूर। संकीर्तन से हटकर इधर-उधर छोटे-मोटे दल चर्चाओं में लगे थे। वे सब आस-पास के गाँव के मुख्वी श्रेणी के लोग थे। किस गाँव की क्या खबर है—यह भी चल पड़ती बीच में। और फिर खेती-

बारी के बारे में, बटाईदारों को उठाने को लेकर, मुकदमेबाजी की बातें।

जमींदारी जिनकी चली गयी वैसे पुराने जमींदार, बँटाई पर खेती करानेवाले बड़े-बड़े किसान, पेन्शन पाकर जमीन का आसरा लिये घर बैठे सरकारी कर्मचारी, साधारण लोग जो मामूली धन होने पर भी सदा बुद्धि खटाकर औरों को हाथ में रख घर चलाते हैं—इस प्रकार भिन्न-भिन्न वर्ग के लोग जगह-जगह जुटकर अपनी-अपनी अनुभूति और अनुभवों की तुलना कर रहे हैं। सब की आलोचना में स्पष्ट हो रहा था—समय के विरुद्ध एक अभियोग। इसीलिए अगर कोई सरकार को दोषी ठहरा रहा था, तो कोई देश के लोगों को, खुद को छोड और सबको। पचास-साठ बरस पहले अगर कोई इस चर्चा में नये चलन के विरुद्ध अभियोग करता था तो वह होता—कोई अँगरेजी पढ़ा अपनी स्त्री को लेकर बाहर घूम रहा है। कोई कपडे बदले बिना घर में घुसता है। किसी ने तिलक लगाना छोड़ दिया, तीन कर्म का आचरण, किसी ने जात के बाहर सम्बन्ध कर लिया। सौ-दो सौ बरस पहले अगर चर्चा चलती, तो जमींदारी लाट में उठने की बात, बंगाली किरानी का साग-मछली के भाव कलकत्ते में जमींदारी नीलाम पर लेकर उड़ीसा में आकर खास चौधरी बनकर बैठने की बात चलती; बरस-बरस में ही लगान बढने की बात और कर के बोझ तथा लूट-अत्याचारों से गाँव के उजड़ने की बात चलती। अगर पन्द्रह-बीस वर्ष पहले बात चलती तो लोग चर्चा करते महात्मा गान्धी की, सुराजी आन्दोलन की। घर-घर में, रास्ते पर, मेले-ठेले में, खेल-तमाशे में आज चर्चा हो रही है इस आ रहे सामाजिक विप्लव की। किसी जमाने की सुप्रतिष्ठित यह मझली श्रेणी अब धीरे-धीरे टूट रही है, रूप बदल रही है। चेष्टा कर रही है दूसरा रास्ता पकड टाल जाने की; इस संघर्ष से अपने आप उपज रहा है दलबन्दी, गुटबाजी, दंगा-झगडा, ठगी, नेतागिरी, झगड़ा-विद्वेष!

/

अभिमानपुर इलाके के पुराने जमींदार आनन्द पट्टनायक बातें कर रहे थे मंगराजपुर इलाके के पुराने जमींदार केलू पाइकराय से। पास ही थे अभिमानपुर के मणि महान्ती, नारायण महापात्र; मंगराजपुर के जुगल जेना, कुशल पण्ड, गोविन्द हाती, रणभाड़िकुदा के मकद्दम योगेन्द्र दास। आनन्द पट्टनायक लम्बे-गोरे सजीले आदमी, सन जैसे बाल, लम्बी-लम्बी सफेद मूँछें, छोटी आँखें, काँच की तरह चमकता ललाट। साफ धोती पर धुली पंजाबी और उस पर अभी भी डाल रखी है लम्बी चादर। किन्तु अब अन्य ठाठ-बाट नहीं। पान का डब्बा थामे कन्धे पर गमछा डालकर नाई पीछे-पीछे रहा करता था—वह तो कब का गया। पट्टनायकजी ने साइकिल चढना सीख लिया है। उधर सेमल के पेड तले रखी है। उसकी सीट पर लाल कपड़ा बँधा है। केलू पाइकराय चौड़े, वजनदार आदमी, साँवले रंग के, भारी भरकम सिर, चिपटा चेहरा, भुग्गे की

चौन सरीखी नाक, पीली कमीज पेट पर तनकर पड़ी है। पान का आदान-प्रदान कर दोनों मित्र हँसते हुए अतीत की चर्चा कर रहे हैं। पाइकरायजी अभिमानपुर के बूढ़े पट्टनायक की बेटी के लड़के हैं—रिश्ते में आनन्द पट्टनायक के फुफेरे भाई होते हैं। बात चल पड़ी थी—उस जमाने में पाइकरायजी जब अभिमानपुर जाते तो कैसे मौज हुआ करता था। एक वक्त कम से कम बकरी तो जरूर कटती। खीर-पूरी भरे रहते, कहाँ गया अब वह जमाना! वह ऐश! वह मौज! पट्टनायकजी बता रहे थे, "मंगराज-पुर में तो उससे भी बढ़कर, घी खोजने पर मिल जाता पचास वर्ष का। मोटे-मोटे घी के कीड़ों के भाजे मिलते थे सिर्फ मंगराजपुर में ही, और कितने बूढ़े बौठले! कितनी गायें! हठात् देखते-ही देखते लोप हो गया!" पट्टनायकजी ने कहा और सबने सांस खींची, "जो हम फेंक देते थे, वह भी हमें आज नहीं मिलता। छोटे लोगों का तो मुँह ऊपर हो गया है।"

"हमारे गाँव के हरि पट्टनायक का बेटा मदेई हल लेकर आप ही हे-हे-डी-डी कर रहा है। कच्छा पहनकर, गमछे की पगड़ी बना, हाथ में छड़ी लिये .. जो दृश्य सामने आता है उसका क्या बताऊँ? आनन्द पट्टनायक ने कहा, "कन्धे पर बन्दूक डाल आरमपुलिस हुए थे, बड़ी-बड़ी मूँछें रखी थीं। सरकार ने यहीं से लेकर काला हाण्डी काशीपुर बदली कर दी सो यह पोशाक छोड़कर हल पकड़ा है। लाज-सरम तो गयी, क्या करे, पहले पेट—"

"उसकी क्या कहते हैं," पाइकरायजी ने कहा, "हमारी काकीजी को ही देखो न! हाँ, काका मर गये, अवस्था खराब हो गयी, कोई मना करता है? अब स्वयं चौला, बड़ा, पकौड़ी, बड़ी, आचार आदि, देखो न, एकदम खुले बेचना शुरू कर दिया है। सुबह देखो, उनके टूटे छप्पर के पास भीड़, सारी जात के लोग, इस तरह भी कहीं कोई आदमी इज्जत-महत को खाता है?"

गोविन्द हाती बूढ़े आदमी ठहरे। धब के खिलौने की तरह मोटी देह सूखकर झुरझुरा गयी। झुक गये हैं। बोले, "जात गयी, पाँत गयी, इज्जत-महत गया, सत डूबा, धर्म का लोप ही हो गया। अब तो हम आँख मींचते तो, बस। जो आयेंगे वे आयें, पर हम दायी न होंगे इन सबके।"

मकदम गोविन्द दास गोलमटोल नाटे आदमी। गोल चेहरा, छोटे-छोटे पतले होंठ। होंठों को मरोड़ते हुए हँसी रोक रहे थे। एक भी बाल पका नहीं, या सुडौल चेहरे पर कहीं कोई रेखा उभरी नहीं। कहने लगे, "क्यों, तुम्हारे कोई बात की कमी है, हातीजी! उधर दो बेटे नौकरी कर रहे हैं, धन्धेबाड़ीवाले आदमी, इधर धीरे-धीरे अधिकांश जमीन भी तो कब्जे में आ गयी। बाउरी प्रजा तो कोरे कागद पर अँगूठा टेक-टेक कर बँधी पड़ी है, कोई रस्सी से बाँधता है, आपने तो महाराज सीधे लोहे की सांकल से बाँध रखा है, कौन खोल सकेगा? आप का तो जो था वही है, कुछ बढ़ोत्तरी भले ही हुई हो, घटा कहाँ?"

"घटा नहीं ? क्यों, देखा है तुमने ? अब बूढ़े हो गये, क्यों ? तब के ज़माने में अकेला थाला-भर उड़द की दाल, लोटा भर दूध, एक पूरी इल्ली मछली, बकरी का मांस आध सेर, दस चौका नारियल के बासता पिठा...."

"वह तो भगवान् की लीला है, हानोजी, हम सभी तो बूढ़े होंगे। उस बात पर तो किसी का ज़ोर नहीं चलता। असल में है यह चलनेवाली बात, आप तो पहले से ही हुशियार हो गये !"

"ये देखें और एक हुशियार आ गये"—मंगराजपुर के जुगल जेना ने कहा। ठिगने, गोरे, सपाट माथा, घनी लम्बी भूरी मूँछें, चौड़े मुँह में सदा पान और हँसी भरे रहते हैं, सब घनी बाँकी बरौनियों के नीचे चंचल दोनों आँखों की ओर देखने से लगता कि कैसे चालाक आदमी हैं ! छिदे हुए चौड़े-चौड़े दोनों कान उनके माथे को जाने कैसे हवा में उड़ने की-सी भंगिमा प्रदान करते हैं। और उनके साथ मेल खा जाती उनकी पैनी नाक, उसकी नोक ऊपर की ओर मुड़ी है। लोगों का कहना है कि जुगल जेना फेर-फिकरवाले हैं, यह मगरमुँही लाठी लिये कमीज़ पर लाल गमछा डाले गाँव का एक चक्कर काट आयें तो उनके कानों में भारी खबरें पड़ जाती हैं।

कहने लगे, "ये बन्धमूलवाले बट महान्ती के बेटे रवि बाबू हैं, बी ए पास। बट महान्ती परमार्थी पुरुष कहाते हैं। इधर क्या हुआ कि .. कितने ही बँटाईदारों को हटाकर सारी ज़मीन, बगीचा आदि खुदकाश्त कर चुके हैं। ये तो आते ही लोगों को बहकाने लगे कि ज़मीन-जायदाद, उधारी लेन-देन सब अपनी निगाह में रहेगा। उधर ये होंगे नेता, देखना मेरी बात झूठ होती है या सच—ये भी एक दिन मन्त्री बनेंगे।"

आनन्द पट्टनायक ने हँसकर कहा, "नेता होना तो ज़रूरी है, सब क्या नेता बन सकते हैं ? तुम नहीं बनते ? पहले क्या था कि नेता बनना बाप-दादों, चौदह पीढ़ी से चलता आता था, ज़मीन-ज़मींदारी के साथ-साथ, तुम बड़े घर में जनमे तो फिर छाजन से टपकते ही अँकुरा गये। और अब नेतागिरी के लिए खुद चेष्टा करनी पड़ेगी।"

पाइकरायजी ने बताया, "बुद्धि बल तो सदा से ही था, अब भी है। इस छोकरे में तो नाक तक बुद्धि है। उधर भाई पुलिस में, बाप है सो सब, इधर ये बैठ गये गाँव में, कहते क्या हैं कि ग्राम-संगठन कर रहे हैं।....अरे पुकारो, बुलाओ-बुलाओ। दो बातें ही की जायें।"

जुगल जेना ने आवाज़ लगायी। पहले से ही परिचित थे। रवि आया तो जुगल जेना ने एक-एक से परिचय करा दिया। रवि ने प्रणाम किया। और विनम्र भाव से खड़ा रहा।

पाइकराय ने बात शुरू की, "अच्छा हुआ कि आप गाँव में रह गये, इतनी पढ़ाई करने के बाद क्या गरज़ पड़ी थी कि आप चाकरी करें, इधर गाँव में तो कितना काम करने को पड़ा है। कैसे चल रहा है ? लोगों की मति-गति कैसी है ?"

रवि अवाक् खड़ा देखता रहा।

चोंच सरीखी नाक, पीली कमीज पेट पर तनकर पड़ी है। पान का आदान-प्रदान कर दोनों मित्र हँसते हुए अतीत की चर्चा कर रहे हैं। पाइकरायजी अभिमानपुर के बूढ़े पट्टनायक की बेटी के लड़के हैं—रिश्ते में आनन्द पट्टनायक के फुफेरे भाई होते हैं। बात चल पड़ी थी—उस जमाने में पाइकरायजी जब अभिमानपुर जाते तो कैसे भोज हुआ करता था। एक बखत कम से कम बकरी तो जरूर कटती। खीर-पूरी भरे रहते, कहाँ गया अब वह जमाना! वह ऐश! वह मौज! पट्टनायकजी बता रहे थे, "मंगराजपुर में तो उससे भी बढ़कर, घी खोजने पर मिल जाता पचास बरस का। मोटे-मोटे घी के कौड़ों के भाजे मिलते थे सिर्फ मंगराजपुर में ही, और कितने बूढ़े मोड़ले! कितनी गायें! हठात् देखते-ही देखते लोप हो गया!" पट्टनायकजी ने कहा और सबने राग खींची, "जो हम फेंक देते थे, वह भी हमें आज नहीं मिलता। छोटे लोगों का तो मुँह ऊपर हो गया है।"

"हमारे गाँव के हरि पट्टनायक का बेटा खदेई हल लेकर आप ही हे-हे-डी-डी कर रहा है। कच्छा पहनकर, गमछे की पगड़ी बना, हाथ में छड़ी लिये . जो दृश्य सामने आता है उसका क्या बताऊँ ?" आनन्द पट्टनायक ने कहा, "कन्धे पर बन्दूक डाल आरमपुलिस हुए थे, बड़ी-बड़ी मूँछें रखी थीं। सरकार ने यहाँ से लेकर काला हाण्डी काशीपुर बदली कर दी सो वह पोशाक छोड़कर हल पकड़ा है। लाज-सरम तो गयी, क्या करें, पहले पेट—"

"उसकी क्या कहते हैं," पाइकरायजी ने कहा, "हमारी काकीजी को ही देखो न! हाँ, काका मर गये, अवस्था खराब हो गयी, कोई मना करता है ? अब स्वयं चीला, बड़ा, पकौड़ी, बड़ी, आचार आदि, देखो न, एकदम खुले बेचना शुरू कर दिया है। सुबह देखो, उनके टूटे छप्पर के पास भीड़, सारी जात के लोग, इस तरह भी कहीं कोई आदमी इज्जत-महत को खाता है ?"

गोविन्द हाती बूढ़े आदमी ठहरे। शंख के खिलौने की तरह गोटी देह सूखकर झुरझुरा गयी। झुक गये हैं। बोले, "जात गयी, पाँत गयी, इज्जत-महत गया, सत डूबा, धर्म का लोप ही हो गया। अब तो हम आँख मींचते तो, बस। जो आयेंगे वे आयें, पर हम दायी न होंगे इन सबके।"

मकदम गोविन्द दास गोलमटोल नाटे आदमी। गोल चेहरा, छोटे-छोटे पतले होंठ। होंठों को मरोड़ते हुए हँसी रोक रहे थे। एक भी बाल पका नहीं, या सुडौल चेहरे पर कहीं कोई रेखा उभरी नहीं। कहने लगे, "क्यों, तुम्हारे कोई बात की कमी है, हातीजी! उधर दो बेटे नौकरी कर रहे हैं, धन्धेबाड़ीवाले आदमी, इधर धीरे-धीरे अधिकांश जमीन भी तो कब्जे में आ गयी। बाउरी प्रजा तो कोरे कागद पर अँगूठा टेक-टेक कर बँधी पड़ी है, कोई रस्सी से बाँधता है, आपने तो महाराज सीधे लोहे की साँकल से बाँध रखा है, कौन खोल सकेगा ? आप का तो जो था वही है, कुछ बढ़ोत्तरी भले ही हुई हो, घटा कहाँ ?"

"घटा नही ? क्यों, देखा है तुमने ? अब बूढे हो गये, क्यों ? तब के ज़माने में अकेला कांसा-भर उड़द की दाल, लोटा भर दूध, एक पूरी इलसी मछली, बकरी का मांस आध सेर, दस चौका नारियल के काकरा पिठा...."

"यह तो भगवान् की लीला है, हातोजी, हम सभी तो बूढे होंगे। उस बात पर तो किसी का ज़ोर नहीं चलता। असल में है यह चलनेवाली बात, आप तो पहले से ही हुशियार हो गये!"

"ये देखें और एक हुशियार आ गये"—भंगराजपुर के जुगल जेना ने कहा। ठिगने, गोरे, सपाट माथा, घनी लम्बी झुकी मूँछें, चौडे मुँह मे सदा पान और हँसी भरे रहते हैं, बस घनी बाँकी बरौनियों के नीचे चंचल दोनों आँखों की ओर देखने से लगता कि कैसे चालाक आदमी है! छिपे हुए चौड़े-चौड़े दोनों कान उनके माथे को जाने कैसे हवा में उड़ने की-सी भंगिमा प्रदान करते हैं। और उनके साथ मेल खा जाती उनकी पैनी नाक, उसकी नोक ऊपर को ओर मुड़ी है। लोगों का कहना है कि जुगल जेना फेर-फिकरवाले हैं, यह मगरमुँही लाठी लिये कमीज़ पर लाल गमछा डाले गाँव का एक चक्कर काट आयें तो उनके कानों में सारी खबरें पड जाती हैं।

कहने लगे, "ये बन्धमूलवाले बट महान्ती के बेटे रवि बाबू हैं, बी ए पास। बट महान्ती परमार्थी पुरुष कहाते हैं। इधर क्या हुआ कि....कितने ही बँटाईदारों को हटाकर सारी ज़मीन, बगीचा आदि खुदकाश्त कर चुके हैं। ये तो आते ही लोगों को बहकाने लगे कि ज़मीन-जायदाद, उधारी लेन-देन सब अपनी निगाह में रहेगा। उधर ये होंगे नेता, देखना मेरी बात झूठ होती है या सच—ये भी एक दिन मन्त्री बनेंगे।"

आनन्द पट्टनायक ने हँसकर कहा, "नेता होना तो ज़रूरी है, सब क्या नेता बन सकते हैं ? तुम नही बनने ? पहले क्या था कि नेता बनना बाप-दादों, चौदह पीढी से चलता आता था, ज़मीन-ज़मींदारी के साथ-साथ, तुम बड़े घर में जनमे तो फिर छाजन से टपकते ही अँकुरा गये। और अब नेतागिरी के लिए खुद चेष्टा करनी पड़ेगी।"

पाइकरायजी ने बताया, "बुद्धि बल तो सदा से ही था, अब भी है। इस छोकरे में तो नाक तक बुद्धि है। उधर भाई पुलिस में, बाप है सो यश, इधर ये बैठ गये गाँव में, कहते क्या है कि ग्राम-संगठन कर रहे है। ...अरे पुकारो, बुलाओ-बुलाओ। दो बातें ही की जायें।"

जुगल जेना ने आवाज़ लगायी। पहले से ही परिचित थे। रवि आया तो जुगल जेना ने एक-एक से परिचय करा दिया। रवि ने प्रणाम किया। और विनम्र भाव से खड़ा रहा।

पाइकराय ने बात शुरू की, "अच्छा हुआ कि आप गाँव में रह गये, इतनी पढ़ाई करने के बाद क्या गरज पड़ी थी कि आप चाकरी करें, इधर गाँव में तो कितना काम करने को पड़ा है। कैसे चल रहा है ? लोगों की मति-गति कैसी है ?"

रवि अवाक् खड़ा देखता रहा।

आनन्द पट्टनायक ने पूछा, "बापू मजे में हैं तो ?"

"हाँ।"

'जो भी हो, पिताजी ने बहुत बुद्धिमानी का काम किया, बटाईदारों को हटाकर जमीन अपने हाथ में ले ली, वे ठोस आदमी ठहरे। उनको छाती है, कर सके। हम लोग पिछड़-पिछड़कर पछताते रहेंगे। क्यों, लोग कोई अण्डसा तो नहीं लगाते ?"

नयी बात। रवि का माथा चकरा गया, बात पर विश्वास भी नहीं आया। पूछा, "मुझे तो कोई खबर ही नहीं।"

रवि चला गया। जुगल जेना ने सिर हिला-हिलाकर कहा, "देखा तो, जैसा बाप, वैसा बेटा। बाप के मुँह से कोई बात ले सकता है ? क्या इतना सहज है ?"

दासपुर का वासी बूढ़ा जगू पधान खँजरी-भजनों के बीच से जल्दी में उठकर चला आया। जुगल जेना से पूछा, "बाबू, कौन हैं ये ?" उसके पीछे और तीन लोग थे। जुगल जेना ने परिचय बता दिया। जगू पधान ने कहा, "चलें, खोजें उन्हें, गुहार करेंगे, दस बरस से खेती कर रहे थे, छीनकर जमीन पाणू पंचायत को दे दी है। जो करेंगे, करेंगे, दो बातें कहकर तो देखें।"

जुगल जेना ने कहा, "जाओ, जाओ—"

"बाबू, बाबू !"

आवाज सुनकर रवि ने मुड़कर देखा। चार किसान। आगे जगू पधान बूढ़ा है। बिना किसी भूमिका के शुरू किया, "यह क्या ठीक हुआ, बाबू ?" इसके बाद लगातार कहता चला गया अपना दुःख। रवि आश्चर्य से देखता रहा, धीरे-धीरे ये सारी नयी बातें सुन रहा है। विश्वास भी नहीं हो रहा। जिसे वह घृणा करता है, जिसके विरुद्ध उसका सारा विचार है, प्रचार है, वही है उसकी अपनी बुनियादी में ही ! भाव-प्रवण हो व्यथा में भरा देखता रह गया। उसे लगा माटी कुछ कह रही है, या उसे पहचान रही है। उसका दुःख कष्ट। सिर्फ किताबों की पढ़ाई, कुछ बातें, ढेरों भावनाएँ। इधर उसके पिता बँटाईदारों को जमीन से उठा रहे हैं।

वराह-दशमी का 'महोत्सव' चल रहा है। सूरज ढलने को आया। भीड़-भड़क्का, काफी लोग, अनेक रंग। आगे वहाँ खड़ा है जगू पधान, गँठीली देह पर चमड़ी झुर्रा रही है, चेहरे पर कई लकीरें, कई गड्ढे, भौंहों पर थोड़े से बाल, आँखें जैसे धुँधली-नीली दिख रही हैं, मानो सुलग रही हैं। काली-भूरी मूँछों पर केंकड़े-सी नाक खड़ी है। कुल मिलाकर गम्भीर भंगिमा, मामूली धूप की ओट में छाया पड़कर और भी गम्भीर लग रहा है। जगू पधान शब्द खोज रहा है।

"बच्चों ने कहा—बापू, नहीं, छोड़ेंगे, जो होना होगा हो जायेगा, ऐसे अगर सभी अपनी-अपनी जमीन छुड़वा लेंगे तो हम खायेंगे क्या, चलेगा कैसे ? मैंने कहा, नहीं, ऐसी बात कैसे होगी, बुढ़ापे में मैं सच छोड़ूँगा ? बात तो माननी ही पड़ेगी। बाद में देखेंगे...."

"ठीक है, इस बारे में समझूँगा, पधानजी !" रवि ने कहा।

"बस, यही चाहिए।"

वे चले गये।

पर बात वहीं नहीं खतम हुई। बात जाने कैसे फैलती हुई अन्यान्य बँटाईदार किसानों के बीच भी गयी। और लोग भी रवि के पीछे पड़े।

परन्तु अबकी बार उसने नये रूप में देखा अपनी नींव को। जिस अत्याचार और शोषण से उसने घृणा करना सीखा है, वह उसके अपने घर में ही है।

कहीं उसके संघर्ष का आरम्भ है—पाप से, शोषण से, निर्ममता से। मन में चाहे जो सोचे या मुँह से कुछ भी कहे, पर असल में वही हो रहा है!

रवि ने अनुभव किया कि सामने से है कि संघर्ष आता दिख रहा है। अपनी नीति के विरुद्ध चलने को वह स्वीकार कर नहीं सकेगा। वह बदलेगा नहीं, पिता बदलेंगे नहीं, अत: रास्ता भिन्न है। याद आया—पाटेली गाँव के सिन्धु चौधरी के घर से जो भले व्यक्ति बात लेकर आये थे, गालियाँ खाकर लौट गये। उस दिन पिता की वह ज़िद और क्रोध! और वह दिन जब कर्जदार आकर अनुनय लगा रहे थे सूद छोड़ने के लिए! ऐसी ही और कई बातें। जिस रास्ते पर वे अपने जीवन को चलाये लिये जा रहे हैं, उसे बदलने की गरज उन्हें पड़ेगी नहीं, वे मुरब्बी ठहरे! वे घर की सम्पत्ति के मालिक ठहरे। वे पिता हैं। अथच रवि खुद अनुभव कर रहा है कि उसकी अपनी स्वतन्त्रता है। मन, विचार, कल्पना सब उसके अपने हैं, उन्हें छोड़कर मानो उसका अस्तित्व नहीं है।

उदास होकर चेहरा घुमाये खाली खेत की ओर ताकता रहा, खुद मानो कोई पत्थर की मूर्ति हो, कितने ज़माने की मूर्ति, माटी तले से खोदकर निकाली गयी। वही पत्थर की मूर्ति चेतना पाकर मानो विचार रही है, कितनी बार इस धरती पर ऐसा घटा है कि पिता का बनाया रास्ता छोड़कर बेटे ने भिन्न रास्ता पकड़ा है, अपनी स्वतन्त्र नीति पर चलकर, अपनी अनुभूति में इस जीवन को अनुभव करने, और फिर परखने के लिए।

अन्यमनस्कता से चौंककर उसने देखा, औरतें दल की दल यात्रा स्थल से लौट रही हैं। साँझ हो आयी, कितनी लौटेंगी। चली जाती धारा में से किसी के धूमिल चेहरे पर एक और चेहरे की झलक देखी उसने। धारा चली गयी। फिर जाग उठी वह स्मृति।

सामने आना ही पड़ेगा। वरना माँ को कहने पर कहेंगी कि पिता से कह, मैं क्या जानूँ। औरत जात! याद आया कि उस बार जब वह प्रतिरोध करने गया था कालेज के प्रिंसिपल के सामने, कि फ़ीस न देने के कारण जिन पाँच लड़कों के नाम काट दिये गये हैं, उनके सम्बन्ध में अपना आदेश उठा लें। उन्हें एक महीने का और समय दिया जाये। प्रिंसिपल की स्थिर पुतलियों को और होंठों के कोने में हँसी से पड़ी टेढ़ी

रेखा अब भी याद आती है तो मन डूबने लगता है। एक ओर उसके हृदय का उच्छ्वास—दूसरी ओर एक स्थल जहाँ उसका अधिकार नही, व्यक्तिगत सम्बन्ध भी स्पष्ट नही। रास्ता दिखाया था उसके विश्वास ने, जिसे वह उचित और सत्य मानता है।

घर से तनिक हटकर बैठक की कोठरी में दीवार का सहारा लिये चटाई पर वट महान्ती बैठे थे, आँखों पर चश्मा, हाथ में एकादश स्कन्द भागवत। भरी दोपहर से तनिक पूर्व खा-पीकर वे यहाँ चले आते है, दिन के लिए मानो यह उनका दूसरा घर हो। चटाई पर तकिया रखा है, पास मे एक बिस्तर, जिस पर लाल कपडा बिछा है। और रखा है एक पीकदान, दीवार से सटकर दो आलमारियाँ खड़ी है, छोटी खिड़की के नीचे एक टेबुल, टेबुल के पास कुरसी। एक कोने में सन्दूक पड़ी है।

रवि की स्कूल की पढाई, उसके लिए चार वर्ष शहर रहा। फिर कालेज में चार वर्ष, तब भी शहर मे। गाँव का बस नाम भर था। मन के लिए केवल कुछ एक चित्र, ऊँघे कबूतर। कभी याद आते आम का निचोड़ना, घर के आगे छिलके और गुठलियों का ढेर, कभी और कुछ, और हमेशा उसमें बस घर ही घर की धारणा रहती। घर के साथ सम्पर्क इसी तरह याद आ जाता। पर वृत्ति-बाड़ी का हिसाब-किताब, संसार चलाने के सम्बन्ध मे पिता के व्यक्तित्व का स्वरूप उसके लिए अनजाना था, उसके परिसर के बाहर। ऐसे समय याद आता—पिता सबसे अधिक अपने होने पर भी उससे कितने अलग है, इतने पास रहकर भी कितनी दूर है। आदमी खुद अपना इतिहास है, दूसरे से अलग है। वहाँ से उसने स्नेह-आदर पाया है, जो कुछ जरूरी है सब पाया है। उसी बरगद की झूलती जड़ बनकर बढा है, फिर भी दोनो भिन्न आदमी है, उन्हें वह नही पहचानता!

हिम्मत कर उसने पूछ ही डाला। पहले तो अवाक् रह गये और उसकी ओर ताकने लगे। इसके बाद धीरे-धीरे उनकी भौंहें तनती गयी। उन्होने कहा, "हूँ, मुझे भी पूछना था तुमसे। क्यों, पढाई ने तुम्हें यही सिखाया? इसी के लिए पैसा खर्च कर तुझे पढाया था? तूने यही सीखा कि जिस डाल पर तू बैठा है उसी पर कुल्हाड़ी चलाये? नौकरी-चाकरी तो की नही, सोचा आलसी बनकर घर मे पड़ा रहूँ, फिर यह जर-जायदाद कैसे सँभालेगा? लोगो को कैसे जीत सकेगा? इधर ही ध्यान देने की बात है और तू है ठीक उलटा? जिनकी छाया पड़ने पर आदमी दूर हट जाता है, तू जाकर उन्ही से मिलता है। इन छोटे-छोटे आदमियों के आगे बड़ी-बड़ी बातें कहता है। ऐसे लोगों को भी कोई बुद्धि देता है? वे पहले जो दबे-दबे थे, अब और भी जोश मे आकर सिर उठायेंगे। एक बेटा तो चाकरीवाले गाँव में रह गया, घर का कभी नाम भी नही लेता। तू हुआ ऐसा कि मेरी आँख मुँदते ही सब कुछ उजड़ जायेगा रे! भूत खायेंगे। कुछ नही रहेगा।"

कल्पित आशंका में उनकी भौंहें मिनट भर के लिए उठी रही, माथे के चमड़े पर कई सिकुड़नें पड़ गयी, मानो वे देख पा रहे है। जैसे इन्ही आँखो के आगे सब अभी

हीं गुज़र रहा है।

फिर कहा, "अरे ज़मीन तो मेरी है, उसपर उनका क्या अधिकार है? जो करने पर लाभ होगा; आदमी अपनी सम्पत्ति-वाड़ी के बारे में वही करेगा, या भूतों को खिला देगा? तब ज़मीन बँटाई पर दी थी क्योंकि उसमें लाभ था, अब नुक्सान है। अब देने पर लोग दाव लेंगे, भाग वसूलना कितना मुश्किल है। और अधिक क्या कहता है? मेरी ज़मीन, मैंने छुड़ा ली, किसी और को दी, या जो मन में आया सो किया, किसी के बाप का क्या जाता है! तेरा इन सारी बातों में मग़ज़ लड़ाने की क्या ज़रूरत है? सम्पत्ति कैसे आती है, कैसे रखी जाती है, कैसे दाव सँभाला जाता है, तुझे कुछ मालूम है? तू ऐसा कैसे हो गया जो परायों की बात में पड़ मुझसे तर्क करने आया है! अरे, तेरी कमाई की आस नहीं रखी मैंने। वह समय कभी आयेगा, तो कहना मुझसे। देखना ख़बरदार! फिर कभी नहीं खोलना ज़बान!"

गरज-गरजकर गुस्सा जब थोड़ा उतरा तो समझाते हुए-से कहने लगे, "घर पर बैठा है, ये सारे काम कैसे होते हैं, तनिक इधर भी ध्यान दे। इतनी सहज नहीं है ये बातें, सीधी अँगुली से भी कहीं घी निकलता है? अच्छी पढ़ाई करो, टोकरी-टोकरी भर अच्छी बातें कहो, कोई मना करता है, काम के समय इतने सीधे-सरल होने से नहीं चलेगा। संसार में रहोगे तो संसारी बनकर रहना पड़ता है। उसका धर्म भिन्न है। समझा रे, उल्लू! जिस काम को जो रास्ता हो—ज़मीन-वाड़ी का काम, महाजनी का काम, ये सारा दायित्व तुमपर ही पड़ेगा। अभी धोती-कुरता डालकर लम्बे-लम्बे भाषण हाँककर जिस काम के लिए नाक-भौंह सिकोड़ रहा है! तू खा-पीकर आदमी बना है, पाला-पोसा गया है जिस-जिस तरह, उनकी निन्दा तो न कर! अधिक दया-धर्म दिखायेगा तो सब उड़ जायेगा, पीछे फिर झेलता रहेगा, और फिर आजकल जो ज़माना है, उसके बारे में तो कुछ न कहूँ तो ही अच्छा। बैठा रहेगा अरक्षित होकर पराये हाथ के उठने की आशा लिये।"

भाषण समाप्त करने पर विज्ञ आदमी की तरह खुद अपने अन्दर विश्वास उपजाते, सिर हिलाते, कहने लगे, "इस संसार में कितने लोग हैं, हम उन कितने में बना है? क्या केवल हमारी ही ज़मीन चास करने को नज़र पड़ी और किसी की नहीं? अपने बाप-दादा चौदह पीढ़ी जैसा करते आये, हम भी वैसा ही करेंगे। लोग चाहे जितनी तरह से कहें, उसमें अपना क्या आता-जाता है?"

फिर उन्होंने भागवत के एकादश स्कन्ध में मन लगाया। रवि सिर झुकाये लौट आया।

ज़मीन से हटाये गये बँटाईदारों की बात कहीं चूल्हे में गयी। लाज और दुख के मारे रवि का चेहरा झुलस गया था, कान झाँय-झाँय कर रहे थे, उसे लगा जैसे सामने खड़े हैं वे ही चासी, सबके आगे वही बूढ़ा है, उनका नाम उसे याद नहीं।

सामने जो लोग खड़े हैं, जो इस देश के चासी के प्रतिरूप हैं। इधर वह है,

पढ़ा-लिखा, आशावान्, आदर्शवादी युवक ! मानो सब मिलकर पूछ रहे हैं, "क्यों, क्या किया हमारी बात का ?"

कोई उपाय नजर नही आता। उसके हाथ-पैर बँधे हैं। माँ के आगे उसने अपना दुख बताया नही, मन ही नही किया कि उसे इस फेर में डालें। जो कोई कुछ माँगता, दीन-दुखी, माँ उसे अपनी समरथ के मुताबिक कुछ देती। कभी ब्राह्मण-भोजन, कभी बाल-लीला भी कराती, किन्तु घर की या जमीन-जायदाद की बातों में वह नही पड़ती। कितनी ही बार बात ही बात में उसने कहा भी, 'बेटा और पति जो लाकर देंगे, हम उसे ही तो पीस-पोकर देंगी, बाहर की बातों में हमारा क्या दखल ?"

रवि ने भी पिता की जीवन-चर्या की ओर निगाह की। यहाँ सब कुछ बँधी लीक पर है। बड़ी सुबह उठना, बिस्तर पर बैठ नाम जपना, नाम जपते-जपते नदी नहाने जाना, फिर नदी से लौटना, कुछ खाकर कन्धे पर गमछा डाले काम-काज देखने गाँव में फिरना, फिर लौट कर भात खाने से पहले ठाकुरजी की पूजा, ठाकुरजी को नहला-धुलाकर स्तोत्र से अर्चना कर भोग लगाना, फिर कोठरी, वहाँ नींद आने तक भागवत पढ़ना, उठने पर कागज-पत्र देखना, डाकिया अखबार दे जाता तो अखबार पढ़ना, मित्रों से चर्चा, साँझ अँधेरे अकेले बैठ राम का नाम लेना, रात में कभी-कभी तामपोथी बाँचना, कभी न्याय-फैसले में बैठना, जल्दी खा-पीकर फिर ठाकुरजी का नाम लेकर अपनी आत्मा की सद्गति के लिए गद्गद हो कहते-कहते सो जाना। ऐसे ही चलता आया है हमेशा से। यह जीवन किसी की प्रतीक्षा नही करता और न किसी का भला या आदर या सहायता। यहाँ तक कि चारों ओर से हटते-हटते आ पिता अपनी इसी बँधी-बँधायी दिनचर्या के बीच रहकर अपने चारों ओर घर बनाकर रह गये हैं। गढ़ा है एक अजेय गढ़। इसका सब कुछ केवल कर्तव्य में बदल गया है, जैसे ठाकुरजी की पूजा, भागवत पाठ, वैसे ही अपनी जमीन-जायदाद की देख-रेख। ये किसी से परामर्श माँगते नही, सहायता चाहते नही, यहाँ तक कि अपना बिस्तर भी स्वयं बिछाकर स्वयं ही लपेटकर रखना उनकी आदत बन गयी है। रवि अनुमान कर सकता है, जिस परिमाण में वे बड़े बेटे को स्नेह करते थे, आशा रखी थी कि बेटे, बहू, पोते-पोतियों को एक साथ कर यहाँ तक कि अपने चारों ओर समेटकर जीवन बितायेंगे, उसमें बाधा पाकर उन्होंने अपने लिए ऐसा एक खोल गढ़ लिया है। यों भी हो सकता है कि बहुत बरसों तक रोज एक नाम लेते-लेते, भागवत पढ़ते इस जीवन की नश्वरता और परलोक की गुरुत्व की बात सोच-सोचकर अनासक्त हुए बिना भी वे इस तरह एकदम अकेले-अकेले हो गये हैं। कारण जो हो, हाव-भाव, दृष्टि से सब में अकेलापन है। उसमें घुसा नही जा सकता, दूर ही रहना पड़ता है। कभी बचपन में वे उसे लाड़-प्यार करते थे, उसके साथ बैठकर बातें करते थे, यह सब उसकी स्मृति तले दबा है, पुरानी चिट्ठी खोलकर पढ़ने की तरह। कभी-कभी अवसर मिलता है तो याद आ जाता है। बाहर खोजने पर नही मिलता। रवि दूर ही रहता है, सहम जाता है। कुछ लोग हैं जैसे मूसी

ण्डा, दीनवन्धु मिश्र या अरि तिआडी या काशी अवधानजी। उनके आने पर पिता उनमे सुख-दुख की बातें करते, वरना और किसी से नही। वे भूल कर रहे हैं—ऐसा समझ-बूझकर वे यह गलती नही कर रहे; सब कुछ कर्तव्य है, चिराचरित पद्धति के अनुसार कर्तव्य है। उसी में उनका विश्वास है—बँटाईदारो से लेकर भागवत का एकादश स्कन्ध पढने तक।

इन लोगों का कहना है कि छोटे-बडे रहे बिना संसार कैसे रहेगा? वे कहते हैं यह नया युग, यह नया चलन, यह सब दो दिन का है। ऐसे कितने युग आये और गये हैं। नये विचार नयी बातें—ये सब भी उड जायेंगी। उनका विश्वास है कि गति-मुक्ति के लिए आदमी मुँह पर हरि का नाम लेता रहे, कानों से सुनता रहे, आँखों से देखता रहे, शुभ चीजें। पर काम के समय किसे लोभ नही, मोह नही, स्वार्थ नही। नही कहना असत्य होगा, सत्य नही। संसार में आदमी होकर जनम लिया, कम से कम जितना चाहिए उतने नरक में तो घुटना ही पडेगा, जितना भी कोई बाबाजी बने, कोई शौच नही जाता? या हाथ से पानी नही छूता? किस में नही है, गू, मूत, रक्त, मवाद, लार? लोग दौड़-दौडकर सुआ-गडिशा मछली को पीट-पीट कर मारते है, भेड-बकरी काटते है, मास बनाते हैं, खाते है, फिर हरि का नाम लेते है। कुछ काम कडे मन से करने ही पड़ेंगे। उसमें दूसरों को कष्ट होता है। सच कहना उचित है, पर उन्हे विश्वास होता नही कि कोई सदा सच ही कहता भी है। कभी अपनी सुविधा के लिए झूठ कहना होगा, इसके लिए पुराणों से उदाहरण दिया करते है।

उनका कहना है कि आदमी की इसी देह में नरक है, फिर ब्रह्म भी है, इसी जन्म में पाप है पुण्य है, परार्थों के लिए ममता है, फिर स्वार्थ भी है। सब में दो-दो रूप हैं, प्रकाश है तो अँधेरा भी है। आदमी देवता बनने की चेष्टा में है, पर यह बेकार की चेष्टा है, इस देह से वह नही हो सकेगा। उनका विश्वास है, आदमी सिद्ध हो सकता है, महात्मा बन सकता है, पर वह सब आदमियों के लिए सम्भव नही। कोई करोड़ो में एक होगा। पूर्व जन्म के सुकृत हों तो अपने आप होगा, उसके लिए इच्छा करना समय गँवाना है। उस आदर्श को वे प्रणाम करते है, आशा नही लगाते। इस जनम में बस एक नीति के पालन करने की जरूरत है—मात्रा पर निगाह रखना, बहुत अधिक हो जाना बिलकुल ठीक नही। इधर बढ जाये तो आदमी बाबाजी हो जायेगा, संसारी काम नही कर सकेगा। उधर बढ गया तो पाखण्डी बन जायेगा, भ्रष्ट-नष्ट पिशाच! समाज को, देश, काल को और फिर खुद को अच्छा लगे उस विचार को, मछली खा, जरूरत भर मिथ्या कह, फिर न्याय नीतिमान, ठाकुरजी की पूजा कर, आदमी को बीचवाले रास्ते पर चलना है। चलती रीति को माने, सुख-दुख में काट दे। हुर्र—हुर्र नही करे।

यही भावधारा चलती है देश की सारी बातों के बारे में, जब जो बात पडे, अँगरेज राजा राज करते थे, उतने दिन उन्हे भोग करना था इसलिए। उनके भोग का समय पूरा हुआ, भाग्य में और नही था, वह चला गया। ये आये। कहते हैं, लोग

सीधा हो, नीति में अटल रहकर वह कार्य कर सके—उसका क्या उपाय है ?

इसके बाद एक दिन आया मूली दलेई, विधवा मोती कालुणी का बेटा। दस बरस हुए विदेस गया था, कोई खबर ही नहो। यतीम का जब था तो स्त्री और बेटा चेचक में गर चुके थे। बयालीस की उमर में बासठ बरस का बूढ़ा बनकर लौटा मूली दलेई। सिर के बाल जूट की तरह हो गये, पिचके चेहरे पर मारा मारा रेगाओं से भरा, बाँस की तरह हाथ-पैर, खपच्चियों की तरह छाती के हाड गिन लो चाहे।

बेटे को पाकर बुढ़िया मोती कालुणी मानो पहले से कितनी चंगी हो गयी है। बुढ़िया के एक पैर में फीलपाँव है, सिर गंजा किसी सूगे फल की तरह, जैसे बाढ़ के समय कहीं से बहकर आने है. उसी तरह कमर झुका-झुकाकर चलती। जब देखो उसका चेहरा नीचे की ओर, हाथ में लकड़ी। लगता जैसे तीन पैरों से घिसटती चल रही है।

उस दिन साँझ ढलते समय वट महान्ती कोठरी से घर की ओर लौट रहे थे कि दोनों घर के दरवाजे के पास आमने-सामने पड़ गये। बूढ़ी और उसका बेटा मूली। पैरों में गिर पड़े। कितनी अनुनय-विनय नहीं की। उसी के पिता के सामने रिरिया रहे थे वे दोनों। उस दिन रवि को मालूम हुआ कि पिता की आलूजमीन पर खेती का असल इतिहास क्या है—मूली दलेई नगद सौ रुपये और बाकी पचास ब्याज के बदले पाँच एकड़ जमीन रेहन रख गया था, पाँच वर्ष के लिए।

बूढ़ी भेड़ की तरह मोती बुढ़िया कमर से मुड़कर जमीन पर झुकी बातें कह रही थी—"तुम्हारी असीस से मेरा बेटा घर बसायेगा। विदेस जाकर भूखा-प्यासा रहा, देख-भाल के अभाव में कितना सूख गया। यहाँ गाँव में छाया तले चैन से रहेगा।" आगे कहा, "अभी कौन सी उमर हो गयी, दो बीसी भी पूरी नहीं हुई होगी, कल का लड़का है, आपकी असीस से कहीं से बहू लाऊँगी। फिर पोते-पोतियों का मुँह देखकर आँख मूँदूँगी—कौन जाने ?" सुबककर बुढ़िया ने फिर कहा, "गाय-बाछी, दोनों के दोनों चले गये, मेरा ही करम फूटा है, क्या करूँ ? घर जलने पर लोग फिर से घर खड़ा करते ही हैं, क्या करें !"

वट महान्ती सब कुछ सुनते रहे, फिर गम्भीर होकर कहने लगे, "गाँव का लड़का गाँव लौट आया, घर बसायेगा, किसे बुरा लगेगा ? यह तो बहुत अच्छी बात है। पैसा है तो जमीन भी कुछ कर ले, क्यों ! विदेस गया था, कुछ लाया है या नहीं ? नहीं। ठीक है, पहले बँटाई में खेती करे, हम तो अब वैसे देते नहीं गाँव में, औरों से पूछ लो, मयुरी या कुंज या अदेई किसी से बात कर लो। बँटाई में चास करते-करते अपनी कमर में भी तो जोर पैदा हो सकता है।"

"आप के पैरों पड़ती हूँ, उसके बाप-दादे के जमाने की वह पाँच एकड़ जमीन उसे छोड़ दें, इसी आशा से वह दौड़ा आया है।"

"अब, उसकी आस क्यों ?" मानो मुँह कसैला हो गया हो, वट महान्ती ने

कहा, "गिरवी रखी थी पाँच बरस के लिए। पाँच बरस में रुपये लौटाते तो अपनी जमीन वापस लेता; रुपये भी कोई कम थे क्या —नगद एक सौ। तब के सौ और आज के सात सौ बराबर हैं। धान का भाव ही देखो! फिर इधर बेपार की हेर-फेर देखने लगे तो तब के सौ आज बढ़कर हजार होते हैं। पाँच बरस की मियाद की आज हो गये बारह बरस, तब किसी चीज़ में सौ रुपया डाल देता तो आज हो जाते दस बारह हजार।"

मूली दलेई ने कहा, "क्या करूँ, मूल-मूल के सौ रुपये उतार सकता हूँ, और कहाँ से लाऊँ?"

"अरे, बावला हुआ है, रुपयों की बाबत तो कह ही दिया, तब के सौ अब कितने हो गये! फिर उस ज़मीन पर कितना खरच जो कर दिया? हिसाब कर सकोगे? ज़मीन क्या यही थी? कितना खुदवाया, कितने बोरे हाड्डों का चूरा, विलायती खाद, खली, कितनी गाड़ियाँ गोबर की खाद दी है। कितनी बार ज़मीन में धनिचा और सन डालकर ज़मीन पर हल चलवाया है, कितनी चीजें डालकर ज़मीन को सुधारा है उसका कोई हिसाब है, रुपयों का? बस समझो, वहाँ रुपये ही उँडेल दिया है। हाथ-हाथ पर रुपया बिछाया है। इतना किया तब जाकर आलू की ज़मीन हुई। फिर और भी खर्चा लगा है। किसी लाभ की आस से? नहीं, एक शौक था मुझे।"

"जी, ज़मीन तो मेरी इतनी ही थी, मेरे तो जीवन का आधार है, गिरवी रख दी थी। अब वापस नहीं देंगे तो मैं मर नहीं जाऊँगा?"

"गिरवी नहीं रे, मियादी! मियाद पूरी हुए सात बरस हो गये। ज़मीन तो मेरी हो चुकी, अब तेरी कैसी ज़मीन? वह तो कागज़-पत्तर की बात है, तेरे-मेरे कहने से क्या होगा?"

फफक उठी बुढ़िया, बारम्बार पैरों पड़ रही थी। मूली दलेई निहोरा कर रहा था। झट महान्ती ने पीठ फेरकर कहा, "जाओ, जाओ, घर जाओ। परायी बातों में पड़कर मत नाचो। न होनेवाली बात पर मन को मत चलाओ। जाओ!"

रवि ने घर में से ही देखा—वे चले गये हैं। उसकी बाहर निकलने की हिम्मत नहीं पड़ रही थी। अपने मन में इनके लिए इतनी सहानुभूति सहेजकर रखने के बावजूद वह कुछ नहीं कर सका, दो बात भी नहीं कह सका।

केवल देखता रहा। उसकी आँखों के सामने दोनों आदमी जैसे आये थे, लाश-जैसे होकर लौटे।

उत्तेजित होकर रवि ने अन्दर दौड़ते हुए ऊँची आवाज़ में कहा, "माँ, माँ, सुना तो?"

माँ के आगे कितना भी जोर डालकर कहे, उसकी आशा मिटी नहीं।

"मैं तो औरत जात, मुझे इन सब का क्या पता? जो कार-बार करते हैं, वे जानें।"

हँसते-हँसते अचानक माँ का चेहरा गम्भीर हो गया। कहा, "पिता से कुछ न कहना, वे उलटा समझते हैं, सोचते हैं, उनकी बात की आलोचना करते हो।"

अकेली माँ ने ही नहीं, कुंज भाई, मूमी पण्डा ने भी ऐसा ही कहा था, और घुमा-फिराकर जोतसी काशी अवधान ने भी। बेटे ने चाकरी नहीं की इसलिए उनके मन में कोई दुख नहीं है, परन्तु किताबों से पढ़ी, शहरी भाषणों से सीखी बेचलन समाजनीति के ढाँचे को खण्ड-खण्ड बेमेल बातें गाँव के लोगों के आगे कह रहा है—इसी बात का उनके मन में दुख है।

रवि ने गुम-सुम रहकर अपनी कोठरी में ही सारा दिन बिता दिया। उसे अनुभव हो रहा था मानो चारों ओर एक पिंजरे का घेरा है। वह देखता है, सोचता है, और कहने के समय अटक गया है। जो शक्ति उसके अन्दर हिलोर ले रही है, अस्थिर कर रही है, वह भी कभी मर जायेगी। इस तरह शान्त सुबोध होकर, पिता के आयत्त में रहा तो उससे कुछ हो नहीं सकेगा। वह भी मामूली बन जायेगा, बिलकुल आम लोगों की तरह।

दिन ढले मिल गये काशी अवधान। कोठरी से लौट रहे थे, गोल चेहरे से पसीना चू रहा था, कदम फूलिया दाढ़ी चेहरे पर भरी थी। पान चबाने के लिए घूमते जबड़े रोककर नीरव हँसी में मुँह इतना चौड़ा कर लिया कि जबड़े के पास ऊपर-नीचे के दो दाँतों के बीच अटका पान भी दिख गया। हँसकर कहने लगे, "हमारी बख्शीस रखे रहना। खोजते-खोजते एक जगह ऐसा मेल मिल गया, कि क्या बताऊँ, जिसे कहते हैं शिव-पार्वती का मेल। फल फलता रहेगा, आप देखेंगे फिर मुझे कहेंगे।"

रवि ने पूछा, "कैसा बख्शीश, गुरुजी? हम तो हलवाहे आदमी, हमलोगों का तो हवा-पानी के साथ, खेती-बाड़ी के साथ मेल चाहिए। और किसी मेल से हमें क्या लेना-देना?"

आँख मारकर गुरुजी ने कहा, "यह मेल जीवन के साथ जीवन का है, और क्या कोई मामूली बात है? तालकणा गाँव के चरण पट्टनायक की पोती, भालू पट्टनायक की बेटी। भालू पट्टनायक कितने बड़े आदमी हैं। शहर में लम्बा-चौड़ा कारोबार, काफी जमीन खुदकाश्त, चाहे तो क्या न क्या उँड़ेल दें। पिताजी को बहुत भा गया है रिश्ता, सगाई का दिन तय कर रहे हैं, अब तो लक्ष्मी की प्राप्ति होगी। ऐसा मेल जुटा है कि बहू के घर में पैर पड़ते ही धन-धान्य से घर भर उठेगा। ऐसी है वह कन्या! शहर की पढ़ी-लिखी, गाना-बजाना भी जानती है। पिता तो कहते हैं साँझ ढले बहू भजन गाकर सुनाया करेगी।"

गम्भीर होकर रवि ने कहा, "यह काम होनेवाला तो नहीं लगता।"

"बात पक्की कर ली। उत्तर जा रहा है—होनेवाला कैसे नहीं?"

"नहीं, नहीं हो सकता।"

"यह तो बड़े आश्चर्य की बात है, रे, बाबू!"

"पिताजी से कह दें मैं तो वहाँ ब्याह नहीं करूँगा। यों हड़बड़ी में इधर-उधर बात देने से बाद में केवल सिर नीचा करने की बात होगी। क्यों इतना हो-हा लगाये हैं!"

"ज़रा देखिए, सुनिए,...." अवधानजी ने समझाया।

रवि ने कहा, "बस, और उन सबकी चर्चा क्यों करते हैं? पिताजी से कह देना।"

अवधानजी सिर के खप्पर के बीच में तप कर कुछ दप्-दप् जलता-सा लग रहा था। आँखों के अन्दर से गरमी की धार वही आ रही थी। लगता था जैसे जीवन केवल चारों ओर से मुँदा पिंजरा ही नहीं है बल्कि वह पिंजरा चारों ओर से सिमटता आ रहा है!

जैसे आर्त होकर लोग पुकारते हैं—'भगवान् भला कर दो।' वैसे ही 'भला कर दो, ठीक कर दो!' पुकारता, उपाय खोजता रवि पहुँच गया अनादिदास की समाधिवाले मैदान में। बरगद की छाया लम्बी हो गयी है। नदी में बालू ठण्डी पड़ने लगी है। सामने यह माटी का टीला, उनकी समाधि। लोग कहते हैं, संकट के समय यहाँ धरती पर लोटने से दर्शन देते हैं स्वप्न में। फिर बताते हैं क्या करना पड़ेगा, क्या होगा, आगे की बात दिख जाती।

कोहनी पर टिका रवि थक-सा चुका था, मन में बारम्बार वही उलझा हुआ सवाल है, वह क्या करे?

सामने वही परिचित दृश्य, खेत का मैदान, बाग, नदी की धारा, नदी के उस पार की सघन श्यामलता, हवा में वही चीन्ही-चीन्ही-सी महक, गाँव से दूर जाने पर जैसे याद आती है। जो देखता है, जो अनुभव कर रहा है, उन सब जगहों से उसका अपना सम्पर्क है। सब उसके अतीत के चिह्न, एक साथ गूँथने पर उसका जीवन। अतीत से आ रहा है, भविष्य की ओर फैल जायेगा। इसी माटी के मोह में धीरे-धीरे डूब-डूब जा रहा है वह स्वयं। मानो कि इस गाँव की माटी के असंख्य रूपों में से एक रूप है वह।

सच, जैसे, इस बूढ़े बरगद की झूलती हुई जड़ों में से एक, प्रकृति के नियम से नीचे ही नीचे बढ़ रहा है, उस तरह असंख्य हैं उसकी सम्भावनाएँ।

अथवा सामने जो एक-एक गमछ के पेड़ सारे मैदान में उगे हैं, उनमें वह भी एक छोटा-सा गाछ है।

—नहीं तो ये जो गिलहरी, चटर-चटर करती तनिक नाचती-नाचती बरगद की ओर आ रही है, अटक-अटककर आ रही है, फिर पीछे मुड़ जाती है।

—नहीं तो यह भूरी चींटी, कमर सीधी कर चारों ओर देख रही है, फिर आगे बढ़ जाती है।

उन्हीं का साथी वन भित का परम्परागत आदमी, अन्तर में वृद्धि का स्पन्दन,

जन्म उसका अनचीन्हा, श्रम उसकी भावना के वाहन, चेतना में जीवन का स्वाद है। सनातन आदमी, वैसा ही है वह।

और सामने अनादिदास की गद्दी, वे भी सनातन, चिरकाल से गाँव के आदर्श, गाँव के गुरु, आश्वासन और विश्वास के स्तम्भ—सदा से।

दूर देखते हुए वह अनुभव कर रहा था—अपने में स्वच्छ मन की शान्ति, बल का सुख, उम्र की आशा।

और वसन्त ऋतु, उसकी बौराई महक, उसका रंग, उसका तेज।

मन के अन्दर बात की धार फैल गयी, ढीला होकर बहता चला गया।....

नया बाग अच्छा हुआ है।

लाल गाय बिया गयी है, कैसी होगी उसकी बछिया, बड़ी जात की, या ओछी?

झुण्ड में से उसने दो बछड़े चुन लिये हैं, बड़े होनेपर अच्छे जोड़ीदार होंगे। पहले इन्हें बधिया कराना पड़ेगा, वरना ये साँड हो जायँगे।

दोनों कोमल-से छौने! मक्खन-से सफेद, कितने गिलगिले, उछलकूद मचाते। दो दिन पहले तो उसकी ओर मुँह हिला-हिलाकर मानो खेलने को बुला रहे थे, उसके चारों ओर उछलते-कूदते खेल रहे थे। उन्हें पकड़ के रस्सी कराना पड़ेगा। फटे बाँस के बीच सदा बाउरी उन्हें भींच देगा।

ओ. कितना कष्ट! कितना दर्द!

उसी कल्पित कष्ट में रवि की आँखों पर नदी के ऊपर दिन छिपने की छाया घिर आयी थी। रवि सिर उठाये हुए अनादिदास की समाधि की ओर देखता रह गया, मानो वे आँखें उससे गुहार कर रही हैं।

और उसकी चेतना के आगे तैर गया है कोई जुलूस, झुण्ड के झुण्ड बधियाये बैल और बकरे, मानो फन्दे में फँस, सहमे-सिमटे से बधियाये आदमी हैं।

वसन्त उसकी क्षति-पूर्ति नहीं करता। गाँव की शान्ति नकली कलई है। इस रंग से नहीं चल सकता। बस खाली-खाली से चेहरे में बेतरतीब रूखे बाल, धँसे हुए गाल, निस्तेज मुँह के बन्धन में दम घुटे आधे-आदमी के दल और उनमें शामिल वह भी!

इस दुर्दशाग्रस्त संसार में दुर्बल है जोगीनाथ।

हे महापुरुष, यह बन्धन क्यों?

सामाजिक संस्था में शोषण, सामाजिक नीति में अन्धे संस्कार—सहने ही पड़ेंगे, पर क्यों?

फिर वही चेहरा—छवि! अपने अन्दर तूफान की साँय-साँय। अनदेखे अनादिदास का अनुमान लगा पाता है, मानो उनका आसन काँप रहा है, आँखें खोल रहे हैं। शान्त स्थिर दृष्टि चाँदनी की तरह चेहरे पर दिख रही है। अनादिदास कह रहे हैं—"बन्धन का कारण भय है, भय दुःख का कारण है। अपने दुर्बल मन का भय खुद को ही दबोच

लेता है। आदमी अपने रास्ते को छोड़कर युगों का परिचित रास्ता ही पकडेगा, उसपर वैसे काँटे या खड्डे नहीं, वैसा मान-सम्मान नहीं है। बस कैदियों के रास्ते। बन्धन संस्कार बनकर डराता है।"

चौंककर अपने आप में वह लौट आया था। गद्दी की तरफ़ प्रणाम कर लौट गया घर की ओर।

एक री में चला आया है। वह कहेगा, प्रतिज्ञा की आँच से सिर में दप-दप हो रहा है। बार-बार चेहरे पर आँच की लहर फैल जाती है। कभी न कहनेवाली बात, आज वह कहेगा। अँधेरे गर्भ-गृह में से निकल पहले वह अपनी छलछलायी आँखोंवाली माँ के आगे खड़ा होगा। फिर उसकी अपनी अत्यन्त लाज-शरमवाली बात ..कि क्षणभर देखकर ही किसी को उसने चाहा है। छोटे बच्चे का प्रेम नहीं, जैसे युग-युग से पुरुष प्रेम करता आया है—वैसा।

धूल लाकर उसपर पानी डाल-डालकर उसने रूप गढ़ा था, रूप को जीवन मिला है, रूप सच हो गया है। अब उसके अस्तित्व के साथ लिपट गयी है छवि। वह मोह नहीं है।

नित्यकर्म कर लिये हैं, पोखर में नहा-धोकर आया है, छाती धक्-धक् कर रही है—समय पास आता जा रहा है, वह कह देगा। लगता है, इस तरह पहले किसी ने नहीं कहा, वही पहला है।

आँगन-दरवाज़े में अन्धकार के ऊपर टगर के फूलों की तरह तारे खिले हैं। आकाश का अन्त नहीं, तारों के प्रकाश का क्षय नहीं। कुछ क्षण खड़ा हो खुद को दृढ़ किया—खुलकर बात कहने में आपत्ति क्या है? रसोई के दरवाज़े पर जाकर बुलाया—"माँ!"

वे बरामदे की सीढ़ी पर खड़ी हैं, आँगन में रवि। पता नहीं कैसे उसने शुरू किया, पर उसने सब कह दिया है। अन्दर का रूप स्पष्टतर हो गया है। एक ही झटके में अपने को बचपन से अलग कर आँगन में खूँटे की तरह खड़ा किया है उसने—एक मज़बूत आदमी के रूप में।

कितनी बातें कही हैं, अपने हृदय की फिर वे युक्तियाँ दीं कि बिना कारण ही लोग उसके नाम पर अफवाहें उड़ा रहे हैं, उस लड़की को लेकर। उसकी ज़िन्दगी बरबाद होगी। ऐसे में उसका भी कुछ कर्तव्य है।

इतनी सारी बातें वह कह तो गया पर माँ ने मुँह नहीं खोला।

बातें पूरी होने के बाद सिर के अन्दर जा रही हैं—बातें नहीं, बातों की प्रतिध्वनि। अवाक् वह देख रही है, आँगन में यह कौन है?

बेटा नही, कोई पराया आदमी।

बेटा तो खिलौने के गुड्डे-जैसा है, मलाई-मक्खनवाला बालगोपाल है!

बेटा तो, माँ का है, वह जनमा जब से याद आता है, वह इत्ता-सा चार अंगुल का था, कितना निःसहाय! उस दिन से उसकी बातें याद पडते ही लगता है वह कितना नि:सहाय नन्हा-सा है, सरल और सहज-सा। किसी स्त्री की छाया तक उसपर नही पड़ती।

मगर यह जो बातें कह गया, वह तो बच्चा नही, कोई बड़ा आदमी है। बेटा नही, पराया है। पराये आदमी ने कहा, उसे उससे क्या? वह अपने रास्ते जायेगा, अपना कर्म भोगेगा, मन खोलकर बातें कही, दो शब्द सहानुभूति के ही पायेगा, बस इतना ही सम्बन्ध है उसके साथ।

"माँ!" यह आवाज उसके बेटे की है।

अपने आप झरने लगी स्नेह की धारा, "क्या कहता है रे बाबू? तू अपने बापू से कह।"

बेटा नही, पराया आदमी, चेतना ने समझा। स्वतः आयी शत्रुता! उसने ही उत्तर दिया—"तू कह न।"

मुड़कर रसोई में चली गयी। चूल्हा फूँकने की आवाज सुनाई पड रही है।

किन्तु वह न सुन रहा था और न देख रहा था कि माँ की चेतना में कितना बड़ा तूफ़ान उठ रहा है। चूल्हा जलाते-जलाते आँखों से धारा बह रही थी। बेटा पराया हो गया। इतनी बातें कह दी। पहला झटका खाती हुई-सी वह चौक पड़ी। वह बात गयी, इसके बाद उसे अनुभव हुआ कि उसके हृदय में चोट लगी है, अपने लिए ही वह सिसक रही थी, अन्दर ही अन्दर।

रवि को हलका-हलका महसूस हो रहा था। उसने माँ को कह दिया है। और किससे कहता? माँ तो सदा माँ ही है—माँ ठहरी, सारी बातें सहेगी, बचपन के गू-मूत से लेकर मुक्का-धुक्का और बड़ा होने पर बड़ी-बड़ी बातों तक। वहाँ छल क्या? मान-अपमान भी क्या?

रवि बाहर चला गया। उधर रवि की माँ रसोई के काम में लग गयी। जागने पर अधिकांश समय कटता यहीं रसोई में, किन्तु हाथ ढीले पड रहे हैं। क्यों? किसके लिए यह सब? लगता है जैसे साधारण जीवन की हर बात के सारे 'क्यों' के उत्तर खो बैठी है। मन में सिर्फ़ व्यर्थता का बोध भर गया है।

याद आता है बड़ा बेटा कवि और उसकी स्त्री। घर बसाने के लिए बहू लाये थे—बेटे का हाथ पकड़ बहू विदेश जाकर बस गयी। कभी तो पूछती सास को! बस,

हर बार बच्चे के जन्म से पहले फरमाइश आती—लाचार आदमी, मास के बिना विदेश में जच्चा-बच्चा और घर कौन सँभालेगा ? पति तो काम-धन्धे में लगे रहते हैं, दिन भर अपनी ड्यूटी में, इधर इसको सुविधा-असुविधा देखने को फुरसत कहाँ ? और यह छोटा लड़का, कितना शान्त, धीर, मानो माँ के मन की बात इसी ने समझी थी.. पर इसके मन में एक नया आदमी है, आज से नहीं कब से रहता आया है। उधर ही उसका मन है, माँ की ओर नहीं। यह बेटा भी, सचमुच, पराया हो गया ...!

होंठ काँप रहे हैं, मन ही मन कुछ बड़बड़ा रही हैं। खुद को चिकोटी काटने की तरह चौंककर उन्होंने सोचा—वे क्या कुछ सोच रही हैं ? यह तो खुशी होने की बात है, बेटा अपने मन ही मन से बहू चुन रहा है। पिता व्यर्थ ही ज़िद कर अड़ते हुए इनकार कर रहे हैं। बेटा सुख से रहे !

पर हँस नहीं सकी, हँसने की बात सोचते-सोचते फिर आँसू बह निकले। आँसुओं में धाराबोर आशीर्वाद देते-देते फिर याद आयी अपने सुख की बात—मन लायक बहू आयेगी, घर हँस उठेगा।

सामने यह चूल्हा जल रहा है, भात की हाण्डी चढ़ी है। ये सब हैं जीवन भर के साक्षी। यहीं बैठ-बैठकर कितनी आशा, कितने विचार आये हैं। सब भूल गयी, किसी खालीपन में भीतर डूब गयी। इस घर में बहू बनकर वे स्वयं आयी थीं। दरवाज़ा आदमियों की भीड़ से भरा-पूरा था। शंख, हुलुहुलि, बाजे-गाजे, मंगलाष्टक घोल, पल्लू पकड़, सिर पर चारों ओर चँदोवा तानकर बाहर दरवाज़े से एकदम भीतर सोने के कमरे तक स्वागत कर ले गये थे। झुकी-झुकी सी चावल-सुपारी की अँजुरी भरकर घर में गयी तो चारों ओर से फूल बरस रहे थे। तब हवा में तैरती आयी एक महक, विनम्र चेहरे पर निरीह शोभा के अन्तराल में जल रही थी आशा की तीव्र उत्तेजना। सामने था एक स्वप्न, जिसे हँसते-हँसते वास्तव रूप देना होगा।

घर-संसार की लीला चली। बच्चे हुए, पंख लगे, वे उड़ गये। और साथ-साथ जीवन भी धीमा पड़ा, चाकी पीसने की तरह अपने-आप घड़ड़-घड़ड़... बस चाकी चल रही है।

रवि ब्याह करेगा। बहू आयेगी।

हाण्डी में दाल छौंक रही है। छौंक की चड़-चड़ और तीव्र गन्ध नाकों में घुस जाती है। सोचते-सोचते मन का परदा हट आता है। सोचने लगीं—रवि ने ऐसा क्या कहा ? ऐसा क्या होता है ? मन की हूक पर मन पर ताला डाल लोग दुनिया बसा लेते हैं। छाती पत्थर की कर लेते हैं ! नये जुग में सब उलटा है। मरद हो रहे हैं हिजड़े, औरतें हो रही हैं मरदानी। रवि ने उस नये जुग के विघटन में मन को उकसाया है। वह गया कहाँ ?

आवाज़ दी—"रवि ! रवि !"

रवि नहीं है।

मन में घाल-मेल होने लगा। पिता अकारण ही अस्वीकार कर रहे हैं, सहज बात को असहज कर रहे हैं। बात को घोटने से बढ़ती है।

अपने अतीत से अनजान लहरें आकर टकरा रही हैं। केवल गहरी साँस— एक ओर से देखने पर लगता है कि वे अपनी इच्छानुसार नहीं कर सके, बस, बहाव के जोर में बहे जा रहे हैं।

आदमी का जनम ही तो वैसा है, वह स्वाधीनता का सपना देखता है, परायी बातों पर नाचता है, स्वच्छ हँसी से जीवन को पूज नहीं सकता, आँसू से उसे अर्घ्य देता है।

अँधेरे में घूमते-फिरते रवि भी वही बात सोच रहा था, पर उसका सोचने का ढंग अलग था। बिस्तर में पड़े रोगी की तरह वह नहीं सोच रहा था, वह रास्ता खोज रहा था।

शान्त अँधेरा घिर आया है। रात यहाँ रात ही है, बूँद-बूँद बिजली की रोशनी के घाव नहीं। इस रात में असीम व्याप्ति की धारणा आती है, फिर विराट् ऐश्वर्य की। दिन में सीमा दिखती, केवल असम्भाव्य का पूर्ण विराम। रात में लगता है, सब कुछ सम्भव है। यही तो उसका मैती-घोड़ा पंख लगा आकाश की ओर उड़ा जा रहा है, ऊपर तारे हँस रहे हैं, आगे यह पृथ्वी, एक ओर बढ़ी। अँधेरे के नीचे चमकता सफेद रास्ता दिख रहा है। रास्ता जरूर है।

अगले दिन नदी से नहा-लौटकर जब वह चिवड़ा और कन्द मिला रहा था, पास में माँ बैठी-बैठी नारियल की कोर-निकोर कर दे रही थी। माँ ने बताया, "बापू खोज रहे थे—।"

क्यों ?

"सो तो मैं क्या जानूँ? बाहर बगीचे में हैं। कहा था, रवि को तनिक भेज देना।"

खा-पीकर मुँह धोया और बाहरवाले बगीचे की ओर चल पड़ा। फाटक खोलकर मधुमालती के जाल से स्वयं को मुक्त कर आगे बढ़ गया। दूर वे दिख रहे हैं, घूम-फिर कर पेड़-पौधों को देख रहे हैं। ताजा हरी-हरी कोमल बाड़ पर वसन्त का विप्लव मूर्तिमान् था। झुरमुटों में फूल खिले थे। नन्हीं-नन्हीं चिड़ियाँ बाड़ के अन्दर आकर आँख-मिचौनी खेल रही थीं। चिड़ियों की दृष्टि बौराये कलमी आम पर गड़ी थी। वहाँ

क्या देख रही हैं ? दीमक ?

अचानक उसकी ओर मुड़कर पिता ने उसे तेज़ निगाहों से देखा। पहले उस दृष्टि से चौंककर रवि ने थोड़ा-सा मुँह खोला, और पिता की तीक्ष्ण दृष्टि को सह लेने के लिए अपने को तैयार करने लगा। एड़ी से चोटी तक उनकी दृष्टि भेदती जा रही है। बगीचे में और कोई नही है। पेड़ किस पुराने दिनों की पट्टभूमि है। याद आ रहा है, पिता ने बचपन में कितनी बार सिर के बाल पकड़ कान खींच उसे उठाकर पटका है, पीटा है, अभी भी आँखें वैसे ही जल रही है। लेकिन आमने-सामने खड़ा होने पर वह उनसे और भी चार अंगुल ऊँचा है।

कहा, "मैंने बुलाया था।"

रवि प्रतीक्षा में है।

उन्होने कहा, "बी. ए. तक पढ़ाया, तेरा मन करता तो और भी पढ़ता, मन करता तो नौकरी पकड़ता, नही की, वह तेरी मरज़ी—"

रवि ने कहा, "नही, मैंने नौकरी नही करने का निश्चय किया है। करने के लिए बहुत-सा काम है, नौकरी के लिए फुरसत कहाँ है ?"

उन्होने कहा, "अपनी बात तू जाने, मैं उस बारे में तुमसे कुछ कहना नही चाहता। हमारा तेरे प्रति एक कर्तव्य है। अबकी तेरा ब्याह कर देना है। लड़की ठीक की है, तालकणा गाँव के भालू पट्टनायक की बेटी। हमारे मन लायक है लड़की, इसी चैत-बैसाख में फेरा कर देना चाहता हूँ। सगाई कर आनी है। हमारे ज़माने में तो बेटे को इतनी बातें नही कही जाती थी, ब्याह के पहले दिन कह देने से चल जाता, ताकि अनुष्ठान के दिन वह घर में हो, कहीं गया न हो। अब तो कलजुग की बात, दूसरा ज़माना, तभी पहले से कह दिया। जाओ— ।"

आमने-सामने खड़े हैं बाप-बेटे। गम्भीर होकर रवि ने कहा, "पिताजी, मैं तो वहाँ विवाह नही कर सकता !"

"नही करेगा ? क्यों ? वहाँ बुरा क्या है ?"

"वैसे विवाह की बात बिलकुल सोची भी नहीं। फिर अगर भविष्य में विवाह किया भी तो और एक जगह—"

"क्या कहा ?"

"पाटेली गाँव में है, सिन्धु चौधरी...."

बीच में रोक कर गरजते हुए से वट महान्ती बोले, "कुलांगार, नालायक, मैं ने सुना था, मुझे पता न था। किसका बेटा है तू, किसका पोता ? तू ने मेरा सिर नीचा कर दिया। मेरे वंश में कालिख लगा दी। तुझे त्याज्य पुत्र करने पर भी कोई पाप नही होगा। तुझे पढ़ाया, आदमी बनाया, अब तेरे ये गुण निकल रहे है, छिः, छि. ऐसी बात सुनने से पहले मैं मरा क्यों नही।"

एक बार मुँह खोलने के बाद रवि का साहस बढ़ गया है। रवि ने कहा, "मूड़-

मूठ ही उनके शत्रुओं ने कुछ अफवाहें फैला रखी हैं, आकाश में सौ-सौ बातें बह रही हैं; अकारण ही, बिना दोष ही, किसी भले आदमी की मान-इज्जत नीचे घिसट रही है, एक निरीह बालिका का भविष्य नष्ट हो रहा है। यही तो पहला और विशेष कारण है, जिससे मैंने यह निर्णय लिया—"

"निर्णय! ओहो रे तेरा निर्णय! बाप के रहते, बड़े भाई के होते, अपने मन ही मन खाली निर्णय! कल का छोकरा, मुँह का तोड़ तो देखो। मर क्यों नहीं जाता जो मेरे सामने खड़ा होकर बातें कह रहा है।"

"आप व्यर्थ ही क्रुद्ध हुए जा रहे हैं, पिताजी! मेरा कोई दोष नहीं है।"

"... कुछ दोष नहीं। बिलकुल तुलसी है! छि छि., कुलांगार कहीं का!!"

बात बीच में ही रोककर वे बगीचे में पेड़ों के बीच टहलने लगे। चेहरा फूलकर कुप्पा हो गया था, गरदन फूल उठी थी, सिर की नसें तन गयी थीं, होंठ और गाल पत्थर की तरह कठोर दिख रहे थे, सब मिलाकर दिख रहा था जैसे उन्माद में हों। वहाँ मन की उग्र चिन्ता के अलावा और कुछ आ ही नहीं पाता। उनका इतना भयंकर क्रोध रवि ने कभी नहीं देखा था। उनकी आँखों से, कान से ज्वाला निकल रही है, चेहरा जल रहा है।

धीरे-धीरे वह वहाँ से लौट आया। लग रहा था मानो बहुत कुछ परिवर्तन हो गया है इसी बीच; जो समस्या आयी थी उसका समाधान हो चुका है, अब रास्ता सीधा है।

उस पर गम्भीर भाव दबाव डाल रहा था, उसे लग रहा था जैसे उसकी उमर बढ़ गयी है। जीवन का एक अध्याय समाप्त हो चुका है, अबसे नया दिन, नया उत्तरदायित्व। अपने हाथों से अपने बचपन का घरौंदा तोड़कर वह आगे बढ़ा है।

यही तो होना था—उसने सोचा। दो विपरीत धर्मों की तरह दो विपरीत मत एक साथ कैसे होते? दो व्यक्तित्वों का संघर्ष, दो इतिहासों का। अथच वह स्वयं भी उनसे ही सम्भूत है। शायद उनमें भी यह दिशा थी, और है भी, कहीं गहरे दबी रह गयी है। हर आदमी में सब कुछ है, नाना रोगों के जीवाणु ही नहीं, नाना भावों के जीवाणु भी हैं, नाना पेड़ों के नाना प्रकार के बीज, परन्तु वे सब बढ़ते नहीं। कोई-कोई ही बढ़ता है।

वे क्यों नहीं आये, यह तो नयी बात है, ऐसा तो कभी होता नहीं—रवि की माँ सोच रही थी, न जलपान किया, न पोथी पढ़ी, यहाँ तक कि पूजा भी नहीं की, भात खाने भी अब तक नहीं आये। धूप सिर पर आ गयी, यह बात क्या हो गयी, आज? दिन के ग्यारह बज गये। वे अब तक नहीं आये। रवि की माँ ने पास से कुंज को, जो

रिश्ते में देवर लगते थे, बुलाया।

"जाओ तो कुंज, अब तक वे क्यों नहीं आये? जरा बुला लाना तो! आज क्या उन्हें भूख-प्यास की याद ही नही रही?"

और आधा घण्टे के बाद रवि कही घूम-फिरकर लौट आया। पसीना बह रहा है। हँसकर कहा, "भात देना हो तो दे, नही तो मैं चलता हूँ—"

"किधर? इतनी जल्दी?"

"फूलशरा जाऊँगा।"

"इतनी धूप में?"

"धूप में कोई काम अटकता है?" रवि हँस पड़ा, "किस जमाने से पड़ा है बेचारा फूलशरा, कोई पूछता भी नही, जमींदारी उठ गयी, घर पर अब छावनी-छप्पर होते हैं या नही, किसे पता। ढेरों जमीन हैं। अब कही उजाड़ जंगल होकर पड़ी है। फूलशरा में डेरा डालकर रहने पर तो वहाँ बड़ा फ़ार्म बन सकता है?"

माँ ने चिन्तित होकर पूछा, "क्यों अपने नन्द तहसीलदार कही गये क्या? उन के जिम्मे तो सब था। गाछ, मछली, जमीन-जायदाद सब, सारी देख-रेख किया करते थे, अब क्या हो गया?"

"सो तो मैं नही कह सकता। सोचता हूँ, मैं वहाँ जाकर बैठूँगा, पिताजी तो यहाँ देख-भाल कर ही रहे हैं। दोनों बाँटकर सब पर ध्यान रखेंगे।"

थाली लगायी गयी। रवि खा रहा है, माँ ने प्रश्न किया, "पिता से तुमने पूछा?"

"तू कह देना, अच्छी बात के लिए वे क्यों इनकार करेंगे?"

माँ कहती जा रही थी—"बहू लाने के लिए सारा बन्दोबस्त कर लिया था, पर—" वहीं रुककर बेटे के चेहरे की ओर देखा, वह सिर नीचा किये मन लगाये कच्ची मिरच को ही चबाये जा रहा है।

माँ ने बात घुमाकर कहा, "भाई-भौजाई तो चाकरी गाँव में हैं, पिता अपने धन्धे-व्यापार में। तू मेरे पास रहेगा—यही आस की थी, पर तू भी चल पड़ा फूलशरा?"

"मैं क्या फिर नही आऊँगा?"

मेघाच्छन्न आकाश के बीच से सूरज की तीखी किरणों की तरह खिन्न हँसी हँसते हुए माँ ने कहा, "मरद बेटा ठहरा, कोई बेटी थोड़े ही है, जो लाज करेगा। जो तेरा मन करे, वही होगा। सबर करनी पड़ेगी। सहकर, देख-भालकर काम करना ही पड़ता है, फिर इतनी चिन्ता क्यों? इतनी छटपटाहट क्यों? आत्मा को कष्ट देकर कुछ न करना। देख बाबू रे, आत्मा कुशले सर्वसिधी—"

"उस-आत्मा की कुशल करते-करते तो अपने देश भर के लोग अपनी चोटी परायों के हाथ देकर रूखा-सूखा खाकर टूटे-फूटे झोपड़ों में दिन काट रहे हैं, बस केवल कुली-मजूरों का झुण्ड पैदा हो रहा है।"

"इतनी ऊँची नाक क्यों करता है ? रूखा-सूखा ही भला है । कुली-मजूर कोई बुरे हैं ? जिस के करम में है वह मास खाता है, किसी के करम में लिखा है, वह आदमी खाता है, असल में आदमी के अपने मन की शान्ति है । वह है तो सब है ।"

"पेट में आग भरकर कैसी शान्ति माँ ?"

"और थोड़ा भात खा ले ।"

"नहीं, नहीं, बस कर ।"

"अरे भर पेट खा जा, यों हड़बड़ी न कर—"

"पेट भर गया, और खाया तो फट जायेगा ।"

"जल्दी लौटना । वहाँ खायेगा क्या ? रहेगा कहाँ ? कैसे चलेगा ?"

"वहाँ भी तो आदमी हैं, पर बगाकर हैं, ये जब अपने हैं, [redacted] क्या अलग रहूँगा ?"

"नहीं, नहीं रे, कैसे असुविधा में जाकर पड़ने से क्या फायदा ? क्या करूँ, मैं चलती....ये तो घड़ी भर भी नहीं चल सकेंगे ।"

"तू रहने दे । यही तो है फूलसरा, कोई विलायत या अमरीका तो नहीं, मेरे लिए इतनी चिन्ता किस बात की ?"

दोपहर ही होंगे, रवि ने जब अपने कपड़े-लत्ते, किताब-कागजों की गठड़ी बाँधी और आकर माँ के चरणों में झुका । रवि की माँ अवाक् रह गयीं । मन में हल्के से मेघ घिरकर फिर साफ हो गया आकाश । रवि का चेहरा प्रफुल्ल था । फिर वही बात—जल्दी आना रे ? कब आयेगा ? कल या परसों ?" रवि के चेहरे पर खाली हँसी, "माँ चलता हूँ, अच्छा. !"

परन्तु उस के जाने के बाद मन में सन्देह हुआ । आज यह सब कैसा विचित्र, अद्भुत. ..सोचने लगी । पहले से कुछ न कहा, न पूछा, बस गठड़ी बाँधी और चल पड़ा फूलसरा, दिन के दोपहर हो गये, अब तक वे खाने भी नहीं आये ।

बोझिल-बोझिल सा लग रहा है, ऐसा तो कभी नहीं हुआ । कहीं वे रूठे तो नहीं हैं ?

गुस्से में होने पर तो बराबर कहा करते हैं—"जानती हो, मैं दुनियाँ को भूल सकता हूँ—इतनी ममता मुझ में नहीं है, जाते समय क्या कुछ बाँधकर ले जाना है ?"

उनकी बात सुनकर डर लगता । लोग सहम जाते । कहते, बात के पक्के ठहरे । पक्के आदमी, टूट जायें भले ही, झुकेंगे नहीं ।

अवस्था के अनुसार खुद को ढालकर परिस्थिति के साथ समझौता कर लेने की शक्ति उनमें नहीं है । पर लोगों के मुँह से ऐसा सुनना उन्हें अच्छा लगता, उन्हें लगता जैसे यह गौरव की बात है ! हँसकर कहते, "मैं तो सीधा आदमी हूँ, मेरी तो बस एक ही बात है ।"

वे समझते नहीं कि उनके अपने बड़प्पन की इन दो-चार बातों को चरितार्थ करने में औरों को कितना परिश्रम करना पड़ता है । कितना सुख का रास्ता छोड़कर

कदम-कदम पर डरते-डरते जैसे तलवार की धार पर चलना पड़ता है। लोगों को हैरान किये बिना 'एक बात' वाले आदमी कैसे कहलायेंगे? क्या दुनिया में यही वास्तविक बड़प्पन है? नहीं, इतना कठोर न होकर दूसरों का मन जानकर अपने को दूसरों के साथ मिलाकर हँसते-हँसाते जीवन बिता देना ही असली बड़प्पन है?

कौन सी बात बड़ी है? अपनी टेक या दूसरे का हृदय?

खुद भी खाया नहीं, प्रतीक्षा कर रही है। उनकी यह आदत है। परन्तु मन अशान्त है, आशंका की छाया भी पडती है वहाँ। उधर पति, और इधर बेटा, मन झूल रहा है। और उसके साथ-साथ वे। धूप से तपते-तपते पहले बरामदे में टहल रही थी। बाद से उचककर दूर देखती कि वे आ रहे होंगे। देर हो गयी तो कमरे में चली आयी।

अपना बेटा नया रूप लेकर आत्मप्रकाश कर रहा है। बट महान्ती गुस्से में जर्जरित मन होकर बगीचे के कुंज में चले गये, मानो यहीं उनका वानप्रस्थ है।

जिसे पाला था, जिससे आशा की थी, अचानक एक दिन देखा तो वह नहीं है, कहीं उड़ गया है। चेहरे पर छद्मवेश लिये खड़ा है अन्य कोई। समकक्ष होता-सा खड़ा है। वह अनुशासन मानने को राजी नहीं, उन्हीं के घर में रहकर वह चलायेगा एक नया शासन, सम्पत्ति उजाड़ेगा, नीचेवालों को बिगाड़ेगा, मनमाना ब्याह करेगा, चाकरी भी नहीं करेगा।

अचानक लगा जैसे बन्दरों के यूथ के बीच भाग-दौड़ में दो मुखिया बड़े बन्दर सामने हों और वह आगन्तुक दूसरा कोई नहीं, उनका ही अतीत है, उनका यौवन। जो दब गया था फिर उठ पड़ा है उनके बुढ़ापे के सामने अपनी आत्मप्रतिष्ठा के लिए। अत. वह उनकी आँखों से आँख मिला सब कुछ देख पा रहा था, उसकी बातों में विनय के साथ-साथ दृढ़ता थी, कातरता न थी।

जब उन्होंने रवि से कहा, 'तू मर क्यों नहीं गया!' तो वे अपनी सारी इच्छा-शक्ति लगाकर उस अजेय यौवन के विलय की बात मना रहे थे। इसके बाद वह वहाँ से चला गया था।

बगीचे में जगह-जगह पर टगर और मन्दार के पौधों का झुण्ड, ऊपर ही ऊपर लताएँ फैली है, सीग की तरह एक-एक लाल फूल खड़े है, नीचे गुफा की तरह हो गया है। और उसके दरवाजे पर मधुमालती मानो परदा किये है, झुके हुए अमरूद में उसके फूल भरे है, इधर-उधर के पेड़ो पर मधुमालती लिपटी हुई है। उसके आगे केले की बाड़ी, वहाँ लम्बे-लम्बे पत्ते फैलाये भिन्न-भिन्न ऊँचाई के केले के झाड़ खड़े है।

बगीचे का यह भाग मानो कोई भूला हुआ राज है।

बट महान्ती सीधे अमरूद के झुरमुटे में घुस गये, रसो कुंज लता, टगर और

मन्दार की गुँगी गुफा में अपने को निढाल किये पड़े थे, गाल पर हाथ रखे बैठे-बैठे सोच रहे थे।

आज उनकी दुनिया उलट गयी थी।

उनके मन में एक रागिनी बज रही थी। उस संगीत की एक ही टेर थी— जिस बेटे को आदमी किया, वही हुआ पराया।

एक बात का छोर पकड़ने-पकड़ते मानो वे साधारण सत्य तक पहुँच गये— कोई किसी का नहीं, बड़े होने पर आदमी के संजोके भी नाग बनकर डसने जाते हैं, दुनिया जंगल है, आदमी यहाँ हिंस्र जन्तु है।

इस हिंस्र अविश्वास का विष उनके मन में फैल रहा था। उलट-पुलट गरम माथे में डूबने-उठने वाले अस्थिर द्वीप की तरह एक-एक धारणा ऊपर उठती, फिर डूब जाती। बाढ़ का उफनता पानी गरज उठता—"मन चाहे ब्याह करेंगे! मन माफिक चलेंगे! फिर हम कौन हैं? घास काटनेवाले? बाप क्या है? बेटा कौन है? घर क्या है? समाज किसे कहते हैं?"

'मैं'पन का मोटा साँप अपनी ही पूँछ में से थोड़ा चबाकर छटपटा रहा था। समय का होश न था।

उत्तेजित आहत जन्तु की तरह बट महान्ती उस झुरमुटे में बहुत देर तक पड़े-पड़े साँसों में भर गये। धूप का तीखापन कम हो गया था, उसके साथ ढलकर कम हो गयी उनकी उमर की एक सुबह।

क्रमशः क्रोध ठण्डा पड़ता गया और क्षति का विषाद आया। बारम्बार सोच रहे थे, ऐसा बेटा भी कोई बेटा होता है, इसका तो मुँह भी नहीं देखना चाहिए।

उसी गुस्से की लपेट में आ गयी रवि की माँ। बट महान्ती सोच रहे थे, उसी ने तो हौसला बढ़ाया है इसका।

और याद आ गया बड़ा बेटा कवि—रास्ता तो उसने खोल दिया है! देहरी लाँघ, कुल की बहू को लेकर वही तो गया, उसका जो मन आया किया, उसमें किसी का क्या आता-जाता है? घोड़े की पूँछ में बाल रहें तो दूसरे का क्या है? सारी खराबी ही खराबी है—सब अविश्वास, सब पराये! उनका अपना कोई नहीं है!

और वे। किन्तु, इस सारे झगड़े-टंटे में झीकते-झीकते जीवन बिता आये इन्हीं के लिए, सिर्फ इन्हीं की खातिर। इस कुटुम्ब के भरण-पोषण के लिए आदमी वीर होकर भी चूहे की तरह चलता है। आज तक जिनके वास्ते उन्होंने इतना दुख सहा, उनके पास कृतज्ञता भी नहीं, प्रत्युपकार की तो बात ही छोड़ो।

छोड़ो, कोई किसी का नहीं....मन कहता है, वे अब उस घर में और नहीं जायेंगे।

"भैया! भैया!" कुज पुकार रहा है। बगीचे में आकर इधर-उधर आवाज लगा रहा है। बट महान्ती और भी गुमट-सिमटकर बैठे रहे। गले में कुछ खसखसा-सा हो

रहा है, खाँस लेते तो अच्छा होता, पर खाँसी को जबरदस्ती रोके बैठे रहे। कुज लौटा जा रहा है। देखकर थोड़ा चैन आया।

जानी-पहचानी परिस्थिति के बीच अनजान-अपरिचित की तरह रहने का नया अनुभव देख रहे थे।

विषाद के बाद वैराग्य आया। उनकी चेतना उसी वैराग्य में डूबकर कितनी दूर तक फैल गयी, माटी को छोड़कर आकाश तक फैल गयी, और प्रेतपुरी तक पहुँच गयी। सोचने लगे, कोई किसी का नहीं है, 'घट छूटे पर तुझे कहेंगे भूत रे।' यह संसार पड़ा रहेगा, आदमी अदृश्य हो जायेगा।

इसके बाद? सबको देखता होगा, कोई उसे देख नहीं सकेगा। सबकी बात सुनेगा, मन परखता रहेगा, पर कोई उसे जान नहीं सकेगा।

सुनाई पड़ रहा है कुज बाहर कह रहा है—"कहाँ गये, दिखते तो नहीं!" गली में कितनी बातें उनके बारे में उठ रही हैं, कि वे कहाँ गये, किधर गये, कहाँ रह गये!

ऐसे ही लोग हो-हल्ला करते रहेंगे। गया-गया कहकर बोलते-बतलाते रहेंगे। आत्मा इस माटी के घट को छोड़कर अन्तरिक्ष का मार्ग पकड़ेगी। कितने दिन का खेल है यह, किसका बेटा, किस की बेटी, किसका घर और किसका बाहर?

सब माया है।

उन्हें लगता है कि चित्त की चेतना उड़ी जा रही है, यह संसार छूटने को है। अचानक सब याद आ जाता है—बन्धक के कागजात, कर्ज की लिखा-पढ़ी, खातेदारों के के चेहरे, बक्से-सन्दूक, गाय-गोरू, जमीन-जायदाद, अमराई-पोखर। इतनी सारी चीजों की छाया उनके मन में सहेजी हुई पड़ी है। इनमें से कोई भी उनके साथ जानेवाली नहीं है।

इस वैराग्य की बात को सोचते हुए उनके साथ इनकी स्मृति भी पीछा कर रही है। इसके बाद और सोचना सम्भव नहीं। मानो देह का सारा बल चुक गया है। आलस-सा छा रहा है। जम्हाई पर जम्हाई आ रही है।

ज्वार की प्रतीक्षा करती किनारे पर एक जगह डोंगी पड़ी है। धूप बरस रही है। पेड़-पौधों की लताओं के बीच, गाँव की भीड़ के बीच इस एकान्त में दिख जाती है यही नयी दुनिया।

समाज के अगुआ वृद्ध बट महान्ती समय बिताकर देख रहे हैं—दो गिरगिट भाग-दौड़ करते घूम रहे हैं। पूँछ से पूँछ मिलाये दो तितलियाँ टगर पर बैठी पंख फरफरा रही हैं, मानो सृष्टि में सबसे बड़ा काम है इस तरह बैठे रहकर पंख खोलना, बन्द करना।

पास सूखी डाल पर बैठा गिरगिट सिर हिला-हिलाकर इस बात का समर्थन कर रहा है।

ठीक है, ठीक है, यही तो जीवन का स्पन्दन है, न बड़ा न छोटा। कोटि-कोटि घटों में कोटि-कोटि उभारों से वर्णछटा में जीवनीशक्ति का प्रकाश है।

विस्मरण—

रवि की जिद, अपना वैराग्य, खेती पर से बँटाईदार को हटाने की चिन्ता, गानेदार से पुराना ब्याज वसूलने का विचार, बूढ़ा गिरगिट, भागवत और अपना अतीत—सब मिलकर एक साथ गड्डमड्ड हो गये। जिस तरह सिवार से भरे थमे पानी में रह-रहकर मछलियों का रूप दिख जाता है। किसी बात का कोई अंश रह-रहकर मन की निगाह के आगे कौंध जाता, मानो किसी के फड़फड़ाते पंख हों। किसी की पूँछ की पड़ती छाया हो। किसी के लाल मुँह की नोक हो, या किसी की एक आँख।

पुराने पानी खाये हुए काठ की देह में कुकुरमुत्ते के उगने की तरह घट महान्ती के व्यक्तित्व पर बढ़ रहा है एक नया व्यक्तित्व।

वे अधलेटे देख रहे हैं—चीं-चीं करती गिलहरी नीचे फुदककर आ रही है, रुक जाती है, तनिक आगे बढ़ती है और फिर रुक जाती है।

एक मोटी गोह अपनी पतली, फटी हुई काली जीभ तीर की तरह लपलपाती फिर अन्दर खींचती घिसटती-घिसटती बाड़ की ओर चली गयी।

दो नेवले आगे-पीछे दौड़ते भाग गये।

केंचुआ रेंग रहा है, अपने-आप को खींचते-से ले जा रहे हैं छोटे-छोटे पौधे।

चमकती धूप में दिखता है—झुण्ड के झुण्ड कितने कीट-पतंग उड़ रहे हैं। छोटे-बड़े—यहाँ से आते हैं, वहाँ उड़कर जा रहे हैं, मधुमालती लता की झूलती हुई डाल पर खेल रही है कोई नन्ही चिड़िया। अपनी पैनी चोंच बार-बार फूलों के गुच्छे में डाल रही है, निकाल रही है। उसकी नीली-हरी पीठ पत्तों के हरे रंग के साथ-साथ मिल गयी है।

सबको अपना-अपना काम पड़ा है। सब अपने-अपने काम में कैसे जुटे हुए हैं!

छोटी-सी मकड़ी भी एक टगर की दो डालों के बीच जाला बुन रही है। सूँड़ी उनके देखते ही देखते एक पत्ते को छलनी किये दे रही है। काले और लाल-लाल छोटे-छोटे दाने गूँथकर बनायी माला की तरह उसकी छोटी-सी देह।

महलाती-सी, सिहराती-सी हवा बहने लगी है। दवणा, तुलसी, कुकरौंधा आदि की महक स्पष्ट पहचान में आ रही है।

दूर कहीं शंखचील की आवाज आ रही है—चें चें चें....

इतना ही संकेत चाहिए था। इसकी आवाज के साथ-साथ याद आ गया ठाकुरजी के पोखर का एकदम काला पानी, पद्मवन की सुगन्ध, सोयी स्त्री के खुले केशों की तरह के सिवार का जाल, थिर पानी पर ऊँचे पेड़ों की छाया, कागज की नावों की तरह तैरते हंसों की पाँत। स्मृति में धूप मुरझा गया, आकाश में बादल छा गये।

बट महान्ती सो गये।

सुलाने के लिए टिटहरी ने जैसे लोरी शुरू कर दी—"चट्-चट्-चट्-ट्-र-र।" और कपोत ने गुटर-गूँ की।

इस झुरमुटों के संसार ने उन्हें निविड भाव से अपना लिया है। सूखा काठ का टुकडा पडा है—पेड खडे हैं—कोई बूढा सोया है—सो रहा है—मानो ठीक यही सम्बन्ध बनाकर वे सदा से सोये हैं। यह उनकी सहज जैविक क्रिया है।

और वसन्त की सुराही से जल झरने की तरह शून्य से समय बहकर चू रहा है बूँद-बूँद, ढुलक गया है, बहने लगा है।

नीद टूटी तब सारी देह मे नाना प्रकार की अनुभूतियाँ थी। कही जलन, कही सनसनाहट, कही कुलबुलाहट। नाक पर लाल-लाल हृष्ट-पुष्ट तितली बैठी थी, उड गयी। पीठ पर जगह-जगह छोटी चीटियाँ चिपकी हैं। सिर के बालो में माटी के नन्हे-नन्हे जीव जल्दी-जल्दी बस्ती खडी करने मे लग गये हैं। घुटनों के नीचे सूँडी सोया है। तलुवों की ओर से छोटे-छोटे कीडे चढ़ रहे हैं।

हड़बडाकर बट महान्ती उठ खडे हुए। जल्दी से अपनी देह झाडी। हाथ की मार से कितनी तेजी से सब साफ होते जा रहे हैं। तभी रवि की याद आयी, और लगा, कि इसी तरह एक ही थप्पड में सब कुछ साफ हो जाता, सहज हो जाता, होगा भी।

बहुत देर हो गयी। ठाकुरजी उपवास कर रहे होंगे। देह थकी-थकी लग रही है। बट महान्ती ने पहली बार अपने आगे स्वयं स्वीकार किया कि वे बूढे हो चले हैं।

दोल पूनम के बाद ही उनका जन्मदिन पडता है, अठावनवाँ चलेगा। बहुत दिनो से जन्मदिन नही मनाया। बहुत दिन बाद उन्हें अपने पिता और माँ याद आये। वे सब सुखी थे, वे स्वय भी सुपुत्र थे, तब का जमाना और था। यह आजकल की तरह—

घर पहुँचते हो देर का कारण समझाने से पूर्व अपनी स्त्री से पूछा, "रवि कहाँ गया ?"

"आप के साथ कुछ बातचीत कर आया और फूलगरा गया। कह रहा था कि यहाँ आप देख-रेख कर ही रहे हैं, वहाँ वह देख-भाल रखेगा। ऐसा क्या उजड़ रहा है वहाँ जो बन्दोबस्त करेगा। बहुत सारी बातें कह रहा था। कहा, बापू से कह देना, वे मना थोडे ही करेंगे ?"

भौंचक खडे रह गये, मानो चेहरा पथरा गया हो। दो क्षण बीते, और फिर उनके मुँह से निकला, "दो बेटे हुए, दोनो अपने-अपने रास्ते चले गये। हम बूढे-बूढियों

ये मरने-जीने की सोज-खबर अब किसे रहेगी ?" छोटा बच्चा व्याकुल होकर जैसे जिद करता हो रवि की माँ की देह में छन् से बातें टकरायीं। हृदय में हूक-सी उठी। जीभ थरथराकर जैसे रूठे स्वर में कहा, "आप ने तो समझा नहीं, यह अब कोई बच्चा थोड़े ही रह गया ? उसका मन न माना। उसकी बात न रहे तो वह चैन पायेगा ? हो जाता ब्याह उन गिन्नू चौधरी के घर में, कौन-सी दुनिया उलट जाती ? फिर लोग जात-कुजात में भी तो ब्याह करते हैं, मेम लाकर बैठा लेते हैं, तुम तो बस केवल बारीकी से जाँच करते रहोगे। खैर छोड़ो, अपने भाग में नहीं लिखा !"

बद महान्ती अचानक फिर बड़े पड़ गये। कहा, "तुम समझती तो हो नहीं, जायें जहाँ उसका मन करे। मुलायम लोहे को बिल्ली भी काटती है—नहीं क्या ? कुत्ते को चूमो, वह भी मुँह काटेगा। ठीक है, जाने दो, देखें, पानी किस क्यारी की ओर मुड़ता है।"

अब फिर उनका चेहरा कठोर हो गया है, किन्तु उनकी भंगिमा में बच्चों की सी निरीहता न थी, कठोरता के साथ उदासीनता ही पहचान में आ रही थी।

कहा, "यह सब मत सोच। पैर हुए हैं, चलेंगे, पंख उगे हैं, उड़ेंगे ही, कोई तेरे-मेरे साथ-साथ नहीं चलेंगे। झूठी माया को सच मानकर क्यों तड़प रही हो ? आदमी कर्तव्य करने आया है, कर्तव्य करते-करते लुढ़क जायेगा। किसी से कुछ पाने की या लेने की तो आशा है नहीं। तुम जिसके लिए इतना सोच रही हो, उसने क्या तुम्हारी बात पर ध्यान दिया, या वह तुम्हारा मान ही रखता है ? जीते जी मैं बाघ के घर में मिरग का नाच नहीं होने दूँगा। मेरे पिता ने मुझे नहीं सिखाया।"

वे चले गये ठाकुर जी की पूजा करने।

रवि की माँ के विचारों से मानो कुहासे का परदा उठ गया। रवि के फूलशरा जाने की बात साफ हो गयी।

साथ ही आँखों के आगे कुहासा-सा छा गया। जीभ थर्रा गयी। घर खाने को दौड़ रहा था। जाये वह, मरद बेटा है, जहाँ जाये, अपना करम अपने साथ है। ऊपर धर्म है। वह बड़बड़ा रही है। रवि का भला मनाते हुए ठाकुरजी की देहरी पर सिर बारम्बार टेकने पर भी नासमझ आँसू कोई रोक-टोक मानने को तैयार नहीं।

आँगन में कौवे ने काँव-काँव की। मुड़कर छलछलायी आँखों से उसकी ओर देखकर कहा, "क्या कहता है रे ? तुम कौवे, तुम से ही बोल ! क्यों, रवि शाम को लौट आयेगा तो ?"

पर अपना मन ही खुद को डराकर उत्तर दे रहा था—वह इतनी जल्दी लौटने-वाला नहीं है।

सुनाई दे रहा था, रवि के पिता ने घण्टी टनटनाकर ठाकुर जी की पूजा शुरू कर दी है। सूने रास्ते की ओर देखते बीच का घर उढकाये रवि की माँ खड़ी है। इस घण्टी की टनटन के साथ याद आ जाता है—कोई नन्हाँ, जो किलकारी मारता दौड़ता

चला आता है। उसके सिर के घुँघराले बाल लहरों की तरह नाच रहे हैं। चेहरे पर, आँखों में उत्तेजना है। उस घण्टी की टनटन के साथ याद आ रहा है—थोड़ा-सा गुड़ या छेना, उसमें तुलसीपत्ते लगे होंगे एक-आध। वही प्रसाद पाने के लिए कोई दूर से दौड़ा आ रहा है। वे रवि के बचपन के दिन थे, हँस-मुख बालक, गले में पतली सोने की लड़। कहाँ, कितने दिन की बात हो गयी!

दृष्टि गयी—चिड़ियाँ छाल के नीचे फुर्र-फुर्र करती उड़ रही हैं। एक-एक कर बाहर उड़ती जा रही हैं। कितनी ही इस प्रकार उड़ती गयी हैं! कब से!

और इधर बच्चे नहीं आते। कभी मन किया तो बस्ती से बुलाने पर ही कोई आयेगा। नहीं तो नहीं।

खाली घर। खाली चौक। ऊँची आवाज में वट महान्ती भागवत पढ़ रहे हैं, जल्दी-जल्दी छटपटाते हुए, मानो कोई शब्द-समुद्र हो। अर्थ खिलने तक की प्रतीक्षा वहाँ नहीं है। बस केवल नाद-ब्रह्म, इहलोक में आत्मा शीतल होगी, परलोक में मुक्ति मिलेगी।

परन्तु उस रागिनी से, स्वर की उस भंगिमा से मानो सुनाई पड़ रही है—गहन मन की हिलोर लेती अभिमान के शब्दों की तरंग।

दीर्घ साँस छोड़ती-छोड़ती रवि की माँ परोसने के लिए चली गयी।

बई मलिक छाजन तले बैठा अमिया के साथ पखाल खा रहा था। दरवाज़े पर छोटे साआन्त को देख ठहाकेदार हँसी के साथ उठ खड़ा हुआ। हाथ जोड़ नमस्कार किया। जल्दी से आवाज़ दी, "माँ, पानी से हाथ धुलाना तो!"

"यों हड़बड़ी मत करो, खा लो, मैं कहता हूँ।" रवि ने कहा।

बई की माँ सेरेन्ती आयी। खुशी से भरकर बोली, "कैसे आये? धनभाग, गरीब के घर साआन्त के पाँव पड़े, अब क्या करूँ! अरे बइया, ले निगल ले निवाले! देखता क्या है, काँसा लगा दे मुँह में—"

"रहने दो, रहने दो बई की माँ, एक जगह जाना है सो बई को साथ लेने आया था। काम तो कहीं जाता नहीं, उसे बैठकर आराम से खाने दो—"

साथ जाने के लिए साआन्त जी खुद बुलाने आये हैं। "किसी से खबर भेज देते तो बइया खुद दौड़ा जाता। जायेगा नहीं क्यों! कहेंगे तो बीस कोस भाग जायेगा। आपकी जगह में घर खड़ा किया है। बाबू, सात पुश्त आपका ही दाना खाकर जीये हैं, आपका नहीं करेंगे तो किसका करेंगे?"

बई की बहन गेल्ही हाथ में लम्बी लग्गी लिये पीछे की ओर से निकलकर हँसते-हँसते खड़ी हुई और उसका छोटा भाई दस वर्ष का नंगा बई पीठ की ओर हाथ

जोड़े रवि के पास आकर एकदम सीधे आदमी की तरह खड़ा हो गया। उसकी ओर चुपचाप देखने लगा।

पीछे की ओर से आ गयी बई मलिक की बछिया, चमकदार नाक उठाकर रवि को सूँघने लगी, और उसकी पीठ पर अपनी जीभ धीरे-धीरे बढ़ा दी, वह चाटने लगी।

झोपड़े के आगे पोई की बेल से बनी क्यारी टूट गयी है। पोई के झुरमुटे के बीच घूम रही बिल्ली हठात् उसे देख सहम गयी और उधर देखने लगी, एक प्रश्नवाची भंगिमा से।

बई मलिक निवाले पर निवाला ठूँसे जा रहा है, इधर मुँह में भात भरे गों-गों करता बातें कर रहा है।

सामने उसकी यह ढाई कोठरी की छोटी-सी झोपड़ी। टूटना-फूटना, मरम्मत करना लगा ही रहता है। हल्की-हल्की छाया किये घर और आँगन को घेरे खड़े हैं पाँच-सात सहजन के पेड़। उन पर कच्ची-कच्ची फलियाँ लम्बे-लम्बे पतले सीखों की तरह झूल रही हैं, गाँठ-गाँठ पर पीला गोंद और सूँड़ी भरे हैं मानो पेड़ गरम कोट पहने हैं। पास ही में केवड़े की बाड़, छोटा-सा पोखर, बाँस का झुरमुट और अमराई है।

जल्दी से खा-पीकर पान डाला मुँह में और बहँगी लेकर निकला। तबतक दस मिनट भी नहीं हुए थे। अखाड़े के बरामदे में रखी थी रवि की छोटी-सी गठरी, और एक छोटा सूटकेस।

रवि बोला, "वैसे कोई खास बोझ-बाझ नहीं है रे बई, मैं ही ले जाता। पर चारों ओर से सोचकर देखा, रास्ते के लिए एक साथी चाहिए।"

"मेरे रहते हुए आप सामान ढोयें ?" बई ने कहा।

बई उसकी ही उमर का होगा, बचपन का साथी। रवि जानता है उसकी खातिर बई पानी में भी छलांग लगा देगा।

किन्तु साहस कर बई मलिक को साथ लिये नये रास्ते पर चलते समय पग-पग पर पुरानी माटी का मोह मन को खींच रहा था। बचपन से वह अपने और इस गाँव में रहा। यहाँ की हर जगह की स्मृति घुल-मिल गयी है। इस गाँव का बहुत कुछ ऋण उस पर है, उतार न सका तिलभर भी। गाँव के अभावों को लेकर सोचा है, पर कभी कुछ कर न सका।

गाँव से निकल किनारे-किनारे कुछ दूर जानेपर उसका टीसता मन पुनः दृढ़ होकर फिर अपनी सहजता में लौट आया।

लम्बे-लम्बे डग भरता चल रहा है बई मलिक। सुनता रहा रवि की बातें, पर वह बिलकुल ही नहीं समझ सका कि रवि आज इस तरह क्यों बक रहा है। रवि का उत्साह देख वह भी जोश से भर उठा। और समझे चाहे न समझे, रवि का जी जान से समर्थन करता हुआ कहने लगा, "ठीक है, बिलकुल ठीक—"

किनारे-किनारे खूब उत्साह में गप्पें मारते चले जा रहे हैं दोनों युवक। उन्हें

न धूप काट रही थी, न रास्ते की थकान ही छू रही थी। टपटप पसीना चू रहा था, अपने सपनों का गड़ा संस्कार-कार्य चल रहा था जवानी ही जवानी, जल्दी-जल्दी।

"इस पुराने बाग को देखो वई, रवि ने बताया, "जो कुछ यहाँ देख रहे हो सब मान्धाता के जमाने से लगाया हुआ है। अब यहाँ नया कुछ लगा सकता है कोई, या इसमें कहीं जगह है उसके लिए? केवल न फलनेवाले पेड़ ही खड़े हैं, वे भी ढंग से नहीं। काटकर साफ कर देने तो ये काठ ही काम आते। पर क्या बूढ़े-बड़े मानेंगे? कह देंगे किसी ने लगाये थे, रहने दो—"

वई हँस पड़ा। कहा, "कुछ भी नया करने जाओगे तो लोग आड़े आयेंगे।"

रवि ने कहा, "इस पुराने आम के बाग की तरह ही अपने समाज का चलन है, वई! इस चलन से ही इतने बड़े-बड़े आदमी पैदा होते थे, पर आज सब खजर हो गया। उसमें जितना कुछ भला है, उसे रख लो, बाकी नये सिरे से गढ़ सके तब न सबका भला होगा; वरना क्या होना है? जिधर देखो, किसी के पास कण है तो किसी के पास मन। जात-पाँत, छुआ-छूत, दलबन्दी, ईर्ष्या-द्वेष—यही तो है अपना समाज। आदमीयत तो खत्म हो गयी; खाली मुरदे पर अतर छिड़कने की तरह बाहर से चिकना-चुपड़ा देखने के लिए कहीं थोड़ी सड़क तो कहीं पोखर....बस इधर-उधर यही कुछ करा देने से क्या होगा?"

वई मलिक ने कहा, "सच बाबू, एक-एक बात सच है! किसका क्या जाता है? दबाव तो पड़ता है हम गरीब आम आदमी पर! सब थोड़ा-बहुत कुछ कर-करा लेते हैं, हमारी बारी आने तक कुछ नहीं।"

"यह अवस्था बदलनी पड़ेगी, नया समाज गढ़ना ही पड़ेगा।" रवि ने कहा। धूप, गरमा-गरम बातें, पसीना और ऊमस सब मिलाकर उसका चेहरा कैसा अजीब-सा दिख रहा था। वई मलिक ने प्रकाश में चमकते उसके चेहरे की ओर देखा। नदी के किनारे एक बड़े जामुन के पेड़ के नीचे कुछ समय के लिए वे ठहरे। थकावट उतनी नहीं, यों ही बातें करने के लिए। रवि कह रहा था, "सब फटा-फटा दिख रहा है, सबका मन समाज की ओर से खट्टा हो चुका है। क्या होगा ऐसे समाज का? इससे कभी उद्धार होगा?"

वई मलिक ने सहारा दिया, "कैसे होगा उद्धार? यह तो भस्म होगा।"

रवि ने कहा, "यदि सब भस्म होगा तब हम तुम हैं किसलिए? ऐसे ही अपने-जैसे करोड़ों लोग हैं, वे सब चाहते हैं कि कैसे सब मिल-जुलकर सुख से जीयें। किसी का किसी से झगड़ा न हो, मनान्तर न हो। इस तरह के इतने लोग रहते हुए भी यह दुनिया राख होगी?"

वई ने उत्साह में भरकर कहा, "कदापि नहीं।"

रवि ने कहा, "केवल कहने भर से नहीं चलेगा, सोचने से कुछ नहीं होगा,

काम करना पडेगा। कौन करेगा ? हमी तो। प्रत्येक घर बनेगा ईर्ष्या को निकालकर निर्मल करने के लिए एक-एक दुर्ग, हर आदमी होगा शान्ति और मैत्री का अग्रदूत, एक विराट् भाईचारा गढा जायेगा घर-घर में, गाँव-गाँव में। इस तरह जुबान से कह देने भर से नहीं होगा, कार्य में दिखा देना पडेगा, सुख में दुख में, युग-युग में सब आदमी भाई-भाई—"

बई उसके चेहरे की ओर ताक रहा था। तन्मय हो डूबा सुन रहा था। बात का अर्थ समझे या न समझे, वह एक भावना में खो गया था। उस भावना में आशा थी, उत्साह था, विपुल आनन्द था। मानो मन के गहरे से कोई संगीत सुन रहा था। उसकी एक-एक लहर पर उठ-गिर रही थी उसकी चेतना।

उल्लास में भर वह चिल्लाने लगा, "वैसा ही होगा। वही होगा।"

रवि ने कहा, "हमें गढना पडेगा। सब गाँवों में, देश भर में। अपने आप सब ओर से आकर मशालें इकट्ठी हो जायेंगी, अँधेरा फिर नहीं रहेगा।"

देह हिलाकर सिर डुलाकर बई ने उसकी बात का समर्थन किया। दोनों आशा-वान् युवकों के मन में कोई अवसाद न था। कुछ असम्भव नहीं दिख रहा था उनकी धारणा में, बस केवल प्रकाश, आशा और तेज झलक रहा था।

चल रहे हैं गढ जीतने सैनिकों की तरह दो युवक। आँखों में उत्साह भरा है, उन्हें सामने स्वप्न और विश्वास दिख रहा है।

इसी पुराने नदी के किनारे ने देखा है कितने महापुरुष गये हैं इसी रास्ते। जाना खत्म नहीं हुआ, चल रहा है बारम्बार। प्रकाश बुझा है फिर जला है, नदी किनारे की हवा में घर टूटा है, फिर खडा किया गया है।

आशा की धारा सूखी नहीं, जीवन के आनन्द के लिए शोक भी कम नहीं, आदमी इसमें अब भी लगा हुआ है। आनन्द है।

बायीं ओर रास्ता है। किनारे से उतरकर नीचे की ओर चला गया है। किनारे के नीचे अकेले-दुकेले घने पेड, केवडे के झुरमुट, जगह-जगह बाँस के झुण्ड, उनके उस तरफ ऊँचे टीलों से भरा रास्ता, वहाँ पर बीच-बीच में दीमक की बाम्बियाँ। वहाँ कुछ बेरों की झाडियाँ। मोम लगाने की तरह चमकदार ढेरों हरे-हरे पत्ते, उनके ऊपर सफेद फूलों के गुच्छे। जगह-जगह हाथ उठाये नागफनी, पतली हथेली की तरह मोटे-मोटे हरे टुकडे, काँटों में करम के से फूल, नाकों पर कलियाँ, जगह-जगह लाल फूल हैं। एक-एक बाम्बी से लताएँ जाल की तरह लिपटी हैं, रंग-बिरंगे फूल बडे तरीके के साथ सजे हैं। आम के पेड से मधुमक्खियों की गुनगुनाहट, कटहल के पेड से महक आ रही है। चिडियाँ एक-दूसरी को बहती-पुकारती चें-चाँ कर रही हैं, या बदा-बदी कर गीत गा रही हैं।

फूलशरा गाँव का रास्ता इधर से हो गया है। खेतों के किनारे-किनारे पगडण्डी साँप-जैसी टेढी-मेढी होती चली गयी है।

वई ने कहा, "ये सारी वाम्बियाँ। मानो सभा में बैठे लोग हों। बैठे-बैठे कुछ सोच रहे थे, और फिर वाम्बी बन गये।"

रवि ने उत्तर दिया, "वाल्मीकि ध्यान करते-करते वाम्बी बन गये। कितने ही वैसे हुए। काईपदर जाओ, वहाँ देखोगे एक वडा और एक छोटा माटी का टीला है, चन्दन पुता है। लोग कहते हैं—वडा पीर है, छोटा है चेला। वे भी ध्यान करते-करते वाम्बी हो गये।"

वई ने कहा, "यह भी किसी योगी ऋषि के स्थान की तरह लगता है, कितने काठचम्पा यहाँ हैं, और उधर देखो वे मौलसिरी के पेड़।"

रवि ने कहा, "अरे, और कब तक आदमी वाम्बी बनकर बैठा रहेगा। वाम्बी की भी नींद टूटती है। तभी तो वाम्बी की चोटी में सफ़ेद फूल खिले हैं। वाम्बी भी नया जीवन पाकर खड़ी हो रही है। सूखे काठ में भी रस-संचार हो रहा है। अब आदमी के हृदय में ईर्ष्या भी स्नेह बन जायेगी, दुनिया नयी होगी।"

उद्बुद्ध होकर वई मल्लिक ने कहा, "सब होगा, मन हो तो सब होगा। कहते है, सबसे बड़ा मानव जीवन है। देवता भी तरसते हैं इस के लिए, पाते नहीं।"

अगण्य ताड़ के पेड खड़े हैं, कतार के कतार खजूर के पेड़। गायें चर रही हैं। इधर-उधर पगडण्डी होकर कितने लोग आ-जा रहे हैं। वाग की छाया, फिर कड़ी धूप। जगह-जगह दाहिनी ओर के घने वाग के बीच से, बाँस के झुरमुटों की फाँक में से गाँव के झोंपड़े दिख रहे हैं।

बातें करते दोनों युवक उत्साह में भरे चले आ रहे हैं।

रवि कह रहा था, "दुनिया भर में हमारे जैसे कई लोग कितने प्रकार से चेष्टा कर रहे हैं। कैसे सब लोग सुख शान्ति से रहें, सदा के लिए, ताकि युद्ध बन्द हो जाये। किसी की चमड़ी सफेद है, किसी की काली, किसी की हल्दि। किसी का कैसा चेहरा है, कैसी भाषा, कैसी पोशाक है। सबके हृदय में एक उद्देश्य—सब के प्रति स्नेह, विश्वास।"

वई ने कहा, "आदमी क्या बुरा है? सब आदमी अच्छे हैं। सकल घटे नारायण।"

रवि ने कहा, "स्नेह किये से आदमी होता है आदमी। डर, भय, जीत सका तो मरण को भी जीता जा सकता है। आदमी का जीवन कोई कम सुन्दर है!"

वई ने कहा, "वो आगे दिख रहा है फूलझरा गाँव, जो भी कहे, नाम कितना चुनकर दिया लगता है। और इतने पुराने पेड इस खण्ड मण्डल में न होंगे।"

तो, यह आ गया फूलझरा गाँव—रवि की चेतना पर हलकी लहर-सी बह गयी। कुछ हटकर एक ऊँचान पर रुककर खड़े हैं दोनों—रवि और उसकी ही उमर का वई मल्लिक, एक जैसे दिख रहे हैं पास-पास। एक गोरा, रवि, और दूसरा काला चमचमाता, वई—मुलों देह, तराशे गये से गँठीले हाथ-पैर, चौड़े कन्धे, सिर पर बालों का गुच्छा

गाँव के बड़े पोखरे में, जहाँ इमली के पेड़ के नीचे वह बैठा था, पद्म फूल देख रहा था। अचानक उसमें एक मछली ऊछल पड़ी। कोई-कोई आदमी भी उसे याद आ जाते। कहाँ रहती है इन सब लोगों की स्मृतियाँ मन में सहेजी हुई। वह सोच रहा था—किसी जगह पर पैर पड़ते ही अपने आप ये निकल आती हैं।

उस बार वह आया था—बाहरी दर्शक बनकर, अब की उसका उद्देश्य भिन्न है। वहाँ खड़े होकर सामने दिखते गाँव के सघन पेड़ों की ओर देखा उसने, और साथ ही साथ मन दौड़ गया अपने गाँव बन्चमूल की ओर। पहले माँ याद आयी, फिर पिता, और बाद में चाँद से याद आ गया पाटेली गाँव में सिन्धु चौधरी के घर का दृश्य। वहाँ किवाड़ की आड़ में खड़ी उसकी मानसप्रिया, छवि ! इन सबको एक साथ मिलाकर इस माटी पर चलता उसका नया जीवन ! उसने दीर्घश्वास छोड़ा।

छाया लौट आयी है। कितने ऊँचे और आकाशी दिख रहे हैं इस गाँव के बड़े-बड़े घने पेड़—चकवड़, सिरस, सेमल, बरगद, पीपल। उनकी निचली थाक में दिख जाते हैं वैसे ही घने-घने आम के पेड़, और पता नहीं क्या-क्या। नीचे से ऊपर तक सारी थाकों में दिख जाते हैं—नारियल के पेड़ों की फुनगियाँ। नीचे बाँस की बनी की दीवार दिख रही है। बीच-बीच में केवड़े के झुरमुट और घनी बाड़ के घेरे के बीच सकरा रास्ता पड़ा है गाँव में घुसने को। खेतों की ओर से आकर अनायास उसी रास्ते से घड़र-घड़र करती घुस गयी एक बैल गाड़ी। डाला बँधा है, धूल उड़ती जा रही है।

बाहर, आठ-दस वर्ष के चार बच्चे निकले। दो के हाथ में बाँस की बंसी। एक के हाथ में टोकरी, और एक नारियल की काँचली लिये हैं।

"क्यों रे बच्चो, किधर निकल पड़े ?" रवि ने आवाज दी। खिसककर लड़के भाग गये।

दोनों हँस पड़े। बई ने कहा, "सारी दोपहर तो धूप में फिरते रहे हैं ये, मन में धुकड़-धुकड़ है। किसी ने आवाज लगायी कि बस छू-मन्तर।"

"एक स्कूल होता तो ये दो अक्षर सीखते।" रवि ने कहा, "जिधर जाओ, बस यही सवाल ! क्या होगा ? बच्चों पर कौन नजर रखता है ? लोगों की नजर तो बड़े-बड़ों पर है। मतलब, अभी जो है, उसी पर। कल क्या होगा, वह तो बाद की बात है। ठीक है, बदलेगा तो। चलो, चलें। जमींदारी के जमाने का कचहरी-घर तो उस सिरे पर है।"

वे लोग गाँव में घुसे। वही पुराना दृश्य। थोड़ा-थोड़ा हटकर बस्तियाँ। रास्ते में बगीचा, बाड़ी का घेरा, छोटा पोखर, पोखरी। घर के सामने खुला गुहाल, जगह-जगह मूत, कीचड़, गोबर की कुरी। दीवार पर चिपके कण्डे, वही पिठोऊ की रेखा। टूटे-फूटे गरीबों के कई मकान। जगह-जगह ढेंकी गड़ी हैं, कुटाई चल रही है। अनजान आदमी को देख जगह-जगह बच्चे सहमकर पीछे हट जाते हैं। राह चलती स्त्रियाँ सिर पर घूँघट खींचकर मुँह और नाक के नीचे तक मूँदकर पीठ फेर खड़ी रह जाती हैं।

चल रहा है, चला जा रहा है, वही पुराना रास्ता। किसी-किसी घर के सामने पत्थर की सीढ़ियाँ। हर घर के सामने तुलसी चौरा। गाय बाँधने का खूँटा। रास्ते के किनारे खाई में अभी भी सूखे बेंत के फूल कहीं-कहीं गड़े हैं। उसके पीछे पक के रंग गये बैंगनों की क्यारी, फिर नये बैंगनों की क्यारी, हरी मिर्च। बूढ़े हो गये भिन्डी के पौधे, एक-एक मुड़ी हुई भिन्डी डाल की नोक पर लगी है। बाड़ में बादर, कंगन, पालधी के फूल खिले हैं। भीनी-भीनी कहीं से आ रही है नागेश्वर के फूलों की सुगन्ध, और कटहल के फूलों की भी। फूलों से भरे कद्दूवन चारों ओर छाया फैलाते हैं, पत्ते बहुत कम हैं, छान पर अभी भी लौकी की लता, सेम की लता लिपटी हुई है, सूखने को आयी है, एक आध लौकी लटक भी रही है। जगह-जगह नाना प्रकार की भंगिमा में नारियल के पेड़, सीधे, तिरछे, बौने। खाई में बेंत के पेड़।

वही पुराना दृश्य। किनारे पर, गन्दी कूड़, सिवार कचरा—सैवाल। वही-वही दह। सब पर बोझ रखने की तरह गाँव के स्वभाव की विचित्र सत्ता दिखाई दे रही है। भला-बुरा, धनी-दुखी, सब उसी के नीचे हैं।

मानो ऐसे ही चलता आया है युग-युग से। गाँव के उस सिरे पर कुछ हटकर जमींदार के घर का अहाता है, चारों ओर जंगल की तरह फैला झाड़-झंखाड़। छान दब गयी, घर की दीवारों का पलस्तर फटा-फटा, झाड़ियाँ, पेड़, गड्ढे, अहाते के अन्दर इधर-उधर टूटे हुए मकान।

बई ने ऊबकर मन की बात खोलकर कह दी, "धू! आदमी रहते हैं यहाँ?" छान के नीचे बोझ रखकर चारों ओर लालसाओं से नजर घुमायी।

रवि ने कहा, "यहाँ मैं रहूँगा अब। तू तो लौट जायेगा। बैठ, पसीना सुखा ले। मैं जाकर देखता हूँ, तुम्हारे लिए क्या कुछ खाने को मिलता है। मैं तो यहाँ रहने के लिए आया हूँ।" रवि जल्दी से चला गया। बई बैठकर पसीना सुखाने लगा। रवि के प्रति स्नेह और कृतज्ञता से उसका मन भर गया। खुद विश्राम न लेकर वह गया है—बई क्या खायेगा यह देखने, ठीक करने। सोचने लगा, सदा यह ऐसे ही उदार रहा है, सच्चा आदमी, स्नेही। इतना भला, इतना सरल आदमी कहीं न होगा। बई मलिक जनम से समाज के निचले स्तर पर है, उसे अधिक कुछ चाहिए नहीं—पेट भरकर कुछ खाना और आदमी के रूप में कोई उसे पूछे बस। वह भी मिलता नहीं उसे समाज के लोगों से। 'बई' कहकर भी कोई नहीं बुलाता, कोई पुकारता तो 'बइया' या 'अबे बइया।' यह व्यवहार उसे जनम से ही सहना पड़ रहा है। बई सोच रहा था, भगवान् ने जिसे जितने में रखा। अपना करम है और किसे दोष दें? सोच रहा था कि इस जनम मे जितनी निराशा है, मन के जितने अरमान है, अगले जनम मे बड़े घर में पैदा होकर वह मिटायेगा, तब तक सबर करनी होगी।

परन्तु रवि की बातों ने उसकी इस धारणा को ही उलट दिया था।

शुरू से ही उसमे रवि के प्रति विश्वास है। उसके जानते वही एक मात्र आदमी

है जिसमें जाति-कुजाति का भेद नहीं, अपने-पराये का विचार नहीं। तभी तो वह सबका बन्धु है। उसी पर आशा है सबकी। बातें उसके मुँह से सुनने पर अधिक रुच लगती है। बर्ई सोच रहा था, मान लें अगर दुनिया में छोटे-बड़े, धनी-गरीब की व्यवस्था भगवान् की बनायी न होकर केवल कुछ लोगों की बनायी हुई है, तब यह अवस्था कितनी भयावह है। कितनी शठता, ठगी, चोरी, डकैती। फिर भी यह पहले से चली आयी है इसलिए सहना पड रहा है।

"देखो बई, अपनी देह को देखो, पेट देखो। आदमी होकर भी तुम मन इच्छा का खाना नहीं पाते, पहन नहीं पाते, यह क्या तुम्हारा कसूर है? नहीं। जो तुम्हारे जैसे गरीबों का खून-पसीना जमा कर बड़े आदमी हो गये हैं, उन्हीं के कुचक्र से तेरी यह दशा है। एक बात समझ—भात बना है। घर के सब लोगों को खाने को मिले इस बात पर ध्यान न देकर दो-तीन लोग ही यदि सारा हड़प लें तो यह औरों के मुँह से छीनकर खाना हुआ या नहीं? दुनिया भर में धन का बँटवारा भी बिलकुल ऐसे ही है। कुछ लोग अगर मार-पीट कर, छीन कर महल बना लें तो और लोग भूखों तड़पने लगेंगे ही।"

रवि की बात सुनकर बई को लगा कि यदि कोई शत्रु पास होता तो वहीं पहले उसका सिर तोड़ता। उसे गुस्सा आया है, जैसे नदी में बाढ़ आती है। सरल आदमी के मन में सन्देह उगता है। बिन्दु की तरह नहीं दिखता। दिखता है विशाल मेघ की तरह।

नयी दृष्टि से उस धनी बेतरतीब बाड़ी को देख, दाँत रगड़ कों-कों साँस छोड़ता बई मलिक कह रहा है—"ठग लिया हमें, ओफ्!" मानो कोई नया आविष्कार कर रहा है वह, अपनी दुरवस्था के साथ पृथ्वी की समाज नीति की तुलनाकर एक नये सूत्र की व्याख्या उसने सुनी है।

उसके मन की उस अवस्था के साथ समान रंग का दिखता है—जतन के बिना टूटे हुए अहाते का दृश्य। बड़ा अहाता, चारों ओर हरी बाड़ जंगल की तरह उठी है। केवड़ा, थूहर, मेंहदी, रामजड़ा। जिधर चाहे उधर फैल गया है। एक साथ दिख रहा है असामंजस्य, कुत्सा। बाड़ में नाना प्रकार की बेलों की फैली-पसरी गुँथी-मुँथी, पीली अमरबेल, खूब हरी दातमूली, गोल-गोल लाल-लाल फलोंवाली बेल, घुंघची, लम्भ-आलू आदि की कितनी बेल-लतर पसरी-फैली हैं? कितने मरे-अधमरे और कितने ताजे हैं। अहाते के अन्दर जगह-जगह केवड़ा और थूहर के गोल घेरे हैं, टूटे-फूटे रामजड़ के पेड़, घुटनों तक की घनी घास, चकवड़, झाड़-झंखाड़। ढहा हुआ एक कुँआ भी दिख रहा है। उसकी पक्की मुँडेर फटकर टूट-टाट गयी है। उस तरफ टूटे घरों की कतार दिख रही है। टूटे टप्पर एक ओर ढुलककर पड गये हैं, मानो कोई काला-भूरा हाड़ों का ढेर पड़ा है। इधर-उधर झुकी हुई अधफटी दीवारें, जगह-जगह दीवारें ढेर हुई पड़ी हैं। उन पर अनजान पौधे उग आये हैं। बड़ी-बड़ी बाम्बियाँ शाखा फैलाये खड़ी हैं। पास-पास सट-कर फूलों से लदे आक, धतूरा आदि के जंगली पौधे। यहाँ-वहाँ बड़े-बड़े घने पेड़,

सिरस, चकवड़, आम और दूर वह पुराना बरगद है। नाम लायक दो ही कोठरी हैं। छत पर छाजनी हुई नहीं, सारी दीवार में दरारें और छेद, चबूतरा ऊँचा-नीचा। दोनों कोठरियों के आगे मोटे-मोटे चोबदार दो हत्थेवाले दो कुलुफ झूल रहे हैं। मकड़ी के जाले छाये हुए हैं, उसी के सामने, कूड़े-करकटों के बीच से साफ दिख रही है पतली पगडण्डी। पुराना बिखरा-उलझा समाज मानो जमींदार की उस कचहरी के अहाते में आकर साकार बन गया है। चारों ओर सब कुछ धक्कम-धक्का, रेल-पेल, चढ़-पड़ और लुढ़क-लुढ़क कर एकाकार हो गया। रवि से सीखी नयी भाषा में बई मलिक अकेला बैठा-बैठा चुपचाप देख रहा है; हाथों में चुनचुनाहट हो रही है।

अचानक उसकी नजर पड़ गयी नीचे की घास-फूस पर जहाँ दो मैना ऊपर ही ऊपर चीं-चीं करती चक्कर काट रही हैं। यहाँ से उड़ वहाँ बैठती हैं, फिर हलचल मचाकर उड़ जाती हैं। बई मलिक का कौतूहल बढ़ा। वह उठ खड़ा हुआ। उधर नजर फेरी तो देखा, घास-फूस में कुछ हलचल-सी हो रही है। कुछ आगे गया। हाथ उठाये इधर-उधर दृष्टि घुमाकर देखा तो फन फैलाये फूँ-फूँ करता बड़ा-सा गोखर नाग। मानो अपने अभिमान में और भी फूल उठा है, और अधिक ऊँचा दिख रहा है। आकुल होकर चीखती मैना की ओर चोट करता हुआ मानो अपना अस्तित्व जता रहा है—'कि बड़ा मैं हूँ, क्योंकि मुझमें विष है।'

बई मलिक को याद आया—दशहरे पर एक बार वह शहर गया था। घूमते-घामते जाकर पहुँचा एक बड़े सभा-घर के सामने। वहाँ नाना भाँति की साज-सजावट, सटी-सटी चक-मक कर रही मोटर-कारों की भीड़, एक बड़ी मोटर से उतरकर सभा की ओर चले एक ऊँचे-पूरे देखने योग्य व्यक्ति। मानो दस आदमियों को मिलाकर गाँव की यात्रा में मंच पर रावणेश्वर की तरह मानव-पर्वत चल रहा हो। वे गरदन ऐंठते हुए दर्प से छाती फुलाकर चारों ओर देख रहे थे। बई मलिक देखने के लिए आगे हुआ कि पुलिस की लाठी ठेलती-पेलती हटा ले गयी और तभी बाहर हो-हल्ला मचा। लाठी चली, फिर तो बस वे मैले-कुचैले लोग सिर बचाकर भागे, बई मलिक भी वहाँ से भाग आया और दूर उस आदमी को देखने लगा। फिर क्रोध के जहर से वह तड़प उठा। उसे लगा मानो यह आदमी अपनी दृष्टि द्वारा कह रहा है—

"मुझे देखो, मैं सबसे बड़ा हूँ, क्योंकि मेरे पास सम्पदा है, शक्ति है, और सबसे बड़ी चीज—विष है।"

पीठ सहलाते-सहलाते अपनी वह विपाक अनुभूति लेकर अछूत वण्डरा गति का बई मलिक उस स्थान से लौट आया। अब अर्द्ध स्मृति में अपने अवचेतन मन के अन्दर अनुभव कर रहा था—सचमुच, यह जन्तु वही है। पास पड़े हुए पुराने मोटे बाँस के टुकड़े को उठाकर बई मलिक ने आगा देखा न पीछा और आगे बढ़ गया। मस्तिष्क में एक ही गूँज—वह मारेगा। 'मैं' पन के इस विराट् बुलबुले को फोड़ देगा। पहले दंश, फिर जो होना हो सो हो। पहली चोट खाकर साँप उछलकर आक्रमण करने बढ़ा। पर

उस नाचते, उलटते, सीधे होते उल्टे-सीधे साँप को मारता रहा वह बुड्ढा आदमी—बुनियादी आदिम मानव! सिरस के पेड़ की डाल पर बैठी दो मैनाओं ने हुलहुलि दी, गोखर साँप का वध हो गया! बई बाँस के सिरे पर मरे साँप को झुलाकर खड़ा हो देखने लगा। उसमें बच्चों की सी खुशी भर गयी। उसकी इच्छा हुई, किसी के गले में लटका देता इसे। किसके गले में? याद आ गया एक-एक चेहरा, गाँवों के प्रेत जैसे लोग जो गरीब मजूरों-मिहनतियों पर चरते-फिरते खटमलों की तरह नाता-गोता वंश-कुटुम्ब बटाते हैं, कहलाते हैं बड़े आदमी, अछूत गरीब-दीन-दुखियों को अस्पृश्य समझकर अवज्ञा की नजर से देखते हैं, उन्हीं में से किसी की गरदन में झुला देता इस मरे साँप को। हो-हो कर वह ठहाका लगा बैठा। साँप को सँभाल कर रखा, रवि को दिखायेगा।

बाहर की धूप चमचमा उठी। बई मलिक ने नये दृश्य की ओर मन लगाया। यह घास-लत्तर, उजाड़, सूना महाता कितना सुन्दर दिख रहा है इस चमचमाती धूप के रंग के स्पर्श से, मानो मरा हुआ जो उठा है, और चारों तरफ भाँति-भाँति के फूल खिल गये हैं। सिर नीचे किये दो हाथ की ऊँचाई पर बेशुमार तितलियाँ उड़ रही हैं। सब फूलों की मिली-जुली महक का अनुभव हुआ। नजर चली गयी कचहरी के अहाते में सामने गुलमुहर पर। फूल भरे हैं, इधर-उधर गुच्छे के गुच्छे फूल लदे हैं, फूलों की कलियाँ भरी हैं। अचानक उसकी चेतना में आया—यह पृथ्वी मरी नहीं, जीवित है, यद्यपि यहाँ झाड़-झंखाड़ है, यहाँ साँप है, गोधि है। जीवन से स्वाद छूटा नहीं, अब भी है। यद्यपि जीवन अभाव, अत्याचारों से क्लिष्ट है, पीड़ित है, पर अँधेरे में प्रकाश है, अमंगल में श्री है। करने से सब सोना हो जायेगा।

गाँव को लौट जाने की बात वह भूल गया है।

रवि आ पहुँचा, साथ में नन्द तहसीलदार, झुका हुआ बूढ़ा आदमी, माथे पर जैसे मन, चेहरे पर गड्ढे ही गड्ढे, नाक की नोंक तक खिसक आया है पतला चश्मा, अपनी पहचान की तरह कान में कलम खोसे है, तकिये के खोल की तरह डोरिये का कमीज डाले है, बटन नहीं है। छाती पर सूखी लकड़ी की तरह हाड़ दिख रहे हैं, गले में माला। कूदते से चल रहे हैं, एक हाथ में चाबियों का मोटा गुच्छा है, दूसरे में मैले गमछे में बँधी एक पोटली-जैसी कुछ। दोनों बातें करते आ रहे हैं।

नन्द ने कहा, "जी, आजकल तो जमाना ही बदला हुआ है। उस पर जमींदारी जाने के बाद की अवस्था, और फिर ले-देकर जो कुछ जमींदारी थी, वह बस यही गाँव! प्रजा लगान देगी नहीं, माल माँगने पर लाठी उठायेगी—मैं तो वैसे ही पड़ा था। क्या करें, तनख्वाह न मिले न सही, मत कैसे डुबो दें? और फिर दुरवस्था पर मेरा क्या वश है? यहाँ तो और कुछ नहीं, बस थोड़ा धान है। जमींदार रुपये भेजते तो इस मठ का संस्कार होता, और बस भेजते-भेजते तो जमींदारी ही उठ गयी। फिर हिस्से के धान का आजकल क्या भरोसा! किसी वर्ष इन्द्र ने दया की तो किसी वर्ष बँटाईदार ठँगा दिखा गये। यही तो हाल है। घर तो देख ही रहे हैं। आप यहाँ

आवाज ही सुनाई पड़ती, क्लान्ति से देह और मन में आलस भर आता। वह राह नहीं तकती।

सूँघते-सोंघते गाँव की कोई बहू-बेटी घूमने आ जाती। उन्हें देखते ही उसका अँजुरी भर रक्त सूख जाता। माँ या गुरु की माँ किसी एक को साथ किये बिना उसका जी में जी न आता, यद्यपि उन्हें देखते ही वह विनय से हँसती, बँधी बातों से स्वागत करती। कहती—"आज कैसे पधारी? अहो भाग्य!" और वह चटाई बिछा देती, पान लगाती, बातचीत करती।

तभी वह सुनती अयाचित सहानुभूति—अहा! छवि की माँ, छवि इस तरह क्यों सूखती जा रही है? सच रे! कैसा रूप! क्या हो गया? मुई यह क्या....?"

"मानो किसी की नजर लगी है रे! जीजी, आदमी हो या पेड़-पौधा, या कोई जीवजन्तु हो, छमछनी हो बढ़ जाता है, फिर किसी की लगती है नजर, और सूख जाता है। तुम किसी को दिखाओ!"

"अरी, खाली नजर की ही क्या कहती हो। जीजी," दूसरी कहती, "नजर तो बाड़ी में क्या, चारों ओर है। सब पर नजर पड़ती होगी। सब न सूखकर एक क्यों सूखें?"

"नहीं रे, पगली! सब जाते हैं रास्ते ही से पर नजर किसी एक को ही तो लगती है। देवी किसी एक को ही तो पकड़ती है। चुड़ैल किसी एक को ही लगती है। अरी, उस 'भूतकेली' किताब में क्या नहीं लिखा है?"

चर्चा इस तरह यमक में पहुँचती तो छवि जैसे चेतना-शक्ति खोकर सिर नीचा किये बैठी रहती। पान का डण्ठल तोड़कर नीचे लकीर खींच कोठी बनाना भी भूल जाती। छवि की माँ बात बदलने की चेष्टा करती। गुरु की माँ पीठ मोड़ लेती, नहीं तो और किसी के घर की बात उठाती। परन्तु जो लोग बात कहकर चोट देने ही आती, वे भूलती नहीं। कहने की बात कहकर बाहर अपनी बहादुरी बखानती।

चर्चा चलती—

"आदमी क्या यों ही सूखता है? रोग नहीं, वैराग नहीं, यों ही....?"

"अरी जीजी, कैसी बात कहती हो? खाली, शून्य ही में कुछ होता है कभी? उसमें कोई बात होगी। पर किसी के मन की बात कौन जानेगा? बाहर तो, भई, सब सुन्दर दिखते हैं! यह चाम का ढक्कन बहुत चमकदार है, लेकिन भीतर? भीतर घुसे कौन, बता?"

"और जमाना तो देख ही रही हो? कलजुग आकर पूरा होने को है। कहावत भी तो है कि रात बीतते निशा ज्यादा गरजती है। अँधेरा वैसी गाढ़ा होता है। वैसे ही। इस जमाने में कैसी विघटन, अब न कोई मान्य है ना मान्यता। अब तो जिसे जो भाता है। चोरी-छुपे—"

"काला बाजार—"

"जो भी कहो, काफ़ी बाहर निकल है गाती गाली पर। नहीं तो इतनी बड़ी बात, पहले जमाने में कहीं सुनी थी ? अब लड़के-लड़की अपनी मनचाही शादी करेंगे, जिसका जहाँ जाने को मन होगा, जाते हैं, अगर किसी से अच्छा मौका मिल गया, यह हुआ बुरा। पर बात यह है कि तुम्हारी बात मानता कौन है ! अपने रास्ते चले जाते हो, बीच में तुम पहचानी जाओगी। बेटी-ब्याह गया, बह गया। बस, घर से भागकर रजिस्टरी ब्याह कर रहे हैं। यह भी न करो तो कौन रोक रहा है ! आज कल जमाना क्या हो गया, राम ! एक-एक कर कितनी घटनाएँ गिनाऊँ, बस। हूँह, सुन—"

बात की पेटी खुल जाती। किसी लेती की बात को उठाने नहीं कि प्रतिवाद करे। कोई एक बात करती तो दूसरी दो चार उदाहरण-उपाख्यान सहित जोड़ देती। धरती की औरतें ठहरीं वे, समाज की रीति-नीति के बारे में चर्चा करने का उन्हें अधिकार है, करेंगी। पान पड़ी माँ ही प्रसंग से छग जातें। मुँह के पान मुँह ओलकर, निगल जाने की तरह, आँखें बड़ी-बड़ी कर बैठी सुनती होंगी बेटी-बहुएँ। होठन्तीर बरता मन कम से कम कल्पना में ही घर-फिर आता होगा, बाहर ही बाहर से, अपने घेरों में चाहे लोग मन की रीति नीति छोड़ो हो। मुँह में पान होने पर भी उनके चलते न होंगे, कहने की तरह आँखों से पोनको उत्कंठित होती होंगी। कहानी पूरी होने पर दीर्घ निःश्वास, आकाश में नारंगी लाल बादलों को देखते-देखते वहीं कोई आधी चीन्ही, आधी भूली गाँव-गली की छवि दिखती। अपने मन के गलियारे से उतर पड़ी होगी मनचाही चीज। अचानक वह छुप गयी, अँधेरा पड़ गया। उतर जाते-जाते मुँह पर निन्दावाद की ध्वनि—"छी कर ! छी कर !" "कहो मत यह बात !" "छि छि., क्या कर रहे हैं ये लोग !"

इस गाँव की माटी से तो सब हुए हैं, यहाँ न कोई बड़ा है, न छोटा। गाँव के चारों ओर जो सौ साल पुराने बरगद हैं—बेटे से पोते, पोते के पोते हों, इसकी जटा से वह गाछ, उसकी जटा से वह गाछ—इसी तरह कुटुम्ब बढ़ाये हैं। इसी तरह इस गाँव के सारे पुराने घर भी, ब्राह्मण से डोम तक सभी। सबने सबको नंगे घूमते देखा है। उन्होंने देखा है, कब किसकी छान साफ़ कर नयी बनायी गयी है और कब किसका घर ढहकर पानी में बह गया है और टूटे-फरकट पड़े रह गये हैं। इस गाँव के कितने परदेश में जाकर बसे हैं और फिर घटते-घटते आकर फिर इसी धरती पर नये सिरे से लगने की कोशिश की है। युग-युग से इन मटमैलों की रुचि-अरुचि को लेकर गाँव में राय बनी है, वह है सम्मिलित समाज का मत। वर्ष भर के पुण्य, पर्व-त्योहारों का जजाल, रोज सुबह-शाम ठाकुर जी के पास जय-जयकार, सन्ध्या के समय तुलसी के पास सन्ध्यादीप। घर-घर में चहल-पहल, अच्छे बुरे में पूजा-पाठ. . सब वही एक ही बात है कि पुराने गाँव की अपनी एक अलिखित नीति है, एक विराट् संविधान है, अनन्त समय का दबाव और तपिश से वह पगा है, अनगिनत घर-गिरस्तीवाले लोग अपनी जिन्दगी जीने के साथ-साथ उसे गढ़ रख गये हैं। अकेले आदमी की व्यक्तिगत रुचि-अरुचि मता-

गाँव की लुगाइयाँ ! इन्हे कहने का अधिकार है।—तुम इनकी बात लो चाहे न लो। जिनकी उमर बढ़ गयी, बाल पक गये, गाल गुठली बन गये, उनका अधिकार मानो एक सीढ़ी और भी ज्यादा है।

"अरी छवि की माँ, मेरी बात मान, अरी अभी खाली क्या बैठी हो, बेटी को कहो ब्याह दो न !"

कोई कुछ भी कहे, उन्हे हँसकर ही लेना होगा। बिछौना डालकर बैठाना होगा, उनके लिए समय खरचना होगा। पान बनाना होगा, वे कहेंगी सो सुनना होगा, सहना होगा।

घर मे काम करते-करते छवि के कानो से टकराता। कान खड़े हो जाते, आँखों से धार छूट पड़ती। इस घर के मरे—जाये किसी की जबान से दो शब्द नही निकलेंगे, आज मन्तव्य देते समय उनके मुँह से पैने बाण छूट रहे हैं।

"दो, बोझ उतार दो, अब देर क्यों ?"

"दस-बारह में कन्या दान। नही तो पन्द्रह, और नही तो सत्रह में जरूर। नही तो क्या बूढ़ी होने तक बैठाओगी ?"

"फिर भी आदमी चेष्टा करता है, थिर होकर हाथ पर हाथ धरे बैठने से क्या होगा।"

"रिश्ता लेकर तोड़ती रहेगी या और कुछ !"

आँख मूँदे चलो, भाग में होगा तो सही जगह पैर पड़ेंगे। राजकुमारी की बात सुनी नही क्या ? तीन कौड़ियाँ लेकर अगम्य वन मे उसने क्या नही कर दिखाया ! बोला—"एक में भारी, दूजे मे तारी, तीजे में घर-दुआर करी।"

"बिशलपाड़ा के जोगी महान्ती के बेटे भगिया के बारे मे सम्बन्ध की बात आयी थी ? दूज बर है, पर उससे क्या होता है ? स्त्री को मरे आज पाँच बरस हो गये। दो बच्चे छोड़ गयी थी सो वे कोई गोद के या दूध पीते तो हैं नही जो इसे उनका गू-मूत करना पड़ेगा या पीठ पर लादे फिरना पड़ेगा। वे काम में हाथ बटायेंगे। भगिया कितना भला है, कितना घर-बारी है, जमीन-बाड़ी सब तो वही सँभाले है। माँ शीतला जरा छीट गयी है, एक आँख लेकर उमर देकर चली गयी। जो जिस समय घटता है न, तब कोई बस चलता है किसी का ?"

"खाली आँख ही नही री, एक पैर से भी जरा लँगड़ा-लँगड़ा कर चलता है।"

"हाँ-हाँ, चुगना है तो चुगते रहो, सारी कमलिया में बाल ही बाल भरे हैं। जमीन बाड़ी तो है, खा-पीकर साल भर गुजारा हो जाता है—और फिर दरकार भी क्या है ?"

"और नही तो उदैपुर के शतमन् कानगोई के बेटे की बात ही क्यो नही लेती ? कॉंगरेस में मिलकर काम करता था सो जेल भोगने चला गया इसलिए अधिक ऊँची पढ़ाई नही कर सका। फिर भी क्या हुआ ? आज गाँव से चलता है तो उसके पीछे-

पीछे बीस आदमी निकलते हैं। जहाँ जाता है लोग 'बीरबाबू' 'बीरबाबू' करते हैं। पूछते हैं हमारा अमुक काम कराया? मन्त्रीजी से कहा? मुन्शी बाबू भी आते-जाते प्रणाम करते हैं। देखना, वही उठेगा ऊपर। ठहरो, दो ही बरस में रुपयों का ढेर लगाकर कोठी खड़ी कर लेगा। समझ लो।"

"यदि जमीन-बाड़ी खोजते हो तो मधु पवान के बेटे जगबन्धु के बारे में सोचते क्यों नहीं? दो बेटी ब्याही, करण घराने में, बड़ी बहू लाया है करण (कायस्थ) के घर से। वह तो आट देख रहा है। इधर चाम, उधर व्यापार, आज के दिन देखो वहाँ जाकर कहाँ पहुँच गया! आजकल जात-पाँत को कौन पूछता है?"

उपदेश! उपदेश! सीख! सीख! हाथों से न मार कर सीख की मार से जीते जी गाड़ डालना चाहती है सब!

दुनिया लगती, मानो उपदेशों की ही भरमार है। लोग चले आते धर्म प्रचारक का उत्साह लिये, उपकार करनेका ढोंग रचाकर। हम उपकारी मित्र हैं, लो हमारा उपदेश ग्रहण करो, वरना पड़ो चूल्हे के बीच!" छवि दूर से सुनती, उन उपदेश बाणों के शिकंजे से दूर जाने को मन करता। भागना सिर्फ मन ही मन, कल्पना में केवल।

उसी कल्पना में वह सोचती, एक और भी रास्ता तो है? लोग मरकर गाथा छोड़ गये हैं, वे जीते हों या हारे हों, पर बात रह गयी है। वह सोचती, अपनी देह के जेलखाने को अपने हाथों तोड़ कर जो लोग उड़ गये हैं, वे डरपोक नहीं थे, शायद लोग कहते हैं कि आत्मघातनी को तीन लोक में कहीं जगह नहीं। चाहे कोई कुछ कहे, वे तो उबर गये। जीते जी यह समाज जिनका शिकार करता था, मरकर वे लोग उलटे बन जाते हैं शिकारी। जोगिनी, डाकिनी, प्रेतिन बनकर किसी बरगद में या किसी खजूर के पेड़ में रहती हैं, जिसे मन किया पकड़ती है, किसी के घर में बहू पर चली गयी तो वह नंग-धड़ंग होकर उछलती-कूदती है-है हँसती है। पूछने पर कहती है—मैं अमुक हूँ, मुझे परेशान किया था सो रस्सी लगायी थी।

पिता की बात सोचते-सोचते मन में अपने जीवन पर लोभ आ जाता। अपने अन्दर से जीवन प्रतिवाद कर उठता—झूठी दुर्बलता, दया आ जाती, सम्मान नहीं आता तब उसकी साँस फूल उठती, नासा सों-सों करती, सोचती, क्यों किसी की बात सहनी पड़ेगी? कौन किसी के गड्ढे का चूल्हा है?

दिन बीत जाता।

पिता बैठे भागवत पढ़ते, नहीं तो कहीं निकल जाते, एकदम अकेले। उनके चेहरे का भाव एक जैसा रहता, प्रशान्त!

माँ गहरी साँस छोड़ती, छवि के चेहरे की ओर देखती कनखियों से, सीधे नहीं, और 'छवि' कहकर पुकारने पर कभी-कभी गला भर आता।

साथी बनने गुरु आता। छोटा बच्चा होने पर भी वह गाँव भर की खबर रखता। खबर कोई होती तो बताने आता, चारों ओर घूम-फिर कर अपने नन्हें कानों में

जो भर लाता, जरा लाड़-दुलार से आते ही सब झाड़ पूछ देता। छवि के कुछ कहे बिना भी, उसके नन्हा मन में अपने आप हँसी-रुलाई की लहरों के बीच प्रतिक्रिया होती। कुछ का कारण वह समझता नहीं, किन्तु छवि का चेहरा जब मुरझाता रहता, उसके मन में जब तूफान घिरा रहता, तब गुड्डू पास रहता, चारों ओर घूम-फिरकर उसका मन बहलाने को, खुश करने की चेष्टा करता।

"छवि जीजी! क्षेम दादा की बुढ़िया आज मरते-मरते बची थी, बीच में ऐसी पछाड़ खाकर गिरी..., उठ ही नहीं पाती, चिल्ला रही है।"

आज अपने गाँव का साँड़ और उस गाँव का साँड़ दोनों भिड़ गये। ओह! कितने लोग जमा हो गये, धूल इतनी उड़ी कि सारा आसमान भर गये।"

"नानी बुनिया ने चार लिच्छे चने के एक ही साथ। मैं देख आता हूँ, कहो तो एक अपने लिए भी ले आयें।"

"ठाकुर सूखा चूमने आयेंगे अब पाकड़ी की पुताई-छुताई हो रही है। किना कह रहा था अबकी होली पर फौजदारी होगी, अपने पिता से सुना था। फौजदारी क्या? हमें फौजदारी देंगे? हम भी थोड़ी-सी लायें!"

ऐसे ही एक दिन दोपहर में, गुड्डू भागा-भागा आकर छवि के घुटनों में लिपटकर कहने लगा। "देख, आ छवि जीजी, चल, तेरा ब्याह होगा। देख, देख, चल!"

"धत्!"

"धत् क्या? सच री, भला आदमी आया है री! छज्जे के पास तेरी माँ। मेरी माँ और वह बतिया रहे हैं। मैंने पूछा, 'माँ वह कौन है?' माँ ने कहा 'भला आदमी'। वह तो बस तेरे ब्याह की ही बातें कर रहा है। कितनी साफ धोती, और धुली चादर है, सिर पर ये लम्बा तिलक भी लगाये है। बापू को आने दे, मैं भी कहूँगा, मुझे सफेद धोती-चादर लाकर दो। मैं भी भला आदमी बनूँगा, क्यों छवि जीजी, सही बनूँगा?"

बहाना बनाकर छवि उठकर चली गयी। गुड्डू कहकर भाग गया फिर 'भले आदमी' के पास। छवि अँधेरे कमरे में आकर खिड़की के पास खड़ी रही। छेद से झाँका, गुड्डू की बात सच थी। गुड्डू की माँ और उसकी अपनी माँ किसी अनजान आदमी के साथ बातचीत कर रही हैं। गोरा, लम्बा, हृष्ट-पुष्ट ब्राह्मण है। कान लगाये, उसी के ब्याह की बात। बन्धमूल वाले बट महान्ती के घर से मध्यस्थ आया है। कहता है—उनकी बहुत इच्छा है, खुद माँ ने कहलवा भेजा है।

और सुनने का धैर्य उसमें न था। उसे लग रहा था जैसे उसने कोई चोरी की है, चोरी का माल सँभाल नहीं पायेगी, पकड़ में आ जायेगी। चेहरा गरम हो गया। उस कमरे से निकल दरवाजे तक आते-आते उसे लगा, बहुत परिश्रम किया है उसने, और नहीं कर सकेगी। इस घर से निकल उस घर में आकर उसने पिटारा खोला। अपनी दबी-नुची-मुड़ी चीजों में से उलट-पुलट कर निकाली सूखे रक्त के दागवाली एक

लीर। वह रवि की धोती से चीरी गयी थी, पहली भेंटवाले दिन उसके पैर में लपेटी गयी थी।

पिटारा वैसे ही खुला पड़ा है। छवि फफककर रो उठी और सिर झुका लिया। सारे भावप्रवण क्षणों की तरह उसे लगा, वह निःसहाय है, उसके पास कोई चारा नहीं।

ब्राह्मण मध्यस्थ द्विज आचार्य पाटेली गाँव आये थे अपने कार्य की सफलता के बारे में निश्चिन्त होकर। देन नहीं, लेन नहीं, न कुण्डली शोधन, कुछ भी तो नहीं। कन्यावाले क्या कहेंगे, उलटे वर के घर से प्रस्ताव लेकर आया हूँ। कन्या गरीब घर की है, वर के घर वाले कुछ हस्ती रखते हैं। इसमें और सोचने की क्या बात है?

उनकी सारी सम्भव कल्पनाओं पर एक प्रचण्ड चोट कर मधुर हँसी में सिन्धु चौधरी ने जब अपनी असहमति सुना दी, तब मुँह 'आँ' किये रह जाने के अलावा और कोई उपाय न था।

"कह देना, मैं राज़ी नहीं हूँ।"

बैठे-बैठे चरखा घुमा रहे थे सिन्धु चौधरी। सब कुछ सुनकर इतना भर कहा। पीठ फेरकर उनकी स्त्री घर के अन्दर चली गयी।

सिन्धु चौधरी ने कोई सफ़ाई नहीं दी, उनकी आदत, रीति, नीति, ज़रा भी नहीं बदले, बिलकुल पहले की तरह, मानो कुछ हुआ ही न हो। तमतमायी हुई पत्नी घुमा-फिराकर छवि के ब्याह की बात छेड़ती हुई चोट कर रही है। अफ़सोस के मारे कभी रो पड़ती है, कभी रूठ जाती है। बेटी सूखती जा रही है, मन में ज़रा भी खुशी नहीं। अवस्था समझ दुनिया हो-हो हँस रही है। पत्नी चोट कर रही है। फिर भी सब कुछ न सुनने की तरह चरखा चल रहा है, भागवत की पढ़ाई चल रही है।

छवि की माँ को अचानक सिर चकराने की बीमारी ने आ दबोचा। छाया ढलने की बेला। बैठे-बैठे ही धड़ाम से गिरकर अचेत हो गयी। घर में रोना-धोना मच गया। मुँह पर पानी के छींटे देकर माथे पर शहद-नीबू का रस मिलाकर लगाया तब जाकर कुछ समय के बाद होश आया। तब तक उसे फ़र्श पर लिटा दिया गया था। छवि पास बैठी है। खुद सिन्धु चौधरी पंखा झल रहे हैं। हँसकर पूछा, "क्यों ठीक तबीयत है अब?"

मुँह के पास झुककर 'माँ-माँ' कह छवि आवाज़ दे रही है, गुरु देख रहा है। गुरु की माँ लम्बे घूँघट के अन्दर से झाँक रही है।

"पान क्या निगल गयी कि अचानक सिर चकराने लगा।" छवि की माँ ने कैफियत दी, "ओह, कैसा तो लग रहा था? जो हो, अब और कुछ नही। ठीक लगता है।"

"अरे, छवि, पानी में नीबू निचोडकर पिला दे तो।" सिन्धु चौधरी ने छवि को भेज दिया।

छवि की माँ की आँखों के कोनों से आँसू की धार बहने लगी, किन्तु सिन्धु पिघले नही। कहा, "झूठी माया में मन देने पर झूठमूठ ही इस तरह रोना पडता है। तुम इन सबको इतना बडा क्यों समझती हो? सिर में चक्कर क्यों लाती हो, मूर्च्छा क्यों ला रही हो?"

छवि की माँ ने कुछ नही कहा। दोष देने की तरह देखकर प्रतीक्षा करने लगी। सिन्धु चौधरी उस दृष्टि की उपेक्षा कर कहते गये—

"भागवत क्या कहती है —?

ए पुत्र दारा बन्धु सब। ये सने समुद्र तरंग॥
पथिक येन्हे वृक्ष तळे। श्रमे बसन्ति एकमेळे॥
श्रम मरिले ये क्षा मते। चलन्ति वृक्ष छाड़ि एये॥"

"मन को उधर लगाओ। समझो, इसका अर्थ कितना सरल है। सब जानती हो, सब समझती हो, फिर भी क्यों नही मानती? याद क्यो नही रखती? व्यर्थ ही इतना कष्ट पाती हो। आप ही पागल हो जाये तो उसे कोई ठीक कर सकेगा?"

छवि की माँ पल्लू से आँख पोंछ कहने लगी—"एँ, सोचोगे नही, मन में रखोगे नही तो यह संसार बसाया क्यों था? बेटी का बोझ उठायेगा कौन? वह भी तो एक जीव है, भगवान् ने उसे भी तो जनम दिया है।"

हँसते हुए सिन्धु चौधरी ने कहा, "भगवान् ने जनम दिया, यही तो कहती हो? या कह रही हो कि तुमने जनम दिया है? जब उन्होंने जनम दिया है, तो वे जानें। तुम इतनी चिन्ता क्यों कर रही हो?"

"भगवान् ने सम्बन्ध भेजा, और तोड दिया तुमने। मैं तो कहती हूँ, अपनी बेटी को वहीं भेजूँगी। तुमने तोड दिया।"

"तुम फिर वही बात छेड रही हो।"

"बात करूँगी कैसे नही? तुम क्या समझो आदमी के मन को? तुम्हें चिन्ता क्या है? भागवत पढो, बाबाजी बनो, खुशी से रहो।"

"तुम्हारे कहने पर लोबा नायक को भेजकर देख लिया। नतीजा क्या निकला?"

छवि की माँ तर्क करने उठ बैठी। कहा, "मैं जानती हूँ कि तुम वही बात गाँठ बाँधे बैठे हो। बहुत अपमान लगा—यही तो? तुम्हारे मानापमान के बीच नुकसान किसका होगा? तुम्हारी ही बेटी का तो? गाँठ में बात को गाँठ बाँधकर रखने से किसी

के दिन नही बीतते।"

सिन्धु चौधरी स्थिर दृष्टि से स्त्री के मुँह की ओर देखने लगे। कहा, "समझ लो अपमान लगा। क्या हुआ? लोगों में छत्र भी तो घुमता है, अपमान भी लगता है। अब और उस बात को पकडकर बैठने से क्या होगा?"

छवि की माँ ने कहा, "इस टूटी दीवार पर खड़े हो और तब भी मान-अपमान की बात सोचते हो न?"

सिन्धु चौधरी को गुस्सा नही आया। शान्त होकर उत्तर दिया, "तुम सोचती हो कि लोका नायक को उन लोगों ने दस बात कहकर लौटा दिया, इसीलिए मैंने भी उनके मध्यस्थ को लौटा दिया है। तुम्हारी धारणा गलत है। एक बार चेष्टा कर देखा था, पर ब्याह वहाँ होने का है नही। अब प्रलोभन में पडकर वहाँ ब्याह करने का मतलब भगवान् की इच्छा के विरुद्ध जाना होगा।"

"तुम तो पागल...."

"ठीक है, तुम भली बनकर अब अन्दर जाओ तो!"

अवाक् देखती रह गयी उनको ओर छवि की माँ। फिर सिर में धीरे-धीरे भँवर आने लगा। सिर में 'चट्' से आवाज हुई, वही अटक गयी वह छवि। छवि की माँ का मन पति की ओर बिलकुल नरम पडकर गद्गद हो आया। सारा मान बह चला दुनिया की ओर।

बहुत दिनो के बाद मानो आज स्पष्ट वह देख पा रही हो कि सामने यह जो आदमी दिख रहा है, इन कुछ वर्षों में कितना कष्ट पाता आया है, कठोर हुआ है, बदला है। यही तो वह आदमी है जिसे किसी बात की परवाह न थी। पैसे को माटी कंकड मानता था, मन का धनी कितना दिया है, कितना खिलाया है इसका कोई हिसाब नही।

आज इनके जैसे आदमी को भी सब कुछ सहना पड़ रहा है।

किसके लिए? स्त्री के लिए, सन्तान के लिए ही तो।

सिन्धु चौधरी स्त्री के चेहरे की ओर देख उसकी व्याकुल भावनाओं का उत्तर देते-से बोले, "मन को थिर करो, जीने पर सब कुछ देखना पडता है। इसके लिए डरना क्यों? भगवान् ने बेटी दी है, उसका उपाय वे करेंगे। और क्या नही करेंगे? विश्वास रखो। सब उन्ही की लीला है।—

"करि कराउथाए मुँहि
मो बिनु आन केहि नाँहि।"

[सब मैं ही करता कराता हूँ] कहकर सिन्धु चौधरी बाहर चले आये।

छवि की माँ घर के अन्दर चली गयी। छवि सब सुन रही थी। इतनी बातों में सूर्यास्त होकर गोधूलि भी जा चुकी है। छवि कलसा लेकर,बाडी की ओर पानी लाने चली गयी।

और धुँधले अँधेरे को ओर मुँह किये वह थकी-सी खडी रह गयी।

रवि के जाने के बाद बन्धमूल गाँव में बट महान्ती के घर में कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ, बाहर के लोगों की आँखों में कल जो था आज भी वही है।

बाहर के लोगों की नजर मे न आये किन्तु घर मे दो अधेड़ उम्रवाले थे ही—बट महान्ती और उनकी पत्नी। दोनों ही यन्त्र की तरह अपने-अपने काम मे लगे हैं फिर भी दोनों को ऐसा लगता है जैसे उस घर में उनका शरीर है प्राण नहीं। खाली घर खड़ा है, आदमी नहो। बट महान्ती खाने बैठे हों या कभी उनके लिए पान का बीड़ा लाकर देते समय रवि की माँ को अवसर मिलता है तो पति-पत्नी एक-दूसरे को देखते हैं और बिना भाषा के ही केवल आँखों ही आँखों यही बात चलती है—

एक के मन की बात दूसरा समझता है पर मुँह कोई नहो खोलता। बट महान्ती बाहर-बाहर घूमते, रवि की माँ घर में रहकर कभी थोड़ा-बहुत रो लेती। मुँह पोंछकर काम में जुट जाती।

खाना-पीना हो जाने के बाद बाड़ी की ओर बरतन रख दिये जाने तो, पता नहीं कहाँ से चील की तरह चली आती एक ताक में रहनेवाली कुतिया। चार पिल्ले दिये थे, दो कही गये, और दो माँ के पीछे-पीछे भागते रहते। ऐसे ही कितने बच्चे वह बरस की बरस जनती। कहाँ जाते वे सब!

"उसके प्रति और उसके उन दो बच्चों के प्रति रवि की माँ के मन में कुछ ममता बढ़ गयी है, नौकरानी सुली बाउरानी को वह हितोपदेश देती, "अरे सुली, इतने जोर से न पीट छउकी को, देख बच्चोंवाली है रे!" सुली मुँह मोड़ देती। कहती, "ओ—देखने से घिन आती है, कुत्ते को मुँह लगाने पर वह बदन पर चढ़ आयेगा, दुर-दुर, मार-मार।"

"अरे सुली, ऐसे दुर-दुर मत कर री! सब में जीव है, सबका जीव समान है। तेरा बच्चा तेरे लिए जैसा है, उसका बच्चा भी उसके लिए वैसा ही है।"

"सब जीव समान क्यों होंगे, साआन्ताणी। जीव मे जीव है। जो जीव बेकार है, खाली मानापमान सहता है, जिनके लिए दुर-दुर छू-छू है, वे जीव तगड़े होते हैं, सहज ही जाते नहीं!"

"अरी, बच्चोंवाली है!"

अपने मन के साथ मेल खाती कितनी ही ऐसी बच्चोंवालियाँ रवि की माँ को आँखों में पड़ती।

घर से चले गये अपने दोनो बेटों के लिए शोक में डूबी रवि की माँ चारों ओर देखती। पहले कभी सोचा ही नहो, ऐसी कई बातें मन में आ जाती। गाय-बैलों की ओर देखती, कौन किस गाँव का है, किसकी माँ कहाँ है! बछड़ा धूल उड़ाता, नाचता-

नाचता लौटने के समय कितना रँभाता ! किस गाँव का लड़का वहाँ आकर किसके लिए हल चला रहा है। और फिर माँ-बेटों की भेंट नहीं। ओस की बूँद जमने की तरह दोनों आँखों में आँसू डबडबा आते। आँसू सूख जाते, उड चलती उदास चिन्ता, निष्फल हवा के झोंके की तरह, चेतना में सूखे दुख की तरह, केवल धूल और अन्धड की तरह बार-बार लगा ही रहता, भुलाया नहीं जा सकता।

बट महान्ती सब कुछ जानकर भी चुप साधे रहते। उनकी स्त्री ने समझा-बुझाकर द्विजवर आचार्य को मध्यस्थ बना कर भेजा। उसमें उनका मन नही लिया गया। वे चुप रहे, प्रतीक्षा कर रहे थे। द्विजवर नास्तिवाणी लेकर आया—इस पर बट महान्ती ने अपमान का अनुभव नही किया, क्रुद्ध भी नही हुए, उलटे उनका अहम् पूँगी बजाकर ऊपर उठा। उन्होंने अर्थ लगाया—सिन्धु चौधरी डर गया, उसने डर कर इनकार कर दिया है। फिर मन अपनी प्रशस्ति खुद बखानने लगा—बट महान्ती! बट महान्ती! उस स्थिति में बेटा भी एक प्रतिद्वन्द्वी के अलावा और कुछ नही है और वह हार गया है, कितना ही जोर लगाये हारता ही रहेगा।

दिन गया, रवि नही लौटा। पहले लगता था यह बच्चों का खेल है, मोटी बुद्धि का है वह, जिद्दी है, ग्रह या खिलौना हो गया है। जोतिषियों को बात-बात में उसने कहा था—देखो तो अभी उसकी क्या दशा है? जोतिषी ने बताया उसकी दशा अभी खूब 'कर्म' की चल रही है। काम ऐसा करायेगी कि लाभ और यश दिलाकर रहेगी। फिर भी मन नही भरा, बट महान्ती समझे—ये सब मन रखनेवाली बातें हैं। किसी से पूछकर क्या फायदा? दैव की ठोकर लगेगी। कहना न माननेवाले बच्चे की तरह दोष मानकर चोर की तरह चुपके-छिपे लौट आकर सिर झुकाये हाथ-पैर जोड़े एक कोने में वह खड़ा हो जायेगा। वे उसी की प्रतीक्षा में थे।

उधर सारी खबर पाकर बड़े बेटे कवि ने लिख भेजा कि आप कठोर व्यवस्था का आसरा लें। फालतू आदमी की तरह घूमता-फिरता यदि रवि कहीं राजनीति में घुस गया तो उसके इस रवैये से इधर मेरी चाकरी डगमगा जायेगी। घर पर होता तो मैं उसे ठिकाने लगा देता, किन्तु मुझे छुट्टी नही। कवि की चिट्ठी पढ़कर बट महान्ती तनिक हँसे, फिर चिट्ठी को दाब दिया।

किन्तु रवि बीमार पड़ा नही, ठोकर खायी नही, खबर मिली कि वह वहाँ छोकरों को मिलाकर जाने क्या-क्या कर रहा है। वे लोग गाँव में असमर्थ लोगों का घर बना देते हैं, खेत का काम कर देते हैं, गाँव में कूड़ा-कचरा साफ करते हैं, गड्ढों में माटी भर देते हैं, रात में बूढ़ों को पढ़ाते हैं, लोगों को नयी-नयी बातों से प्रभावित करते हैं। फूलझरा गाँव में हलचल मची है। जो आता है रवि को बड़ाई करता है।

रवि वहाँ भी नेता होगा! टूटेगा नही वह!

सोचने को फ़ुरसत नही। दोल पूनम सिर पर आ गयी, झाँझ मृदंग की झंकार में देश हुलसा था। ठाकुरजी यात्रा को निकलेंगे विमान में। बट महान्ती जुट पड़े।

रवि के जाने के बाद वन्यमूल गाँव में बट महान्ती के घर में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ, बाहर के लोगों की आँखों में कल जो था आज भी वही है।

बाहर के लोगों की नजर में न आये किन्तु घर में दो अधेड़ उम्रवाले थे ही—बट महान्ती और उनकी पत्नी। दोनों ही यन्त्र की तरह अपने-अपने काम में लगे हैं फिर भी दोनों को ऐसा लगता है जैसे उस घर में उनका शरीर है प्राण नहीं। खाली घर खड़ा है, आदमी नहीं। बट महान्ती खाने बैठे हों या कभी उनके लिए पान का बीड़ा लाकर देते समय रवि की माँ को अवसर मिलता है तो पति-पत्नी एक-दूसरे को देखते हैं और बिना भाषा के ही केवल आँखों ही आँखों वही बात चलती है—

एक के मन की बात दूसरा समझता है पर मुँह कोई नहीं खोलता। बट महान्ती बाहर-बाहर घूमते, रवि की माँ घर में रहकर कभी थोड़ा-बहुत रो लेती। मुँह पोंछकर काम में जुट जाती।

खाना-पीना हो जाने के बाद बाड़ी की ओर बरतन रख दिये जाते तो, पता नहीं कहाँ से चील की तरह चली आती एक ताक में रहनेवाली कुतिया। चार पिल्ले दिये थे, दो कहीं गये, और दो माँ के पीछे-पीछे भागते रहते। ऐसे ही कितने बच्चे वह बरस की बरस जनती। कहाँ जाते वे सब!

उसके प्रति और उसके उन दो बच्चों के प्रति रवि की माँ के मन में कुछ ममता बढ़ गयी है, नौकरानी मुली बाउरानी को वह हितोपदेश देती, "अरे मुली, इतने जोर से न पीट छउकी को, देख बच्चोंवाली है रे!" मुली मुँह मोड़ देती। कहती, "ओ—देखने से घिन आती है, कुत्ते को मुँह लगाने पर वह बदन पर चढ़ आयेगा, दुर-दुर, मार-मार।"

"अरे मुली, ऐसे दुर-दुर मत कर री! सब में जीव है, सबका जीव समान है। तेरा बच्चा तेरे लिए जैसा है, उसका बच्चा भी उसके लिए वैसा ही है।"

"सब जीव समान क्यों होंगे, साआन्ताणी। जीव में जीव है! जो जीव बेकार है, खाली मानापमान सहना है, जिनके लिए दुर-दुर छू-छू है, वे जीव तगड़े होते हैं, सहज ही जाते नहीं!"

"अरी, बच्चोंवाली है!"

अपने मन के साथ मेल खाती कितनी ही ऐसी बच्चोंवालियाँ रवि की माँ की आँखों में पड़ती।

घर से चले गये अपने दोनों बेटों के लिए शोक में डूबी रवि की माँ चारों ओर देखती। पहले कभी सोचा ही नहीं, ऐसी कई बातें मन में आ जाती। गाय-बैलों की ओर देखती, कौन किस गाँव का है, किसकी माँ कहाँ है! बछड़ा धूल उड़ाता, नाचता-

नाचता लौटने के समय कितना रंगाता ! किस गाँव का लड़का वहाँ आकर किसके लिए हल चला रहा है। और फिर माँ-बेटों की भेंट नहीं। ओस की बूँद जमने की तरह दोनों आँखों में आँसू डबडबा आते। आँसू सूख जाते, उड़ जाते। उदास चिन्ता, निष्फल हवा के झोंके की तरह, चेतना में सूखे दुख की तरह, केवल धूल और अन्धड़ की तरह बार-बार लगा ही रहता, भुलाया नहीं जा सकता।

वट महान्ती सब कुछ जानकर भी चुप साधे रहते। उनकी स्त्री ने समझा-बुझाकर द्विजवर आचार्य को मध्यस्थ बना कर भेजा। उसमें उनका मन नहीं लिया गया। वे चुप रहे, प्रतीक्षा कर रहे थे। द्विजवर नास्तिवाणी लेकर आया—इस पर वट महान्ती ने अपमान का अनुभव नहीं किया, क्रुद्ध भी नहीं हुए, उलटे उनका अहम् पूँछी बजाकर ऊपर उठा। उन्होंने अर्थ लगाया—मिन्टु चौधरी डर गया, उसने डर कर इनकार कर दिया है। फिर मन अपनी प्रशस्ति खुद बखानने लगा—वट महान्ती ! वट महान्ती ! उस स्थिति में बेटा भी एक प्रतिद्वन्द्वी के अलावा और कुछ नहीं है और वह हार गया है, कितना ही ज़ोर लगाये हारता ही रहेगा।

दिन गया, रवि नहीं लौटा। पहले लगता था यह बच्चों का खेल है, मोटी बुद्धि का है वह, ज़िद्दी है, यह भी खिलौना हो गया है। जोतिषियों को बात-बात में उसने कहा था—देखो तो अभी उसकी क्या दशा है ? जोतिषी ने बताया उसकी दशा अभी खूब 'कर्म' की चल रही है। काम ऐसा करायेगी कि नाम और यश दिलाकर रहेगी। फिर भी मन नहीं भरा, वट महान्ती समझे—ये सब मन रखनेवाली बातें हैं। किसी से पूछकर क्या फायदा ? दैव की ठोकर लगेगी। कहना न माननेवाले बच्चे की तरह दोष मानकर चोर की तरह चुपके-छिपे लौट आकर सिर झुकाये हाथ-पैर जोड़े एक कोने में वह खड़ा हो जायेगा। वे उसी की प्रतीक्षा में थे।

उधर सारी खबर पाकर बड़े बेटे कवि ने लिख भेजा कि आप कठोर व्यवस्था का आसरा लें। फालतू आदमी की तरह घूमता-फिरता यदि रवि कहीं राजनीति में घुस गया तो उसके इस रवैये से इधर मेरी चाकरी डगमगा जायेगी। घर पर होता तो मैं उसे ठिकाने लगा देता, किन्तु मुझे छुट्टी नहीं। कवि की चिट्ठी पढ़कर वट महान्ती तनिक हँसे, फिर चिट्ठी को दाब दिया।

किन्तु रवि बीमार पड़ा नहीं, ठोकर खायी नहीं, खबर मिली कि वह वहाँ छोकरों को मिलाकर जाने क्या-क्या कर रहा है। वे लोग गाँव में असमर्थ लोगों का घर बना देते हैं, खेत का काम कर देते हैं, गाँव में कूड़ा-कचरा साफ़ करते हैं, गड्ढों में माटी भर देते हैं, रात में बूढ़ों को पढ़ाते हैं, लोगों को नयी-नयी बातों से प्रभावित करते हैं। फूलसरा गाँव में हलचल मची है। जो आता है रवि की बड़ाई करता है।

रवि वहाँ भी नेता होगा ! टूटेगा नहीं वह !

सोचने को फुरसत नहीं। दोल पूनम सिर पर आ गयी, झाँझ मृदंग की झंकार में देश हुलसा था। ठाकुरजी यात्रा को निकलेंगे विमान में। वट महान्ती जुट पड़े।

केवल ठाकुरजी का ही काम करने में लगे रहे ।

इस व्यस्तता के बीच, जब मौका पाते, ठाकुरजी को वट महान्ती अपनी इच्छा जताते और सान्त्वना खोजते । वट महान्ती पूछते—कौन सा उपाय करूँ कि बेटा बात माने । उसका मन फिरे ?

रवि ने पैसे माँगे नहीं । इतने दिन हुए उसे गये, कोई सहायता के लिए खबर भी भेजी नहीं । उलटे उसके जाने के बाद दो बार फूलशरा गाँव से सब्जी का टोकरा आ चुका है । फूलशरा तो नाम की जमीदारी है, फल-फूल वहाँ से कभी आते नहीं, लगान बाकी न रहने भर से ही वहाँ के तहसीलदार धन्य भाग मानते । और फिर भारवाहे ने बताया कि वहाँ के कचहरीघर का चेहरा बदल गया है, कचरा साफ हो गया है, घर साफ-सुथरा हो भीतों में माटी लीप दी गयी है, अहाते में नये घर बन रहे हैं, जब देखो बस गाँव के लोग भरे हैं, और साथ-साथ रवि के बताये कितने ही नये-नये कामों में गाँववाले भिड गये हैं, उद्यम चल रहा है कि सारा गाँव मिलकर एक गोठ होगा ।

तब नयी दुनिया गढनेवाले छोकरों की बचकानी बातों को वट महान्ती ने पतली बाँकी हँसी में ऊपर ही ऊपर उडा दिया था, परन्तु अन्दर ही अन्दर कितनी ही काल्पनिक चिन्ताओं की कोंच खाकर वे चौंक पडते । मानो वे किसी और की बात सुन रहे हैं, जिसे वे नहीं जानते, बस दूर ही दूर से सुना-सुनाया परिचय मिल रहा है ।

अपने अतीत को याद कर बेटे के मन की अवस्था समझने की चेष्टा भी की थी । कुछ याद नहीं आया, जिससे कि वे मन ही मन रवि का कोई रूप गढ सकते ।

बेकार बचकानी हो-हा ! यह सब भी दो दिन में उड जायेगा । छोडो, बाधा देने की जरूरत नहीं, पुआल की आग की तरह अपने आप ही सुलग-सुलगाकर सब काला पड जायेगा । सोचकर हँसी आ जाती, अभिज्ञ मन का सूक्ष्म विचार अर्थ निकालता—ब्याह होने से पहले छोकरों के मन में जब गरमी पैदा होती है, तब वे ऐसे ही कोई चिनगारी निकाल कर झड जाते हैं ।

इसी भावना में, अपनी जवानी के गरम दिनों की ओर मानो एक बारीक-सा छेद खुल गया । अल्हडपने के दिनों में वे भी मत्त हुए थे एक नये उत्साह में, और उनके साथ मत्त थे कितने ही लोग । उनमें झोंक उठी थी कि गाँव में ऐसा एक यात्रा-दल खड़ा किया जाये जो सदा रहे । घर से लुक-छिपकर आते गाँव के उस सिरे पर और किसी की उजडी झोंपडी में वे सब इकट्ठे होते, सबके उद्यम से झोपडी भी मानो नयी चमडी पाकर हँसकर जाग उठी थी, घनी बाड से घेरकर आँगन साफ किया गया और छोटे-छोटे रंगनी, कनेर, टगर लगाये गये । घर में माँ के बक्से से चोरी कर या अपनी जेब के खर्च में कटौती कर पैसे बचा एक जगह जोडे गये और दल की पूँजी जमा हुई । शहर से खरीद कर लायी गयी—मूँछ, दाढी, गोंद, सिर के बाल, मुखौटे, पोशाक । किसी का पुराना हारमोनियम था उसे मरम्मत कर लाया गया, सिखाने के लिए गुरुजी

आये। तब वट महान्ती मृदंग पीटते-पीटते बड़े उत्साह से हारमोनिया पर गीतों की झड़ी लगाते थे। हारमोनिया बजे चाहे किसी भी तरह, अँगुली टिके या फिसले, उसके नीचे कितने ही कागज दो या मोड़ पर कितनी ही थाप डालो, चाहे वहाँ गँ गँ लगी रहे, उस अद्भुत स्वर-समुद्र की ओर पीठ किये वहाँ चलता रहता अनवरत एक स्वर। उन दिनों के गीतों की एक-आध पंक्तियाँ आज भी याद आ जाने पर उस खोये हुए पहाड़ के पीछे से यौवन का एक-आध झोंका उनके अगुआ मन के सामने छिटक आता—

"आ रे आ रे नवीना—

तो पादे हेली मुं किणा, आ रे हेलि मुं किणा—।"

बड़े-बूढ़ों से गाली खाकर सबकी ओर पीठ दिखा सब लग पड़े उस अखाड़े घर को खड़ा करने में। आशा थी कि अखाड़ा बन गया तो गाँव में यात्रा की जा सकेगी। अपना कवित्व दिखाने पर गाँव के छोकरों को उत्साह मिलेगा। अखाड़े की तरफ से गाँव के छोकरों का भोज भी कई बार हो सकेगा, बाजी रखकर दो दलों का कबड्डी का खेल, पतंग का लड़ना, बकरों का भिड़ाना, और मृदंग लेकर वाक् लड़ाई अर्थात् वादक-प्रतियोगिता भी की जा सकेगी। लगता जैसे इनसे गाँव में मनुष्यता का खूब विकास हो सकेगा। गाँव का नाम रोशन होगा। वे भी आदर्श को सामने रखकर लग पड़े थे। उनका दल मजबूत था। अतः फूले मन से कोई कितना गर्हित काम करे, बाहर सब दूध के धोये थे।

उस तगड़े दल में बँधकर वे एक काम कर सके थे, इसके लिए बड़े-बूढ़ों से धन्यवाद भी मिला था। गाँव में स्वदेशी की धारणा मतवाले हाथी की तरह रौंदती आ रही थी। शहर की आवाज गाँव में सुनाई पड़ने लगी। फिर धूल और पसीने में तर-बतर थका हुआ प्रचारक आकर पानी और सहानुभूति माँग रहा था। उन लोगों ने प्रचारक सहित उन सब धारणाओं को दूर ठेलकर भगा दिया था। नयी धारणाएँ सिखाने आया था कि सब आदमी समान भाई-भाई हैं, जात-पाँत झूठ है, छूत-अछूत कोई नहीं, हिन्दू-पठान सबमें एक ही रक्त की धार है, जमींदार का अधिकार नहीं है, विदेशी चीजें छोड़ो, विलायती कपड़े की होली जलाओ, मिल-जुलकर अँगरेजों को भगाओ। पधानपुर गाँव के खेतिहरों ने तो गुरु मानकर उससे मन्त्र लिया था। नयी पताका उठायी थी, कपास बोयी थी, चरखा चलाया, लगान बन्द किया।....परन्तु बन्धमूल गाँव में वट महान्ती के नेतृत्व में कुछ छोकरों ने मृदंग और हारमोनिया की लय पर मिलकर गाया "जय जॉर्ज मेरी" और साफ समझा दिया था कि यहाँ युग उलटाने की बात कहने पर मार के अलावा कुछ भी नहीं मिलेगा। अतः इस नयी धारणा के पीछे जब लाठी उठाये पुलिस दौड़ी आयी, घोड़े पर चढ़कर पुलिस के साहब आये, तब वे लोग रास्ते ही रास्ते सीधे चले गये पधानपुर। उस गाँव के लोगों ने मार खायी, बाँधे गये। पधानपुर तीन बार जला। और बन्धमूल गाँव के समाजपतियों ने यहाँ की युवाशक्ति को आशीर्वाद दिया। पधानपुर गाँव को धिक्कारा जी भरकर।

वह तो उस जमाने की बात थी, ब्याह-शादी कर कुछ ही दिन जाते न जाते एक-एक कर सब अपने-अपने धन्धे में लगा लिये। अखाड़ा टूट गया।

परन्तु वे दिन भी थे! कितने चेहरे याद आ जाते। ये सब अल्हड़ता के दिनों की मूर्खताएँ कहीं नहीं जा सकती। पर कभी याद आ जाती, तो मन को गुदगुदा जाती।

रवि का नया आन्दोलन अभी रास्ते का है, पर पानी बहेगा ही, रोकने से कुछ होगा नहीं।

कवि की बात पर उन्हें अब और विश्वास नहीं है। वह गाँव का नहीं, शहर का ठहरा। वह समझ नहीं पायेगा। वह घर कभी आता नहीं, घर की खबर लेता नहीं। दो-तीन महीने में एक-आध चिट्ठी। कवि की अपेक्षा रवि कल अधिक जुड़ा रहता है।

फूलझरा गाँव में—

कचहरी के अहाते से सटकर दाहिनी ओर साधु जेना का घर-द्वार था। कचहरी के अहाते में घर से थोड़ा हटकर बीच में एक बाड़ है। साधु जेना की बाड़ी इस नयी बाड़ी से मिल गयी है। उसकी भी मेड़-बाड़ और नहीं है। उसके उधर गंगा हलवाई की बाड़ी, उमा पशायत की बाड़ी, रघुवा नाई की बाड़ी थी। सब की झाड़ियाँ उठकर एक में शामिल हो गयी हैं। रघु जेना की बाड़ी के उधर पड़ता है जमींदार का एक तीन एकड़ का पुराना पोखर, चारों ओर से भरता आ रहा है। बीच में गड्ढे की तरह थोड़ा पानी रहता है। पोखर के उधर ऊबड़-खाबड़ होकर पाँच एकड़ जमीन, नाम पाँच-माणिया है, बिना आबादी का वन है, केवल छोटी-छोटी कँटीदार झाड़ियाँ और इधर-उधर जगह-जगह बेंत के झुरमुट, बहुत सारे शरीफे के पेड़, थाक की थाक थूहर, केवड़े, कंसारी आदि, केवल गाँव के गोधि, साँप, गीदड़ के रहने की जगह। ऊँची बालुई जगह देखकर कतार की कतार नागफनी फैली पड़ी है, सिर पर एक-एक लाल फूल। उस बन के बीच टीले पर हाथ पकड़े खड़े होने की तरह दो पालिधी के पेड़, लाल-लाल फूलों से लदे हैं। अनाबादी के पूर्व की ओर पैरेंगी नदी की पतली धारा तिरछी-तिरछी मुड़कर चली गयी है। नाम की नदी होने पर भी एक खाई भर है, बंजर खत्म होते ही खेत शुरू होता है।

चमचमाती दोपहर में उसी 'पाँचमाणिया' पर इधर-उधर गाछ काटनेवाले लोगों का कलरव सुनाई पड़ रहा था। स्त्री-पुरुषों का मिला-जुला स्वर। रवि के निर्देश में वे वन काटकर साफ कर रहे थे। टीले पर कँटीली झाड़ियाँ कटी पड़ी थीं, उनके ढेर के बगल में तीन जने युवक खड़े थे कन्धे पर चमकती कुल्हाड़ियाँ रखे हुए—रवि, बई मलिक और गंगा हलवाई। बूढ़ा नन्द तहसीलदार 'आँ' किये पालिधी की ओर देख रहे थे, मानो वे उसके फूलों के सौन्दर्य से मुग्ध हों।

रवि ने कुल्हाड़ी उतारकर कहा, "बातों ही बातों में बहुत समय चला गया, अब काम हो।" इसके बाद पालिवी पर पहली चोट दो, फिर वई मलिक ने, फिर गंगा हलवाई ने। दूसरी बार चोट पड़ने से पहले ही नन्द तहसीलदार चिल्ला उठे, "ठहरो, बात तो सुनो!"

रवि हँसते-हँसते लोट-पोट हो गया। कुल्हाड़ी को कन्धे पर डाल पीछे कमर मोड़कर कहा, "अब ठहर-ठहर क्या, अब हमारी बातें करना और बाकी रह गया है, मौसा?" बूढ़े तहसीलदार बाबू को मौसा कहने में कब से उसकी जीभ अभ्यस्त हो गयी थी, उसी सूत्र से 'मौसा' पर ज़ोर भी दे देता। कहा, "लोगों ने जमकर काम करना शुरू कर दिया। अब जल्दी-जल्दी उस वन के झुरमुट को भी साफ-सुथरा कर दें तो काम बने। और अब प्रतीक्षा किस लिए?"

नन्द ने कहा, "किस घर के बेटे हो, किस घर के पोते हो इस तरह इनके साथ मजदूरों की तरह बनकर काँटे-झाड़ी रौंदकर कुल्हाड़ी चलाये बिना क्या नहीं चलेगा, बाबू?"

रवि ने कहा, "हम सब मजदूर हैं, सिर से कोई कितना ही सोचे, हाथ से काम किये बिना आदमी आदमी होकर नहीं रह सकता। छोड़ो, तुम क्या कहते हो कहो, मौसा, मैं रुकूँ....ये काम करेंगे?"

"नहीं, काम और क्या करेंगे? जो भी हो, कँटीली झाड़ियाँ दो थी, काट लेते तो यह भी हो जाता पूरा। मैं कहता था कि अभी रहने दें, सामन्त को पूछ लें, फिर जाकर काटते। इसे डाल रखेंगे, किसी को देंगे या तोड़कर जमीन करेंगे, फिर उनकी मरज़ी। अगर पिछली तारीख डालकर पावती लिखकर किसी के पट्टे कर देते तो कुछ नगद रुपये सलामी के मिल जाते। वो देखो, मट माहू, आदिकन्द साहू है, पैसेवाले लोग ठहरे, उनकी जमीन यहाँ से कौन-सी दूर पर है? कितनी बार दौड़ा होगा मेरे पास कि बाबू पिछली तारीख से पावती करा दो और पिछले बारह बरस से हमें दखल दिखाकर दे दो, जो दर माँगोगे देंगे।"

पास ही झाड़ी काट रहा था कुरूपा बावरी, ताली बजाकर बोला, "यही तो भेद खुल गया। हूँ, तहसीलदार को अंटी में कुछ गया है, पाया है कुछ, अब छुपाये क्या होगा?" झुरमुट की ओट से और भी लोग 'किरि-किरि' हँस पड़े। हँसी में हँसी फैल गयी, गोलमाल में से कुछ सुनाई पड़ा। एक दल के लोग हल्ला कर उठे—"हो हो हो—सीयार बाबू चल पड़े, अरे देखो-देखो-देखो—"काम काम की तरह लगता ही नहीं, धम मौज, हँसी-मजाक की तरह है।"

किन्तु नन्द तहसीलदार गुस्सा हो गये। गुस्सा होनेपर वह बूढ़ा छप्पर फाड़ता-सा दिखता। सों-सों करते इधर-उधर होते-होते सब ढीला होकर उलट-पुलट हो जाता, और पहले जीभ लड़खड़ाती। कुरूपा बावरी की ओर दो कदम बढ़ाकर बूढ़ा कहने लगा, "अरे तेरी—तें-ते—" गुस्से में बात गले में ही अटक गयी।

बड़ई मलिक ने कुल्हाड़ी झुला दी। एक लेंदा थूक फेंक कर कहा, 'थू: !' इधर-उधर होकर काँटों की डालियों को पैरों से सरकाने लगा। कुरुपा ने जवाब दिया, "अरे मेरी मैं-से क्या, कहो न, क्या कहना है ? नये बाबू तो इस गाँव में नये आये हैं, वो कुछ जानते न हों, हम क्या जानते नहीं तुम्हारी साई ! अच्छी-अच्छी खुदकाश्त जमीन, नारियल का बगीचा, बाग। फालतू पैसेवालों को जब पट्टा दिया तब कहाँ था यह विचार ? क्या तब जमींदार ने कहा था ? या उनसे पूछा था ? या वे जानते थे ?

"छोड़ो, छोड़ो," रवि ने कहा," रहने दो यह वादानुवाद। कुरुपा, चुप कर !"

"हाँ, जमाना ही ऐसा हो गया है !" नन्द तहसीलदार कहने लगे, "नहीं तो ओछे आदमी, सामने खड़े होकर कमर मटका कर बात कहें ?"

नाक उठाकर होंठ मरोड़कर गंगा हलवाई ने नन्द को उत्तर दिया—"ए: ! सब साली छोटे आदमी, छोटे आदमी हैं और ये ही एक हैं बड़े आदमी ! जिनको बाबू छोटा किया था, न्याय होनेपर उन्हीं के आगे परास्त होंगे तुम। जमाने की बात कहते हो ! याद नहीं, बाबू, जिस बार काआलिधाई का बाँध तोड़कर नदी का पानी हिलोरें लेने लगा, मेरे घर की दीवार दड-दड गिर पड़ी। कुछ समझ ही न आये कि क्या करूँ, तुम्हारे आगे कितने निहोरे किये कि अब कहाँ खूँटे गाड़ूँगा, रंगी की माँ केवटणी को जो टुकड़ा मिला था, उसके मरने के बाद तो वह वैसे ही खाली पड़ा है, वहाँ गीदड़ हगते हैं, तुमसे कहा था कि मुझे पट्टे पर कर दो। दिया तो नहीं, उलटे तुमने क्या किया ?"

"छोड़ो, गंगाधर, पिछली बातें भुला दो," रवि ने कहा, "आगे की बातों की ओर नजर रखकर काम करो।"

नन्द चुप थे, पर वे गुस्से में उबल रहे थे। अचानक गरदन को पीछे मोड़कर बोले, "नहीं, यह खेल बहुत दूर तक चला गया है। यह समूह क्या ? यह दल क्या है, मेरी तो कुछ समझ में आता नहीं। बाबू, तुम यह सब बन्द करो तो।"

रवि आया तब से ऐसे ऊँचे होकर कभी कुछ कहा नहीं, किसी काम में बाधा नहीं दी थी। उससे कहा, "पहले तुमने जब काम आरम्भ किया, मैंने सोचा, यह खेल घर है।"

"खेल घर है !" पास के लोगों ने नकल की।

नन्द ने इन सब बातों की ओर ध्यान नहीं दिया, कहने लगे, "खेल घर नहीं तो और क्या है ? दस लोग इकट्ठे हुए, गाँव का झगड़ा-टण्टा मिटा, बाहर ही बाहर कलह सुलझ गयी, कितने लोगों के टूटे-फूटे घर मरम्मत हुए, गन्दगी साफ हुई, गाँव का रास्ता सुधरा। मैंने सोचा, खेल ही खेल में यह जो चल रहा है सो तो अच्छी बात है। उसपर फिर क्या न बीच-बीच से बाड़ काटो जाकर कितने लोगों की बाड़ी शामिल की गयी। फिर चली अब खाली जमीन पर चोट। सब तो एकाकार होंगे, नहीं क्या ?"

शान्त होकर रवि ने कहा, "समझ रहा हूँ, कहाँ तुम्हारी गलती हो रही है। अकेले तुम्हारी ही नहीं, तुम्हारे जैसे जितने हैं सबकी। तुम सोचते हो कि अभी जो

कुछ जैसा देखते हो, वह ऐसे ही रहेगा। देखो न, तुम्हारे बचपन से अब तक में कितना कुछ बदल गया है!"

"देखता हूँ," नन्द ने कहा, "देखता कैसे नहीं? कहाँ हमारे समय की मान-मान्यता, भद्रता, सज्जनता; जमीदार के बेटे ने पकड़ा हल, कुल्हाड़ी। अब और यह युग कितना बदलेगा?"

"हुआ कहाँ? हुआ नहीं। जमीदार का बेटा होने से क्या हो गया? काम किये बिना कोई खाने को नहीं देगा। जमीदारी के रहते सब हो गये खाली खोल। आखिर में वह भी गयी। इस पृथ्वी पर लोग बढ गये, खाने के लिए हाहाकार। वे लोग चारों ओर दबाते-दलते खेती किये जायेंगे। अब फसल का भाव हो गया कितने से कितना, मूल्य कहाँ से कहाँ चढ गये। अपने लिए न खटकर औरों के लिए क्यों कोई खटने जायेगा? तभी तो गाँव-गाँव में मजूरों ने पैर फैलाये हैं।"

नन्द तहसीलदार ने खँखार कर कहा, "ओहो हो, बस करो, इनमें कुछ माटी पीटने लगे, कुछ मोटरों में चढे, पाँच पावले की चीज का पाँच रुपया किया, असतपने से दुनिया डूब रही है, कोई किसी को मानने को तैयार नहीं, इसी का नाम है नया युग, इसी के लिए इतना उछल रहे हो? पर यह तो केवल सरपत के वन में कादम्बरी पीकर मतवाला होने की तरह—"

सरपत का वन! कितनी बार सुनी है रवि ने यह बात! चिन्तित हुआ। किन्तु उसकी चिन्ता को एक ठहाके में उड़ाकर उत्तर दिया कुरुपा बावरी ने। बोला, 'हो हो',—ये बिना साहू, कपिली विस्वाल, घड़ीनन्द, ऐसे लोगों की बावत ही तो कहते हो बाबू! हाँ, वे आवारा फिरते थे, अब हेरा-फेरी कर एक-एक घर खड़ा कर लिया है। उनकी लोहे की छड़ में बनी पक्की दीवार और टीन की छत तुम्हारी छाती में चुभती है। तभी पेट में दर्द हो रहा है, आँखें सह नहीं पाती—क्यों? अरे बाबू, जुग-जुग से कपाट बन्द थे, महात्मा गान्धी आये, उन्होंने किवाड़ खोल दिये। उन्होंने रास्ता खोला ताकि सत् घुसे, उसके साथ-साथ कितने रामनामी चादर ओढकर असत् भी घुस आये। यह असत् भी दो दिन का है। यह किवाड़ खुला है, इसलिए वे घुस आये। यह किवाड़ खुला होगा, और इन्हें हम पीटकर इधर से ही विदा करेंगे, क्या समझते हो?"

चौंककर रवि ने कुरुपा बावरी के चेहरे की ओर देखा। वह निपट मूर्ख है, फिर भी बात कह रहा है।

वई मलिक चुप था। अब वह भी नन्द तहसीलदार को आईन बताने लगा, "इतनी हो-हा में क्या है बाबू? जिसकी सम्पत्ति है, उनका बेटा अपनी मन-इच्छा जैसा करे, निचले लोग कहना मानकर ही काम करें, इसमें आपत्ति उठानेवाला है कौन? आदमी सरल बने तो क्या नौकर-चाकर भी घोड़ा चढेंगे?"

नन्द तहसीलदार का मुँह जल गया, किन्तु वई मलिक ने फिर कहा, "बूढे बाबू तो माला फेरनेवाले ठहरे, बड़े बाबू विदेश में रहते हैं, वहाँ वे भले और उनकी चाकरी

भली। ज़मीन बाड़ी, काम-धन्धा सब देखते हैं छोटे बाबू। खुद वर्ता ही खड़े होकर बता रहे हैं कि यह झाड़ी का वन साफ होगा, वह बाड़ कटेगी, वह पोखर खुदेगा, वह ज़मीन ऐसे नहीं वैसे कास्त होगी। अच्छा, उन्होंने तुम्हें रखा है अपना काम करने के लिए ही न। उन्हें जो भला लगा, वह करेंगे। उनकी 'हाँ-हाँ' में तुम्हारी 'ना-ना' क्यों है बाबू ? काम बन्द करनेवाले तुम हम कौन है, यही समझ में नहीं आता।"

अवाक् खड़े बूढ़े नन्द रवि की ओर देखते रह गये। बई मलिक की चेतावनी से उनको होश आ गया। नजर झुक गयी। सोचा, यह पागल है। इसमें मेरा क्या जाता है ? फ़ालतू विरोध करना ठीक है क्या !

याद आया, यहाँ का हालचाल बट महान्ती को बताने के लिए आदमी भेजा था। बट महान्ती ने सब सुना कोई आदेश नहीं दिया। कण्डुरी बारीक ब्यौरा लाया था। बूढ़े बाबू ने पूछा था कि 'रवि ठीक है तो ?'—'जी, हाँ।' 'सब गोविन्द की लीला है !' —बूढ़े बाबू ने कहा था।

याद आया, ऐसे ध्वंस हो गये हैं कितने ही बड़े-बड़े जमींदार, कितने राजा-महाराजा केवल अपने खयाल के पीछे-पीछे भाग कर। किसी ने पहाड़ों पर पोखर खुदवाये हैं, तो किसी ने गड्ढों में महल चिनवाये, किसी ने कुत्तों का झुण्ड पाला है, तो किसी ने बाघ के झुण्ड की प्रतीक्षा की है, कोई एक-एक कर पत्नियाँ जुटाता गया, और किसी ने राज-भर के भाटों-नटों को जमा कर उन पर खज़ाना लुटाया है।

आती-बाँकी हँसी को गाल मरोड़ मुँह बिचका कर ढँक लिया। नन्द ने कहा, "अच्छा मैं चलता हूँ। ये सब देखेंगे तो पिता बिगड़ेंगे।"

बीच में अचानक द्वन्द्व टूट गया, मानो समय से पहले ही तमाशा खत्म हो गया हो।

रवि ने दूने उत्साह से कुल्हाड़ी उठाकर पालिधी पर आक्रमण किया, परन्तु लगता था जैसे आज काम पग-पग पर तर्क में ही उलझ जायेगा। बई मलिक ने हँसकर कहा, "ये दोनों पेड़ कैसे दिख रहे हैं ?"

रवि ने पूछा, "बोलो।"

"ठीक जैसे दो बहुएँ, काटने को हाथ उठता ही नहीं।"

सब 'हो-हो' कर हँस उठे। रघुवा ने ठट्ठा किया "तब तू इनमें से एक को ब्याह ले।" कुरपा ने कहा, "सच भई, कुछ भी कह, सोहनी चीज को काटने के लिए हाथ उठता ही नहीं। गाँव के पास होते तो बच्चे ये फूल लेकर खेलते हो।"

"खाली खेल ही क्यों। इसके फूलों को ले जाकर साग बनाने से कितना स्वादिष्ट लगता है ! सच, दोनों गाछ, मानो इनपर आलता लगा दिया हो।"

रवि कह पड़ा, "नदी की कछार में सफ़ेद-सफ़ेद कास के फूल पीले-पीले सन के फूल सुन्दर लगते हैं। फिर मनवारा धान का खेत भी सुन्दर, बाड़ी-बग़ीचा भी सुन्दर है। खाने को हो तब तो इस खोखली सुन्दरता से मन बहलाया जा सकता है, नहीं तो

नहीं। हमें चाहिए वैसा सुन्दर जिसमें अभाव मिटे या काम करने को मन हुलसे, और राज भर के सुन्दर-असुन्दर को चुनने-बीनने का हमारे पास समय नहीं। चलाओ कुल्हाड़ी! बेकार की गप्पों में समय गया।"

चोट पड़ी।

उसी बीच रवि के मन में गुदगुदाया—लाडभरा जीवन। एक चेहरा याद आया। कुरुपा ने कहा, "रहने दो बाबू, हम तो काट ही रहे हैं। उधर क्या हुआ, जरा देख आओ तो।"

रवि ने आपत्ति नहीं की। घूम कर देखने लगा।

अब आँखों के आगे था एक सपना, सब और सब का मिलकर एक विराट् क्षेत्र बन गया है। सबको पकड़े है, सबको पाल रहा है, वहाँ बाड़ बूड़ा नहीं, मन की खुशी से एक जगह सबके जरूरी-गैरजरूरी बड़े-बड़े बगीचे-बाग, खेत, और स्वस्थ-सबल लोगों के चेहरे से हँसी उफन कर गिर रही है। सब निश्चिन्त हैं।

गली कँपाती दोल (होली का उत्सव) की मौज-मस्ती शुरू हुई। लोगों ने काम बन्द किया, लगे सजने-सँवरने। तेल में चमचम करते सिर पर माँग निकालना, नये कपड़े पहनकर घूम-घूमकर पान चबाना, बाजे, संगीत, यात्रा, मेलन और मित्रों के घर जाकर मिलना। देखते ही देखते दोल की घड़ी बीतने लगी। काम से छुट्टी, बड़ा पर्व, अहोरात्रि संकीर्तन की धूम लोगों को घर में से खींच ले जाती। सप्ताह में एक-एक दिन बारी डाल देने पर कहीं न कहीं जरूर हर रोज मेलण होता। बहुत पैसा गाँव-गाँव से शहर की ओर ले जाया जा रहा है। मँहगे-मँहगे शौक, शहरी दुकान से भाड़े पर लाइट आ जाती है—बड़े-बड़े साहब—मेम, बूढ़े-बुढ़िया, रावण, जटायु पक्षी, घोड़ा, ऊँट, इसी तरह के कितने वेश आते हैं। तेलंगी बाजा दल के दल, झुण्ड के झुण्ड नाट वाले, भाँति-भाँति के पटाखे, रोशनी, फूल और सजावट के साजो-सामान, इसके अलावा हर दल का अपना विमान, ठाकुरजी, संकीर्तन सम्प्रदाय, मेलण के मैदान में भीड़ के लोग, कतार की कतार दुकानें, कितना मजा लगा रहता। देहात की पगडण्डी और नदी के किनारे-किनारे बहने लगा आदमियों का स्रोत—स्त्री-पुरुष, छाता, लाठी, गठरी लिये, रंग-बिरंगी पोशाक पहने बच्चों को कन्धों पर बिठाये, कमीज-चादर डाले लोग, छोकरों के नये-नये वेश, नये-नये फैशन। देहात और शहर के मिले-जुले, किसी की फूलदार जाली की गंजी, तो कोई चिलचिलाती धूप मे भी गले में सतरंगी ऊन का मफलर डाले, कोई चल रहा है कैनवस के जूते पहने, हाथ में चकमक घड़ी, सामने की जेब में गुच्छाभर फाउण्टेन पेन—जा रहा है वह यात्रा देखने, पान से रंगा मुँह लाल-काला, कान में सोने का कुण्डल, हाथ में लम्बी टोपा बत्ती और कन्धे पर धारीदार मोटा नहाने का तौलिया। रंग-रंगीली

साडी बाँधे, झमर-झमर पायल बजाकर धरती दुलकाती हाथ पकड़े जा रही हैं झुण्ड की झुण्ड औरतें। देहात की धूल भरी सड़क पर एक के पीछे एक ढँकी हुई बैलगाड़ियाँ, उनमें असंख्य यात्रा देखनहारी स्त्रियाँ, बच्चे, ईंट-बालू ढोने के लिए बने बाँस के खुले डाले में वे ही लोग ठँसे-ठँसे-से भरे हैं। चारों ओर रंग और चहल-पहल। काम कौन करे?

परन्तु रवि ने काम रोका नहीं। चलती रहती काटा-काटी, छाँगना, बाड़ा बाँधना, घर मरम्मत और कितने ही काम।

"तुम लोग काम न करोगे, मत करो," रवि ने अपने साथियों से कह दिया, "मैं किसी को बाध्य नहीं करता। किन्तु मुझे तो दिखता है कि मेरे लिए छुट्टी नहीं। बहुत काम बाकी पड़ा है।" इतना खट रहा है एक आदमी, अपने लिए नहीं उन्हीं के लिए। यही उसका सहज नेतृत्व है। उन लोगों ने आपत्ति नहीं की। पर वही बात घूमने लगी मन में, और उस दिन भी बेसहारा बुढ़िया जगुआ की माँ का घर वे लोग मरम्मत कर रहे थे। कुछ लगे थे माटी गूँदकर एक दीवार खड़ी करने में, तो कुछ दूसरी तरफ डाली पीट रहे थे। घूम-फिरकर बात चल पड़ी।

जगुआ की माँ चासिन है, बेटा-बेटी कोई नहीं, पति कब का मर चुका। दो एकड़ जमीन, बँटाई में खेती कराती, और लोग डरा-धमकाकर खा जाते। जगुआ की माँ अपना बुढ़ापा दुख में काट रही है।

"जगुआ की माँ, चलेगी तू हमार साथ? तेरा खाना-कपड़ा, भले-बुरे का भार हम पर, तेरी दो एकड़ की जमीन की खेती सामलात में होगी।"

जगुआ की माँ ने खुशी से हामी भर दी। इसके बाद एक दिन देखा, उसकी ही आँखों के सामने जो छान दब गयी थी, ऊपर उठा दी गयी है। दो कोठरियों में से एक की दो भीत गिर पड़ी थी, उनका ही काम चल रहा है। जगुआ की माँ झुके-झुके इधर-उधर देख-देखकर आ रही है, आसीस दे रही है—"ओ हो, क्या हुई पड़ी थी यह झोंपड़ी, क्या कर दिया! विधाता हजारी उमर करे तुम सबकी। गाँव में तुम लोगों सरीखे और दस-पाँच जवान हो जाएँ तो गाँव की फिरी ही मुड़ आती। आजकल तो, बेटे, सब गोलिया देत हैं, कौन किसकी सुनता है?"

"यहाँ क्या देखती हो दादी," रवि ने कहा, "जब देखोगी, चीटियों की तरह बच्चों की कतार लग जायेगी, खाली तुझसे ही उस जमाने की कहानियाँ सुनने के लिए, और तेरी बाड़ी में फलेंगे बड़े-बड़े अमरूद, गाछों पर चढ़कर वे झूलते खेलते होंगे, मायों के काम पर जाने पर उनके बच्चों को देखती रहेगी, तब जानोगी तेरा घर सचमुच हँसी से भर गया है।"

मानु जेना ने कहा, "तभी तो दोल के दिनों में भी काम चल रहा है। तुम चाहे जो कहो, दोल पर दस दिन हाथ थाम देते थे, तो मन जरा फुरतीला हो जाता था। जब से होश हुआ, ऐसा दोल मेरा तो कभी नहीं गया। बरस में एक बार तो

आयेगा पूनो का परब, जीते रहे तो फिर अगले ही बरस। छोड़ दिये तो हांय-फांय होने रहो।"

"पहाड़-सा काम नष्ट हो रहा है। सुबह उगकर सांझ को सूरज जगत् में अंधेरा कर अस्त हो जाता है। आदमी की उमर में से खतम हो जाता है एक दिन, वह और आयेगा नहीं। न किया काम और कर सकोगे नहीं। समझते नहीं, मृदंग बजा तानानाना कर हम अपनी ही अर्थी उठाये चलते हैं मशान की ओर। इस शौक से लाभ क्या है?"

उमा पशायत ने कहा, "काम नष्ट होने की बात कहते हो, फिर धरम-करम भी तो है, करना ही होगा, नहीं तो जीव की मुक्ति कैसे होगी?"

रवि हँस पड़ा, कहा, "अपना धरम अपने पास है। दल बांधकर 'हो-हा' करने से क्या हमारी बात भगवान् के कानों में अधिक पड़ेगी? हम घर बैठें या काम बन्द करें तो क्या ठाकुरजी हम पर अधिक प्रसन्न होंगे? या उलटे कहेंगे कि ये तो आलसी है, निठल्ले है? काम की वेला काम होगा। काम न रहे तो धरम होगा। काम को लेकर धरम नष्ट नहीं होगा, धरम को लेकर काम ढीला नहीं पड़ेगा।"

"बस यही तो है सार की बात।" बई मलिक ने कहा।

रवि ने कहा, "इसके लिए तो हमें उलटे होडा-होडी से काम करना चाहिए। काम को लेकर हर चीज का मोल है, सब आदमियों का मूल्य है। हमारे लिए तो जो जितना ही काम करनेवाला है, वह उतना ही दरकारी आदमी है। हम दोल भी मनायेंगे, काम भी कर रहे हैं। आलस नहीं है। लग जाओ, आज ही यह भीत खड़ी करनी है, नहीं तो यह टूटा घर हमारी आँख का काँटा समझो। लोग कहेंगे देखो, ये लोग बातें तो कितनी करते थे, और किया क्या? कहने की वेला तो हाथी करेंगे, घोड़ा करेंगे, और काम के समय सब फुस्स्—।"

"नहीं, नहीं, फुस्स् नहीं होगा।" जोरों से सबकी मिली-जुली आवाज आयी, "यहाँ तक देखो, अपना काम सरस है, अब और भी सरस होगा, जो कमायेंगे सबके लिए, जो करेंगे सबका होकर रहेगा।"

जगुआ की माँ ने कहा, "पहले के जमाने की बात अब और कहाँ रही बेटे? छिः कैसा कलजुग है! आदमी को न मारकर क्यों जिला रखा है भगवान् ने, यों परेशान करने के लिए। पता नहीं क्या है उसके मन में? उस जुग के लोग भी कहाँ मर-खप गये, वह सनेह-अपनापा भी जल-भुन गया। बस फिर तो इन्द्र ने भी नहीं पाला, धरती ने भी। वह फल दिया नहीं, गाय की थान भी सूख गयी! अब तो उस जुग के 'पखाल' सपने हो गये।"

"जमाने के सपने फिर सच होंगे, दादी!" रवि ने आश्वासन दिया, "यह माटी सोयी पड़ी थी, फिर जाग उठेगी। जिस रास्ते टूटे हैं, उसी रास्ते गढ़े भी जायेंगे। बस अपना मन मजबूत करने से—"

"तेरी बात में फूल-चन्दन पड़ें, बेटे! कोटि परमायु दें तुझे भगवान्!"

"तेरा-मेरा भाव आता है अभाव से । गाँव भर अगर हम सब एक होकर सब के लिए भात, कपड़ा और घर जुटा सकें, और सब चलें एक होकर, तब फिर कलह किसके लिए ? कोई धनी होगा नही, कोई दरिद्र होगा नही, कोई साहूकार नहीं कि कोई मालेदार नही; न कोई सामन्त होगा न कोई चाकर रहेगा । सब होंगे गाँव के रोजगारिया बेटे-बेटी । कमाया तो सब की थाली में होगा घी-भात । कमाई कम हुई—सब नून के साथ भात खायेंगे । यहाँ के सारे बच्चों को पढ़ायेंगे । हम ने प्रण किया है कि नया समाज गढ़ेंगे ही गढ़ेंगे । हमें कोई अटका नही सकेगा—"

काम करते-करते कहीं हाथ अलसा गये, पर कान लगे हैं रवि की बात सुनने के लिए ।

आदमी नही, युगदेवता मन्त्र पढ़ रहा है, सब सुन रहे है ।

आँखों मे नया सपना, प्राणों में नयी अनुभूति, नये भाव से परिस्थिति को देख रहे है ।

बड़ी-बड़ी साँसों से छाती पर लहरें फैल जाती हैं । आदमी अपनी ताकत को पहचान रहा है ।

घर के सामने सहजन का गाछ मानो बोधिद्रुम हो, उसकी नयी शोभा, नया सन्देश, और उसके नीचे सारी जात-पाँत मिलकर मानो एक । ये ग्यारह जने इस नये युग के बौद्ध भिक्षु है और बूढ़ा भिक्षुणी यह जगुआ की माँ है ।

आलोकलोक से झर रही है—आदि बुद्ध की अमृतवाणी, बापा का आशीर्वाद, जीवन का सहज संगीत ।

घर बन रहा है, वहाँ पर गारा, माटी, डालियाँ, बाँस सब पड़े है ।

सामने टूटे घर का कंकाल पड़ा है । नित देखे सरल जीवन के सम्भार को समेट कर झलक उठता है नये दिन का स्वप्न ।

सब पेट भरेंगे, कोई भूखा नही रहेगा ।

सब के घर होंगे, कोई पेड़ की छाया में नही पड़ेगा ।

जाति रहे, धर्म रहे, पर सब आदमी भाई-भाई है ।

कुछ बात न थी, जगुआ की माँ भो-भो रो पड़ी । मानो धनुष का गुण टनक उठा था, झनन् कर टूट गया ।

सब चौंक पड़े । "क्या हुआ जगुआ की माँ, क्या बात हुई ?" जगुआ की माँ सुन नही रही, रो रही है । बई ने कहा, "आहा हा ! बूढ़ी ठहरी, कुछ याद आ गया ।"

गंगा ने कहा, "बेचारी जनम से दुखियारी औरत । याद के लिए ढेर सारी बातें है । कौन-सा दुख है जो उसे नही मिला ?"

साधु जेना ने कहा, "उसका पति था पितेई सोई । पाँच हत्था मरद । खड़ा होने पर लगता अघासुर की तरह । जगुआ का जनम हो गया था तब, बेटे के जनम पर मन में खुशी न थी, पर जितना भी हो मजूरा आदमी ठहरा, देनदारी के बोझ से कमर झुक

गयी थी। भरत साहू महाजन ने जब डराया, कहा कि अबकी कुरकी लाकर झोंपड़ा उखाड़ ले जाऊँगा, तो बेचारा अधिक पैसे कमाने के लिए गया कलकत्ता।"

जगुआ की माँ सुबक उठी थी।

गंगा हलवाई ने कहा, "हाँ, गया सो गया, उनकी बाट देखते-देखते घरनी की आँख का पानी सूख गया। और फिर आया नहीं, कोई खबर भेजी नहीं।"

रवि ने पूछा, "कहाँ है वह?"

साधु जेना ने कहा, "हवड़ा पुल देखा, काली देखी, कलकत्ता देखा, दो-दो बरस में जो कमाया सब खानगी के पीछे उड़ा दिया, आखिर में जूट मिल उसे खींच ले गयी, बस वहीं खतम।"

रवि ने पूछा, "फिर?"

गंगा ने कहा, "फिर जो हुआ करता है, वही हुआ। जगुआ की माँ दुख में दिन काट रही थी। मेहनत कर जीने लगी। खैर, जगुआ ही रहता। मेरे ही साथ का छोकरा, भगवान् ने उसे भी उठा लिया हैजे में चला गया।"

जगुआ की माँ की रुलाई अबकी किसी जन्तु की तरह 'गें-गें' हो गयी थी।

साधु जेना ने कहा, "फिर संसार नहीं बसाया। लोगों ने कितना कुछ नहीं कहा, पर कान दिये ही नहीं। बस, ऐसे ही धान कूट, मजूरी कर दुख-सुख से जो कुछ सहेजा, चोर ले गये। उमर ढली, बल-हिम्मत टूट गयी, बूढ़ी पड़ी रह गयी बस केवल रो-रो कर मरने के लिए। आह, भगवान् दुख देते हैं जिसे, उसे अच्छी तरह देते हैं।"

नये युग की शुरुआत लाली को देखकर जगुआ की माँ अपने जले-खाक हुए जीवन को याद कर रो पड़ी थी।

रवि की आँखें छलछला आयीं। कहा, "दादी, रहने दे, समझ ले हम सब तेरे बेटे हैं। एक बेटा खोया है, करोड़ बेटे पाये हैं। ये देख, हम सब जीवित हैं तो, मरे नहीं। फिर तुझे काहे की चिन्ता?"

याद आया, विजय की दुन्दुभी बजेगी, अवश्य बजेगी, उसी उल्लास के नीचे-नीचे धूल के कण की तरह चिपके होंगे—अतीत के अँधेरे युग के दुख-अत्याचार, जर्जर आदमी की स्मृतियाँ। वे तर्पण खोजती होंगी।

जगुआ की माँ सुबक-सुबककर चुप हो गयी। दल के लोग 'बटुवा' खोलकर पान लगाने बैठ गये। कोई पान के पत्ते में चूना मल रहा है, कोई सरौते से सुपारी काट रहा है। कोई बटुवे में खोज रहा है एक आध टुकड़ा कत्थे का।

रवि ने ऊँची आवाज में कहा, "देखो, समय गया, काम रुक गया।"

किसी ने कहा, "अरे रे, लगो, उठो, उठो-उठो।—"

फिर काम चल पड़ा।

कृष्णा ने मुँह फाड़कर गुण्डी (तम्बाकू मिली सौंफ) थोड़ी फाँकी। हँसकर बोला, "भई, आप जो भी कहो, यह ढोल की घड़ी है। ये अमिया, कोयल की कुहू-कुहू,

मधु-मक्खियों की भिन्न-भिन्न, यह समय अलबेला ही है। फागुन में आदमी अलसा जाता है।" कुसुमा ने आँख मटका कर बात कह ही दी। सब हँस पड़े। रवि हँसते हुए चेष्टा कर रहा था कि आँखों में आये सपने को धुड़क कर दूर भगा दे।

आधी रात ! कचहरीघर के बरामदे में खजूर की चटाई पर रवि लेटा था। आँखों में नींद न थी। मच्छर घेरे थे। रह-रहकर हवा देह को छू जाती, मच्छरों के काटने की जलन कम हो जाती, पर फागुन की उस मन हुलसानेवाली हवा में मन की जलन बढ़ जाती। बार-बार याद आ जाती है छवि !

इन कुछ दिनों में नयी दुनिया गढ़ने के तरुण उत्साह में उसे आत्म-विश्वास हो आया है, मानो पैरों ने नीचे की मजबूत माटी का अनुभव किया है। अब वह रास्ता जानकर आगे बढ़ता चला जायेगा। मानो मन को मजबूत कर एक करारी-सी चपत गाल पर लगाकर मच्छर को धुड़काया हो—वैसे ही वह अपने आपको तड़ाक् से पीटता-सा पूछ रहा है—क्यों है उसमें यह विकार ? क्या यह दुर्बलता नहीं है ? कामना का निरोध किये बिना शान्ति कहाँ ? नारी की चिन्ता में मन को लगा देगा तो फिर कैसे मूर्त कर सकेगा वह अपनी योजना को ?

तर्क उड़ जाता। विकल होकर वह बार-बार छवि का सपन रूप आँखों के आगे देखता, निराश्रय-सा लगता, मानो वह उसके जीवन का अपूर्ण अंश है। न पाने तक जीवन का कोई अर्थ नहीं है, कोई उद्देश्य नहीं, कोई मूल्य नहीं।

खुद से पूछता—यह कैसे सम्भव होगा ? क्यों वह इस मायामरीचिका के पीछे-पीछे दौड़े ? हृदय स्तब्ध हो आता है, केवल एक चेतना की लहर बहती चली जाती है, देह की सत्ता भूलकर।

अनुभव हो रहा था मानो उसके अपने भीतर ही कहीं द्वन्द्व लगा है। असहिष्णु हो उठा, हड़बड़ाकर उठ खड़ा हुआ। मन से दूसरी चिन्ता भगाने का प्रण कर उसने अपनी योजना के बारे में सोचा। इधर-उधर घूमने लगा।

जो काम उसके अन्तर से निकलकर उसके हाथ में दायित्व बन गया है उसे करना ही पड़ेगा। पहले दस घरों का एक समूह, इसके बाद फिर और पाँच-दस घरों को इसमें गूँथना होगा, फिर औरों को। इस तरह गाँव भर को। फिर गाँव पर गाँव। और यों सारे इलाके को। जिधर जाओ बाड़ नहीं, छोटा-बड़ा नहीं, तेरा-मेरा नहीं। होगा सब सबका, सब लोग एक दूसरे के। तब यहाँ आदमी भाई-भाई होगा, सारी धरती एक होगी। घने पेड़ के नीचे के अन्धकार की तरह उसकी चेतना पर छाया घिर गयी देश-विदेश के आदमी के दुःख की, नीग्रो, याँकी मजूर, चीनी चासी, विलायती साहबों के कोयला-खदान के मजूर, यहूदी खानाबदोश, भूखा ईरानी,

अत्याचार पीड़ित जंगली, इस देश के अगणित श्रमिक, मजूरे। पेट में भूख, पीठ पर गर्म सलाखों के दाग, सारी देह में लकीरें, हाथ-पैरों में कड़ियाँ, वे रो रहे हैं। शोषण कर खा रही है आदिम वर्बर स्वार्थ की पूँजी, हाथ पीसकर युगों के बाद युग बीत जाते हैं, वे रोते रहते है। वे सब बिखरे-बिखरे हैं, व्यष्टि में हीनबल हैं, उन्हीं भूखे-प्यासे, असहाय, नगण्य, अगणित आदमियों की दुनिया का प्रतिनिधि कहलाकर अपनी जाल में फँसाकर, भूखे मुखों में बम फेंककर मशीन चला रहा है असभ्य स्वार्थवाद का राक्षस। नाना भेष में, नाना वेश में। मानव जाति अगर जीना चाहती है तो उसे एक होना ही पड़ेगा, उस एकता के सेतु निर्माण में उसका भी कुछ कर्तव्य है; वह गिलहरी होगा बालू के कण ढोनेवाला। तोड़ना ही पड़ेगा यह कुसंस्कारों का जड़ पहाड़—महासेतु निर्माण के लिए नन्हें बालूकण बनाने को। इसी के लिए शायद इस मानव-स्रोत के बहाव की सर्जना हुई है।

समय नहीं है, वे रो रहे हैं।

अपने अन्तर में उसे हूक-सी लगी। अनुभव हो रहा है मानो वह विच्छिन्न है, वह उखाड़ा हुआ है, फिर उस अनुभूति की अपूर्णता के उत्तर के रूप में आ पहुँची छवि!

सोचते-सोचते उसे लगा जैसे वह उसी के लिए सुबक रहा है, अस्थिर हो रहा है। इधर-उधर होते हुए उसकी गति में एक तरह से समान छन्द आ गया है, मानो वह दीवार घड़ी का लोलक हो, छवि ही मानो—व्यापक रूप से उसके अभाव का उत्स हो; वहीं से झर रही है अभाव मिटाने की योजना, गढ़ने की प्रवृत्ति। वह पुरुष नहीं, प्रकृति है—आकर्षण से जन्मती है ध्वंस और सर्जन के लिए शक्ति, प्रवणता को खुला रखकर जीवन का ज्वार बहा देती है।

चौंक कर वह जैसे अटक गया। अर्थ भूलता जा रहा है। उसे लगा जैसे अर्थ नहीं, कोई भ्रान्ति है। अपने आपको तौलकर बल को ही दुर्बलता समझ वह डर गया। चिन्तन की लीक को जबरदस्ती मोड़ते-मोड़ते वह अपने आप चाँदनी रात में डूब गया। गण की धारणा में जिन्हें वह 'वे लोग' सोच रहा था, वे सामने नहीं हैं। निश्चल रात में, वह स्वयं ही उनका रूपान्तर है, उनका अभाव ही उसके अपने अभाव का रूपक है, सुनसान चाँदनी रात, सोये गाछ में भी नया रूप, सामने उसी चाँदनी रात की विस्तृति है, और किसी दूर जगह से आ रही है व्यथातुर होकर अभाव की छिपी लहर, आँखों में सपने का मोह है।

चटाई को पैरों से सरका कर एक ओर कर दिया। बड़े मल्लिक के सिर के पास खाली फ़र्श पर ही रवि लम्बा पसर गया। फागुन की चिर युवा रात, चुपचाप उसे गोद में ले गयी। रवि को नींद आ गयी।

सुभद्रापुर का मेलण—बहुत मशहूर है।

पचदोल की रात। बाजे, गाना, संकीर्तन से कान फाड़ते, रोशनी और पटाखों में आँखें चुँधियाते हुए, माटी में हवा में हलचल मचाते हुए दल-बल लिये कितनी ही दूर-दूर से धार की तरह पहुँचते आ रहे हैं पाँच सौ विमान। सुभद्रापुर गाँव के सिरे पर अमराई के पास के छोटे से मैदान में कुछ समय ठहर दम लेते हैं, फिर एक के बाद एक होकर जुलूस बाँधकर चलते हैं गाँव के निचले चौड़े रास्ते में। सुभद्रापुर बड़ा गाँव है। उसका चौड़ा रास्ता सीधा चला गया है गाँव के उस ओर 'बड़े मैदान' तक। कभी इस गाँव में नदी की बाढ़ का पानी भर जाया करता था, सो रास्ते के दोनों ओर की डीह आठ-आठ हाथ ऊँची है, उन पर सटे-सटे ऊँचे-लम्बे मकान हैं। खड़े पहरेदार की तरह कतार की कतार नारियल के पेड़। उस गहरी नदी की तरह रास्ते में बहता-सा चला जाता बरस में एक बार वह मेलण का जुलूस। हँसी-खुशी, मौज, गाँव-गाँव की आन। सब दो पाव रास्ता जाने के बाद 'बड़े मैदान' में फूटकर निकल पड़ती। वहाँ मेलण होता, पचास हजार लोग और पाँच सौ विमान एकत्र होते। फिर बाजार, मेला, संकीर्तन, पाला, नौटंकी, मृदंग की थाप, ढोल के समय घण्टे की ध्वनि, चहल-पहल, सब कुछ उबलता-पसीजता रहता।

और मन में उमंग भरे मौज-मस्ती मनाने भागते-दौड़े आते गाँव-गाँव के देखनहार।

फिर अहम् के वाद-विवाद और लड़ाई के केन्द्र बनते—ये आदमियों द्वारा ढोकर लाये गये विमान; चारों ओर के दलों को लेकर।

उस गाँव की टेक का तकाजा है कि आगे बढ़कर सबको लाँघकर मेलण के मैदान में पहुँचा जाये। अत: गाँव-गाँव के बीच चल पड़ती मार-पीट। लगता जैसे नाना वर्ण के भिन्न-भिन्न छवियों में यह उद्धत अरणे गोठ का जुलूस है, खेत के बीच शान्त संयत होकर जीवन-यात्रा करते हुए भी मन में जैसे अरणा-प्रवृत्ति छुपी रहती है। जंगल में बाजे की ढाँव-ढाँव सुनते ही महाबली बाघ के छलाँग भरने की तरह, ढोल के बाजों से चौंककर बाहर निकल आती है, गुलाल की धूल-सा घुस जाता है लाल खून का विकार, जर्जर आमाशय, हाड़-हाड़, नस-नस दिखता नाटा-सूखा गाँव का जवान भी अपनी अठाईस इंच की छाती को कसकर फुलाता हुआ अंगों को फड़काता हुआ अपने दुर्बल हाथ को कसकर भींचता और मार-पीट के नशे में डूबकर गरज उठता, "मारो, मारो मारो।" इसके बाद सिर फूटना-टूटना, चारों ओर हाँ-हूँ, बीच-बचाव करनेवाले, पुलिस, बाद में मुकदमेबाजी। पर इतने से ही छूटता नहीं। दो गाँवों के बीच अदावत चल पड़ती, ये उसकी जमीन पर फसल कर लेते हैं, वह इसका पैर तोड़ देता है। इधर से

उस गाँव का रास्ता बन्द, उधर से इस गाँव का। इसके बाद गाँव में और अधिक चन्दा, गाँव तैयार होते और अधिक चमक-दमक से जुलूस निकालने के लिए, अगले साल दोल पर लड़ाई करने के लिए। अत: कभी-कभी बुलावा होता शहर के पहलवानों के अखाड़ों को। रफू मियाँ, धनी साहू, दुर्दू जेना, जो नंगे बदन सिर पर पगड़ी बाँध हाथ में लाठी लिये पक्के देहाती वेश में विमान को हटाते-सरकाते, वे भी मेलण के मैदान में पहुँचते।

यही तो अपना गाँव है!

सुभद्रापुर का मेलण देखने के बाद आकर गाँव के रास्ते के सिरे पर खड़ा रवि सोच रहा था।

काया के पास छाया की तरह टहल रहा है बई मल्लिक, असल में उसी के कहने-सुनने पर रवि सुभद्रापुर का मेलण देखने आया था।

चले जा रहे हैं आदमी, धारा की तरह रेल-पेल करते, काम चाहे न हो पर जल्द-बाजी, मानो बगलवाले को धकिया कर आगे बढ़े बिना अपना अस्तित्व समझना ही असम्भव है, कोहनी खाये चाहे बूढ़ा हो या बच्चा हो। औरत आँचल से आँचल बाँधे भयविह्वल आँखों में 'जीजो, जीजो' 'माँ-माँ' चिल्लाती-चिल्लाती इधर-उधर हो जाती है, पीछे-पीछे गरजते पिलते आ रहे हैं विमान, उठो उठो, उठो—डाईकि डिडाई डाईं—जो हो, सुन्दर दिख रही है यह भीड़, यह जुलूस। भावनाएँ चाहे जो हों परन्तु आँखों में आयी चमक से इनकार नहीं किया जा सकता।

किन्तु भावना? रवि ने तनिक चिन्तन में ही दोल की भीड़ और जुलूस को सोचकर देखा—रुपयों पर प्रतिष्ठित व्यक्तिगत पूँजीवादी समाज का चेहरा देखने में सुन्दर जरूर है, और भी अधिक सुन्दर थी आक्रमणकारी लुटेरे आभिजात्य समाज की छाया। और वन में बाघ? वह तो सबसे सुन्दर है। किन्तु सचमुच क्या यही सौन्दर्य है?

"वाह, वाह कितना जोरदार पटाखा, कितनी रंग-बिरंगी रोशनी है!" बई मल्लिक ने चीखते से कहा, "वास्तव में पटाखा इसी का नाम है, देखकर तबीयत खुश हो जाती है।"

भावना में टकराकर रवि ने देखा आँखों से। किस गाँव का विमान है यह, बारम्बार पटाखे छूट रहे हैं। अकेला बई मल्लिक ही नहीं, चारों ओर से कितने लोग देख रहे हैं, वाह-वाह कर रहे हैं।

"वाह वाह! वाह!—शाबास! बहुत अच्छे पटाखे हैं!"

मन कड़ुवा होता जा रहा था। देख-देख कर ऊब हो आयी। इतने बड़े मेले की धो-धा के बीच रवि को बिलकुल अकेलापन लग रहा था।

बाहर से लौट अन्दर घुसकर उसकी चिन्ता पैदा कर रही थी, एकान्त का पुराना रूपक—उसका घर उसका परिचित परिवेश। पिता, माँ, उसका परदेश में नौकरी करने वाला भाई, उसका समाज। घर छोड़ने के दिन से मानो सब कट गया है, फिर भी

समष्टि है उसके मन में, जीवन के सारे उसके सम्बन्ध में। लोग क्या सोचते होंगे? किस दृष्टि से उन्हें देखते होंगे? लगता है, जाने कितनी दूर से यह बह आता है, यहाँ का और सारे अन्दर ही बहने में लगा है, और फिर कम नहीं होता। वह कितना समझदार लड़का था उनका, कभी अपनी जानकारी में गलत किया नहीं, सब कुछ मान लिया, पर अब सोचते समय शुरू को देखता है तो कितना अभिन्न लगता है।

अकेला! अकेला! सोचते-सोचते मन की चौराहा हुआ वाटिकी और पार आ गया, और वहीं ठहर। मानो बीच में कितने ही योजन रहे—उस सिरे पर बाढ़ के पास खाला तले रहकर कोई उसकी ओर देखता प्रतीक्षा कर रहा है। निर्जन की तरह, अँधेरी रात में दूर के उजाले की तरह। निराश्रयता ही उसका अनोखा अंकुश है। धीरे-धीरे कितनी लोमहर्षक दिखती आ रही है वह—अँधेरे के उस सिरे से आग की लपटें ओर हिल उठती है, चली जाती है। मन के अन्दर वह अनुभव करता है—रुके हुए आन्दोलन का। वह सिर्फ भावना ही नहीं स्थूलदेही भी है, देह धड़कन कर रही है। रक्त की गरमी से चेहरा तप रहा है। देह की आकुलता और मन की आकुलता एक हो जाती है। कुछ नहीं दिखता, कुछ नहीं सुनाई पड़ता, उद्भट धारणा आ रही है। सीने की इस भीड़ को पीछे ही छोड़कर मानो आकाश में उड़ा जा रहा है—कोसों दूर रहती अपनी प्रणयिनी से वह स्पर्श की महक और दिशा का अनुभव कर रहा है, और कुछ नहीं। उसका नया जागा विद्रोह मानो रास्ता दिखा रहा है, कि आदमी की अन्तर्निहित शक्ति अप्रतिहत है, अपराजेय है। परिस्थिति के केन्द्र में है आदमी। निःसंकोच से योजना आत्मप्रकाश कर रहा और रवि अपने आनेवाले स्वर्ग युग की योजना पर सोच रहा है। सिर्फ स्वप्न नहीं, सम्भावित कार्य का सम्भावित फल समष्टि है। सामने आशा, अन्तर में साहस और बल।

चले जा रहे हैं विमान के बाद विमान, अविराम, अन्दर भी विमान ही चल रहे हैं, उसकी आशा, उसका सपना है, कभी अकेला वह और छवि है, कभी वह और उसके संगठन का चित्र है, बालू का घर गढ़ा जा रहा है, बालू का घर ढहता है, फिर चलता है घर गढ़ा करना, परिस्थिति पिघल रही है, एक नये ही आकार में ढल जाती है। अन्धकार को हिलाकर कतारों में लम्बी हो जाती है आदमी के हाथ की मशाल, वह क्षुद्र देह की सीमा मानता नहीं, सामयिक शासन के परिवर्तनशील नियमों को चरम नहीं मानता। यह स्रष्टा है, वह आदमी है, वह सृष्टि का खिलौना नहीं।

वह एक सहजन के तने पर आधा झुका खड़ा था; एक ही जगह, न हिलना न डुलना। बाहर और भीतर के रंग उबल-उबलकर उसकी अधखुली आँखों के आगे धब्बे-धब्बे बन टिमटिमा जाते हैं। दिन-भर मेहनत की है, देह क्लान्त है, उस पर फिर यह यात्रा देखने का झमेला।

कई कर्कश चीखों ने उसे स्वाभाविक अवस्था में ला खड़ा किया। अचानक हो-हल्ले के तूफान से चौंककर, आँखें फाड़-फाड़कर देखा—रास्ते के सिरे पर दो विमान

गाँव में एक साथ घुसना चाहते हैं, एक के अन्दर घुसते न घुसते दूसरा उसे धकियाकर आधा अन्दर घुस गया; दोनों दलों में जोरदार झगडा लग गया हैं, खूब गरज-तरज चारो ओर हाँ-हाँ, हूँ-हूँ। देखनेवाले जमा हो गये है, झगडे से कुछ हटकर आदमियों की गोल-गोल दीवारें घेरकर खडी हो गयी हैं। प्रतीक्षा किये बिना रवि छलाग भरने की तरह झगडे की ओर दौड़ पड़ा।

वह पहुँचा तब तक हाथा-पाई से बढकर बात लाठी पर उतर आयी थी। लोगों का घेरा कितनी जल्दी पीछे हट-हट जा रहा है, उनके पीछे ठेला-ठेली, आतंक की चीत्कार, जगह-जगह ढह गयी दीवार की तरह आदमी पर आदमी पछाड़ खाकर गिर रहे हैं।

लाठी पर लाठी चल रही है, आदमी पर मार पड़ रही हैं, दोनों विमान और साज-सज्जा पर प्रहार किये जा रहे हैं। दोनों हाथों से दोनों ओर की भीड़ को रवि ने हटाया, डुबकी लगाने से पहले दोनों हाथों से पानी हटाने की तरह हाथ उठा उन्हें रोकते हुए दौड़ गया ठीक बीच में। इसे कभी पकडता है तो कभी उसे रोकता है। अपने ऊपर वार सह रहा है। अपनी देह की हालत क्या हो गयी इधर ध्यान भी नही। कभी इसे बाँहो में भरकर पीछे हटा देता तो कभी उसकी लाठी रोकता, कभी किसी की लाठी खींच लेता। इस तरह जब घिरनी की तरह घूमने लगा तो अचानक अनुभव हुआ कि उसके कपाल पर कोई जोर की चोट पडी हैं। एक साथ मानो वहाँ लद गयी यन्त्रणा और आग। आँखों पर, नाक के रास्ते और होंठो से होते हुए बह गया उसका अपना लोना रक्त, फिर भी झगड़ा रोकने के लिए उसके दोनों हाथ ऊपर ही उठे हैं, और तब धुँधली पड़ती नजर से उसे दिखा जैसे वह अकेला नही है और भी कई लोग झगड़ा बन्द करने के लिये दौड़े आ रहे हैं, लोगो के पीछे लोगों की भीड़ चली आ रही है। उसका खून बहाना व्यर्थ नही गया। इतना ही आश्वासन था उसकी चेतना में, चेतना के लुप्त होने से पूर्व।

सुभद्रापुर के मेलण में आने के लिए पाटेली गाँव से अर्पति पधान ले गया था अपने दल का नया विमान। आगे-आगे, चमक-दमक के साथ। इस कार्य के लिए कोई अचानक ही उत्साह आया हो सो नही, पहले से योजना बनी, बहुत दिनों तक सलाह-मशविरा और बैठकें हुई थी।

जोरदार चन्दा उगाहा गया था, पक्का बन्दोबस्त किया गया। खुफिया खबर रखी गयी थी कि दूसरे पक्ष के लोगों का बन्दोबस्त क्या है। जब गाँव के पुराने दल के विमान को कन्धो पर लेने के लिए अहीरो को फुसलाने में घड़ी भर समय लग गया और उनके आने के बाद फिर दिक्कत पैदा हुई उनका पावना तय करने में तब किनेई

ओझा और अर्पति पधान आगे बढ़कर अपने पक्ष का विमान उठाकर ले चले। मोल-भाव करने की ज़रूरत पड़ी नहीं, क्योंकि अहीरों में से ज्यादातर ये उनके ही दल के उद्योक्ता। वे खुद ढोते हैं अपना भार, भाड़े पर मजूर नहीं लाते।

और रास्ते ही रास्ते विमान के सहारे अपने कन्धे की चादर उड़ाता अर्पति पधान कहता जा रहा था—"जल्दी जल्दी भाई, अपने गाँव की बारी आने पर अपना विमान ही प्रतिनिधि बनकर घूमे। वे लोग लौटें शिशुपाल-दल जैसा, पायें मज़ा।"

उस दल का विमान आगे चला गया, यह खबर इस दल के कानों में पहुँचते देर नहीं लगी। रास्ते में औरतों में भी हँसी में कहा-सुनी हुई, बच्चों में तो सहज ही चर्चा हो गयी। उस दल के भगत महारणा की बहू ने इस दल के कपिल महारणा की बहू को अपने चबूतरे से आवाज़ देकर कहा—"क्यों री चाँद, ये तो विमान लेकर चल पड़े, आगे पहुँचेंगे। और तुम्हारे वे किस दिन जा रहे हैं? वही मसल हुई कि पगड़ी बाँधते-बाँधते कचहरी बरख़ास्त!"

"हाँ री चाँद," कपिल की घरवाली ने कहा, "घोड़ा दौड़ते-दौड़ते जहाँ, हाथी डग भरते-भरते भी वहाँ। अरी चाँद, भेंट तो वहीं होगी, आगे-पीछे में क्या है?"

"हाँ री, जानती हूँ, शिकार की बेला कुतिया हगने गयी। भेंट की बात छोड़ो, आदमी के पैरों में कोई पंख तो बँधते नहीं जो हवा में उड़ जायेंगे। यहीं तो रात हो जायेगी।"

"अरी बंसखाई, तू किसे कुत्ती कह रही है? तेरा घरवाला बना साँड़ और बाकी के सब कुत्ते! इसे ही कहते हैं सूखे गू पर पानी पड़ा है....और नहीं तो क्या! भला रे भला, झूठे ही फूली जा रही है! फूला ढोल, फूल-फूलकर भर ली पोल।—"

भगत की घरनी ने फुंकार मारी, कटखनी बिल्ली की तरह पीठ मोड़, नली-से पंजा मार, ऊपर की ओर गरदन झुका कर, स्वर बदलती ज़ोर लगाकर गरज उठी—"हे री, डाकिनखाई, मुण्डी टूटी, कितनी उछलती है! ज़रा-सी बात पर चिहुक रही है। हे री, खसमखानी, तुझे तेरे बाप की सौगन्ध है। एक बार फिर कहना तू ने क्या कहा, तेरे, मुँह में कीड़े पड़ें, तू फिर तो कहना—

पल भर में आग लग गयी। कपिल की स्त्री भी समान रूप से ज़हर उगलने लगी। फिर चल पड़ी दोनों के बीच पद पर पद। गाली-शास्त्र के उच्चारण में दोनों एक दूसरी से बढ़-चढ़ कर—

"अरी डाकिनखाई तू—"
"अरी तू सत्यानाशी—"
"अरी तू मर जानी—"
"अरी तू आग लगी—"
"अरी बन्दरमुँही तू—"
"अरी तू नेवलामुँही—"

"अरी पिशाचनी—"

"अरी डाकिनी !—"

चली दोनो चबूतरों से गालियों की बौछार। दो जगह दो कल हैं, वह सिर को ऊपर नीचे झटक-झटक कर भूत लगने की तरह खाली गरज रही थी, खोज रही थी उग्र से उग्र विशेषण, गालियो से भरी अपनी भाषा उसे कम पड़ती, विशेषण छोड़कर वह वाक्य उगलती, शत्रु की ओर विविध असंगत क्रियाओं की कल्पना कर भाषा फैला देती, आदमियो के रिश्ते चुक जाते तो आवाहन करती हाथी, घोड़ा आदि का। इसके बाद उठकर खड़ी हो अँगुली चिटकाकर, सिर के बाल खोलकर, पल्लू झुलाकर, थेई-थेई कर नाचती, उछलती, अड़ोस-पड़ोस की भीड़ इकट्ठा न करने तक, या फिर थककर अवश हो चुप होने तक, जो पहले होता।

वे एक दिन चाँद-सहेली बनी थी, दोनों बहुएँ।

वही चाँद उगा, चढ़ा आकाश में, गाँव का पुराना विमान बाजे-गाजे के साथ चल पड़ा।

उनका झगड़ा थमा नही, कानों को बेंधती उनकी आवाज बढ़ती ही गयी।

एक दिन कुआर पूनम की रात इसने उसके और उसने इसके गलबहियाँ डालकर कहा था, "आज से हम चाँद-सहेली बनी !" इसने उसके मुँह में और उसने इसके मुँह में अत्यन्त सनेह से भर दिया था खील, केले, नारियल के लड्डू, छेना, गुड़, दही, गन्ना, ताड़गुड़ के गजा, ककड़ी के टुकड़े, चाँद-भोग में से थोड़ा-थोड़ा।

आज उस चाँद का सम्मान खत्म हो गया। गाँव जो फट गया है। सचमुच लगता है जैसे एक धरती के दो खण्ड हो गये, भारत और पाकिस्तान।

लोका नायक रास्ते में गाँव के पुराने दल को उत्साह देता—"जायें वे चाहे आगे, कितना ही दौड़ें, क्या होगा ? कहावत है न दौड़-दौड़ कर खाये करेले की डाल, आप ही मुँह तीता हो जायेगा। लोग पूछेंगे नही क्या—क्यो, ठाकुरजी तो राधेश्याम हैं, और ये आलतू-फालतू कौन है ? इन्हे किसने निमन्त्रण भेजा ? या अपने आप ही ! कहते नही !

घण्टा नही, ढोल नही झिकरिया के देवता
गाय नही भैंस नहीं, जरीपड़ा के बेहेरा
फल नही फूल नही सईंशो के पाणी
खरल नही मूसली नही दही गाँव के पत्ती
उस्तरा नही नहरनी नही खेरस गाँव के बारिक
धुरी नहीं चक्का नही उपुमा गाँव के रथ[1]

---

१. झिकरिया, जरीपड़ा, साईंशो, दही, खेरस और उपुमा गाँवों के नाम हैं। बेहेरा, पाणी, पति, बारिक रथ आदि उपाधियाँ हैं। झिकरिया के 'देवता' ब्राह्मण होते हैं, विग्रह नहीं। जरीपड़ा के बेहेरा (अहीर) क्षत्रिय होते है, फिर भी बेहेरा कहलाते हैं। साइंशो के ब्राह्मण 'पाणी' (जल) कहलाते हैं।

उससे ऊँचा वह; किसी का बड़ा बाजा, किसी के साथ नाचनेवालों का दल तो किसी के साथ ऐसे कई दल, जात-जात के वेश और जुलूस। वहाँ अर्पति पधान चुँधियाते हुए चारों ओर देखने लगा। इतनी बड़ी भीड़ में मानो अकेले गाँव का तेज मुरझा गया, परायों का साज देखते-देखते इनके छोटे-से दल के लोग भूल गये कि वे भी इस साज के एक अंश हैं, वे भी सजकर आये हैं। कुछ समय भौंचक खड़े रह उस राव-राव शब्द और असीम भीड़ के बीच अपनी दिशा तय की। फिर धीरे-धीरे उनका दल बढ़ा सुभद्रापुर गाँव के रास्ते के सिरे की ओर।

उस सुरंग की तरह के संकरे रास्ते पर विमानों की एक के पीछे एक कतार लग गयी है; चल रहा है छत्र, चँवर और पताका के साथ बूढ़े-बुढ़िया का नाच, मेम और साहब का नाच-तमाशा। आगे बढ़कर धक्का देते हुए विमान आगे बढ़ाने लगा तो मुँह तमतमाकर एक दल के लोग उसके दल के लोगों को इधर-उधर बाँह पकड़कर खींचने लगे। फिर सुनाई पड़ी क्रोध भरी गरज "कौन हो तुम? आगे-आगे धँसते जा रहे हो, यह कुनुपुर का विमान गया, उसके पीछे हमारे गाँव ओलावोल का विमान जा रहा है। तुम कौन हो? क्या सर तुड़वाने को मन चाहता है?"

बाध्य होकर रास्ता छोड़ना पड़ा। लोगों ने छी-छी की।

रास्ते के सिरे से थोड़ा हटकर प्रतीक्षा करने लगे। संगीत आरम्भ हुआ।

आधी रात गयी होगी। भीड़ में से घूम-फिर कर यदु बराल सहित कुछ लोगों ने आकर सांसें करते हुए खबर दी, "तण्डिकुल का विमान अन्दर चला गया है, साईंसों का जाने को है, पीछे-पीछे जरीपाड़ावाला रास्ते की ओर बढ़ रहा है।" झटपट सब खड़े हो गये। आवाज़ लगायी, "बोलो भई, आनन्द से एक बार हरिबोल!" विमान उठा। बार-बार "जय विनोदबिहारी की जय!" कहाँ है दूसरा पक्ष? दल में इस सिरे से उस सिरे तक प्रश्न फैल गया। उसका उत्तर नहीं है। भीड़ में पता लगाना असम्भव है। परन्तु रास्ते के सिरे तक पहुँचने तक देखा गया कि बाँयीं ओर से जरीपाड़ा बढ़ता आ रहा है और कुछ ही पीछे पाटेल गाँव का पुराना विमान हिलता-डुलता आ रहा है। अर्पति पधान, किणेई ओझा उछल-उछल कर चलने लगे। पीछे-पीछे दौड़ता-सा उनका विमान और दल-बल। जरीपाड़ा से थोड़ा रास्ता छोड़ उनके पीछे-पीछे पूँछ की तरह सट जाने में उन्हें देर नहीं लगी। पीछे-पीछे बढ़ता आ रहा है पाटेली गाँव, वह साथ-साथ, नजदीक-नजदीक। परन्तु जरीपाड़ा प्रवेश करते न करते ठीक उनके पीछे सटा हुआ है नये दल का नया विमान।

जरीपाड़ा घुस गया। नया विमान आगे बढ़ा, किन्तु "जय विनोदविहारी की जय!" के नाद में उलझे धागे की तरह लिपट गया" जय राधेश्यामजी की जय", गाँव

के रास्ते में आगे घुसने के लिए पाटेली गाँव का पुराना दल दाहिनी ओर से दबा बढ़ आया । फूलों की झाड़ और रोशनी को बढ़ा दिया गाँव के अबाध्य दल की ओर । गाँव के पुराने ठाकुरजी नये ठाकुरजी की ओर बढ़े । पुराने दल के धोबेई जेना कुछ कदम आगे बढ़कर "हुँ हेई" चिल्लाकर विनोदविहारी के भारवाहों की छाती में दुल-दाल धक्के मारकर पीछे हटाने लगे, उनसे भिड़ गये कुशिया केवट, मदना नायक, घड़िया नाई । इधर रोशनी का ताव देह से छू गया, फूलों के झाड़ पर चोट पड़ी । देखते ही देखते हाथा-पाई, मार-पीट । दबा हुआ गाँव का अन्धा गुस्सा मानो फूलकर छलाँग लगा गया हो । सब कुछ भूलकर एक ही गाँव के दो दलों में लग गयी मार-पीट ।

मार-पीट के बीच अर्पाति पधान ने देखा कि कोई अपरिचित आदमी छुड़ाने की चेष्टा कर रहा है, धोबेई जेना ने भी देखा । किसी का दल थमा नहीं । दलों ने देखा कि अनजान आदमी का सिर लहू-लुहान हो गया है । फिर भी वे रुके नहीं । इसके बाद मार-पीटकर रहे दोनों दलों के बीच दोनों हाथ उठाये रोकनेवाला वह आदमी लड़खड़ा कर गिर पड़ा ! अर्पाति पधान सहम गया, धोबेई जेना दो कदम पीछे हट गया । परन्तु मार-पीट कम नहीं हुई, दल के और लोग फिर भी लगे हुए हैं । धोबेई जेना और अर्पाति पधान फिर भिड़ गये, तभी देखा झगड़ा रोकने के लिए बाढ़ की तरह लोग बढ़े आ रहे हैं । अर्पाति पधान को होश आया कि अपरिचित आदमी नीचे गिर पड़ा है । वह धोबेई जेना की उकसाहट की ओर ध्यान न दे कर झुक गया और रवि को उठाया । कुछ लोग आकर उससे छुड़ाकर खींच ले गये । चारों ओर से आवाज आ रही थी, "आहा, झगड़ा मिटाने जाकर एक आदमी प्राण दे चुका है ।" रवि को उठाकर वे लोग लिये जा रहे हैं, चारों ओर जगह-जगह पुंज की पुंज रोशनी है । लाठी फेंककर दोनों दल के लठैत वीर भीड़ में मिलकर भाग छूटे । खाली-विमान लेकर वाहक लोग आगे चल पड़े, आगे-आगे विनोदविहारी, पीछे-पीछे राधेश्याम, आगे जाने का किसी में उत्साह न था । पीछे रहने का कोई दु:ख नहीं । अर्पाति पधान गायब हो गया । उसे अपरिचित का चेहरा बार-बार याद आ जाता और वह सोचता, सच ? क्या वह मर गया ? क्यों ?

परन्तु वह मरा नहीं । लोगों के मुँह से एक बार मरकर सौ बार बचा और उसका नाम सारे गाँव में फैल गया ।

हाट में, बाट में लोग कहने लगे, "सुना तो ? पाटेली गाँव के लोग दो दल होकर मार-पीट में मर-खप जाते, पर उस लड़के ने बीच में पड़कर रोक लिया । रोक तो लिया, पर आप दोनों तरफ़ की चोट खाकर मरते-मरते बचा है ! जो भी कहो, लड़के में साहस है, नहीं तो हाथ में एक छड़ी भी नहीं और लाठियों के बीच छलाँग लगा जाये ? दिखा दिया कमाल !"

उसके साथ जुड़ गयी और भी कई बातें—उसकी योजना के बारे में, वह कैसे फूलझरा में एक नये प्रकार का काम कर रहा है, लोगों को भिड़ाया है भला काम करने के लिए, गरीब-दुखियारों के घर खड़े कर दिये हैं, सब जातियों को एक साथ मिलाकर

गढ़ रहा है एक परिवार। और भी बढ़ा-चढ़ाकर लोग कहने लगे।

रवि के अनजाने ही उसके किये का प्रचार हुआ था।

किन्तु अपने काम के प्रचार की बात उसके दिमाग में सबसे कम थी। जब सुभद्रापुर के गाँव में घुमने के रास्ते के एक छोर पर उसकी आँखों के आगे नाच रही थीं कई रोशनियाँ, अचानक वे गोल-गोल झक-झक होती दिखी—अँधेरी रात में लुहारशाल में जलते लोहे को पीटने पर उछलते आग के गुल की तरह। इसके बाद सारी रोशनियाँ बुझ गयी। अँधेरा घिर आया। वही पूर्णविराम। कैसे इसके बाद उसकी अचेत देह को खुली जगह में उठाकर ले गये, हवा की गयी, पानी के छींटे दिये गये, सिर पर पट्टी बाँधी गयी—यह सब उसे याद नहीं। बिलकुल पता ही नहीं कैसे उस रात उसके लिए सुभद्रापुर गाँव के स्कूल के एक खाली कमरे में बिस्तर लगाया गया, उसे वहाँ उठाकर लाया गया, विश्राम मिला।

कुछ समय बाद जब होश आया, उसने खाट पर से देखा, टिमटिमाती हुई लालटेन जल रही है, नीचे बैठा वई मलिक ऊँघ रहा है, कानों में बादलों की घड़घड़ाहट की तरह कोई आवाज़ सुनाई दे रही है, देह में कष्ट, सिर जल रहा है मानो, बहुत कष्ट 'आह' की। प्राणपण से चेष्टा की कि ज़ोर से आह कर वह सारी यन्त्रणा को फेंक कर खड़ा हो जाये। ढँके कम्बल को देह से उछालकर फेंकने की तरह, किन्तु मानो वह कम्बल अधिक ज़ोर से जकड़ा हुआ है, उसकी क्षीण आह की ओर किसी की नज़र पड़ती ही नहीं, कालौंस लगे काँच में लालटेन की बत्ती गुस्से में नाच रही है। युद्ध करना छोड़ दिया। उसने आँखें मींच ली।

तब उसे न अपना काम याद था, न अपना खयाल, या सपना। अब सारी भावनाएँ उस देह के लिए ही थीं।

फिर देखा, दूर से सुनाई पड़ रही है वही धो-धा ठाँय-ठाँय, ठां-ठा। रोशनी बुझ गयी, घर में अँधेरा। लगा बाहर ज़ोर से बरसा हो रही है। तुरत याद आया, दूसरे कमरे में छवि सोयी है। पाटेली गाँव में उस एक रात की स्मृति फिर से ताज़ा होकर लौट आयी, दूसरे कमरे से छवि ने फो-फो कर दीर्घ साँस छोड़ी। फिर देह की यन्त्रणा में स्मृति ऊब-डूब होने लगी। लगा—दूसरे कमरे में माँ सोयी है, माँ अब आयेगी, सोचते-सोचते फिर नींद आ गयी।

स्कूल की कोठरी की गली हुई छान को भेद कर सुबह उगी। उसके साथ-साथ उसके स्मरण से वास्तविकता घुलकर झर पड़ी, और उसने देखा, उसकी छाती पर झुका वई मलिक खड़ा-खड़ा देख रहा है। उसका चेहरा गम्भीर है, वह चिन्तित है। आँख से आँख मिलते ही वई मलिक की आँखें मानो फैलकर चौड़ी हो गयी हैं। चेहरा चारों ओर से मुड़-सिकुड़कर खिंच आया है उसके मुँह के पास, भीगी चमकती आँखों से माँ के चेहरे की सी सहानुभूति प्रकट कर खुरदरी आवाज़ में पूछा, "कैसी तबीयत है, बाबू?"

रवि ने मानो उसके चेहरे पर अपनी अवस्था आँकी हुई देखी। लगा जैसे वह

"अरे ! यह तो गान्धी महातमा की बात कहते हो ! तो क्या ऐसा ही होगा ?" वई मलिक ने आपत्ति की ।

"गान्धी महातमा क्या बुरा कहते थे ?"

सुभद्रापुर गाँव के लोगों ने बातों में भाग लेना चाहा । रात भर की अनिद्रा के कारण सबकी आँखें लाल-लाल दिख रही थी । जम्हाई लेते हुए श्याम सान्त्रा ने कहा, "बड़े दुःख की बात है, बहुत संगीन मामला है, कल जो कुछ हो गया, उसे यों सहज ही उड़ाया नही जा सकता । भगवान् की दया से आप आज ठीक लगते हैं अगर कुछ हो जाता आप को तो ? बाप रे, मार भी वैसी ! कौन किसकी बात सुन रहा था ? नशे में पागल की तरह बस चोट पर चोट ! कितनी कठिनाई से उनके बीच से आप को खींच लाये, सो मन ही जानता है ! उन्हें बरस-बरस भर का जेल न हुआ तो उन्हें शिक्षा कैसे मिलेगी ? अरे, आजकल लोग क्या हो गये हैं, हर वर्ष मेलण पर मार-फौजदारी !—"

"फिर भी तो मेलण लगता है । लोगों की भीड़ उमड़ पड़ती है. ." रवि ने कहा ।

"मारपीट होगी इसलिए क्या मेलण न हो ?" श्याम सान्त्रा ने कहा, "यह तो आदमियों का काम नही, ठाकुरजी का काम है । लोग पागल होकर मार-फौजदारी करें तो क्या ठाकुरजी का नियम-पालन हो बन्द कर दें ? लोग चाहे मरें, ठाकुरजी का क्या जाता है ?"

"सच बात है, सच बात है !" अभि पधान ने कहा, "अपना कर्मफल आप ही भोगेंगे बाबू ! ठाकुर किसकी कितनी बात देखेंगे । उनका आता कितना है, आता कितना ? किस साल विमान के आगे-पीछे चलने की बात को लेकर मार-पीट नही होती तो भी देखो मेलण साल की साल बढ़ता ही जा रहा है । केवल मेलण ही क्या, ये अपने गाँव वालों की प्रदर्शनी, हाट-बाज़ार, सब । इस बरस दो दल मैजिक के आये थे, अच्छे पैसे कमा कर गये ।"

सतुरी पट्टनायक ने कहा, "पैसे की क्या कहते हो ? जुआ क्या कम.. "

रवि को लग रहा था जैसे कोई जन-जाल तैयार हो रहा है उसकी आँखों के आगे । जो आता है वही इसमें कुछ डालना चाहता है । श्याम सान्त्रा से लेकर गोपाल बढ़ई तक देखता गया । सूखे छरहरे छोटे से आदमी श्याम सान्त्रा, खड़ी-खड़ी काली-भूरी मूँछों को छोड़ दें तो उस चेहरे का और कुछ याद नही रहता, अन्दर मिल जाने के बाद पहचानने लायक कुछ नही, फिर भी यह क्षीणकाय पुरुष सुभद्रापुर गाँव में एक बड़ा आदमी है, धार्मिक कामों का वह नेता है, मेलण या यात्रा या भागवत सप्ताह या पाठ—सब करानेवाला आदमी है वह । अभि पधान गंजे सिरवाले, लम्बे, गोरे खूब बूढ़े आदमी, दाँत नही, सिर हिलता है । सतुरी पट्टनायक पैंतालीस बरस के, चश्मा पहनने वाले, सेटलमेण्ट के आदमी, स्वभावतः काजल पुती जैसी उज्ज्वल आँखें, तीखा, चेहरा, मुड़-मुड़कर मुँह बुद्धि और दम्भ का परिचय देता है, किन्तु उनके जराजीर्ण वेश और

स्वास्थ्य में अभाव आँका हुआ है और सारे कार्यकारिता को चूडान्त प्रमाणित करने के लिए झूल रहा है एक प्रकाण्ड हाइड्रोसील, मानो उसी का बोझ सँभालना और लादे फिरना जीवन जीने मे सबसे बडा कार्य है। इन लोगों के भाषण ही गाँव के लोगों को उदबुद्ध करते है, इनके नेतृत्व मे ही चलता है गाँव का वाहित पूर्व विधान, निर्दिष्ट गाँव के रास्ते पर।

मेलण की बात कहते-कहते ये लोग आने का उद्देश्य ही भूल गये। दूर से दिखा कोई पुलिस ए. एस. आई. आ रहे हैं, पोशाक पहने हाथ में छोटी-सी अस्थिर छडी, पीछे-पीछे आ रहे है बच्चे। आगे बढ उनके चलने के ढंग का अनुकरण कर वैसे ही हाथ हिलाते-हिलाते लम्बे डग भरते उनके पीछे-पीछे चलने से पुरखे लोग उन्हें धमका रहे हैं, उन पर बिगडते है, आँख दिखा रहे है।

पुलिस बाबू आ गये। रवि के सामने खड़े हो सिर हिला-हिला कर कहने लगे, "कौन बाबू कल मार खाये है ? ओह, आप ही तो !" जेब से एक टीपने वाला खाता निकाला, और एक पेंसिल। कहा, "बताते जाइए, आपका नाम क्या है ?" चारों ओर लोग जमा होकर घेरने लगे। रवि के कुछ कहने से पहले ही ग्राम सान्त्रा बोल उठे, "कल इन्हें मार ही डालते। हम लोगो ने जाकर छुडा लिया, नही तो आप आज खूनी मुकदमे की इनक्वायरी करते। मार पड रही थी, लाठियाँ बरस रही थीं, हम लोगों ने जाकर इन्हे अधर मे ही उठा लिया और खीच लाये।"

भीड के पीछे से राघु भोई ने कुशन ओझा से कहा, "क्यों, ये कहाँ थे वहाँ जो कह रहे है कि अधर में ही उठा लाये।"

अभि पधान ने कहा, "पीछे-पीछे मैं दौड रहा था, हाथ उठाकर जितना भी मना किया, किसी ने सुना ! हाथ पर चोट पड ही जाती, बस बाल-बाल बच गया।"

पीछे से कुशन ओझा ने राघु भोई से कहा, "फिर ये बूढे भी थे ! कहेंगे क्यों नही ? कलजुग के जवान ठहरे !"

गरज उठे सतुरी पट्टनायक "इन दोनों बूढों को भी मार डालते, बस आगे मैं था, नही तो। ये देखिए, इस तरह इनके आडे खडा हो गया दोनों हाथ दोनों तरफ फैला, पैर पसारकर खड़ा हो गया—रास्ता था नही, पीछे ये लोग इन्हें ला रहे है आगे यों सिर मे पीटा-पीटी धक्कम-धक्की करता रास्ता बनाता लेकर चला। नही तो— !"

पीछे-पीछे से हँसी की धूम लगायी राघु और कुशन ने। पुलिस बाबू ने सतुरी पट्टनायक के निचले आधे भाग पर आँख फिरायी और हँस पड़े। इसके बाद गम्भीरता नष्ट होने के सम्बन्ध में चेतना आयी, सबको चुप रहने को कहकर वे बोले, "ठहरें, पूछा जा रहा है, वे ही कहें।" रवि से पूछा गया—"क्या हुआ ?"

उत्तर सरल था, वह मुकदमा नही करेगा, साक्षी देगा नही, उसका किसी के विरुद्ध कोई अभियोग नही।

"आप पीछे क्यों हट रहे हैं ?" पुलिस बाबू ने पूछा, "मार तो खायी, सरकार

मुकदमा करेगी, आप तनिक सहायता नही करेंगे ? आपके सरीखे शिक्षित लोग भी अगर पीछे हटें, तब इन देहातियों को क्या कहेंगे ? आप क्यों डर रहे हैं ?"

सबने इस बात का समर्थन किया, बड़े मलिक ने भी अवसर जानकर कहा, "बोलो, बाबू इसी समय । जो पूछ रहे हैं, बता दो ।"

रवि ने उत्तर दिया, "जी मैं न तो डर रहा हूँ और न पीछे हट रहा हूँ, मेरा इस मुकदमेबाजी वाली बात पर बिलकुल विश्वास नही ।"

"तो क्या आप इस देश से बाहर है ?"

"आप जो चाहे सोचें— ।"

"तब तो बात कुछ और ही हो गयी । आपको भी मेलण में दंगाइयों के साथ जोड़कर फिर आपके विरुद्ध मुकदमा करना होगा—बात को जरा गहराई से सोचें ।"

"आप अपने विचार से जो करें ।"

"नही, आप ऐसा न कहे, बात पर दुबारा गौर करें, मुकदमा करने पर आप होंगे प्रधान साक्षी, झगड़ा रोकने पहले आप पहुँचे । कौन-कौन मार-पीट कर रहे थे—आपने देखा, खुद उनसे मार खायी, हम सारी बातें जानते हैं । अभी किसी कारण से आप एकदम उलट गये । मुकदमा होने के आप हिमायती नही, सम्भवत: उलटे मदद करेंगे । इधर मुकदमा न होने पर लोग क्या सोचेंगे ? कहेंगे इतनी बड़ी वारदात हो गयी, पुलिस ने कुछ नहीं किया ।"

"मारपीट तो हो चुकी, पुलिस अब क्या करेगी ?"

"क्या ? चोरी न रोकी जा सकी तो क्या चोर को दण्ड नही दिया जायेगा ? यह भी तो पुलिस का काम है । जो हो आप अब विरोधी बन रहे हैं, आपके खिलाफ मुकदमा तो करना ही पड़ेगा ।"

"कीजिए आप जो करेंगे वही होगा ।"

"केवल इतना ही नही । हमने आपके बारे में सारी खबरें रखी है । आप किस घराने के आदमी, फिर मुंशीजी कवि बाबू के भाई, इसके बावजूद सारी परम्परा छोड़ चाकरी-चाकरी न कर आपने लोगों को बहकाकर इस इलाके में एक गोलमाल शुरु कर दी—"

"गोलमाल ?"

"नही तो और क्या ? लोग अगर पैरों से चलते है, आप उन्हें बताते हैं—हाथों के बल चलो ।"

"आप उलटा समझ रहे है जी, किसी दिन हमारे यहाँ आइए, अपनी आँखों सब कुछ देखेंगे । लोग हाथों से चलकर हाथ और पैर दोनों नष्ट कर रहे हैं । हम उन्हें कहते हैं पैरों से चलो, हाथों से काम करो ।"

"ऐसा कहने का क्या अधिकार है आपको ? सोचो है कभी यह बात ? हमारा यह एक स्वाधीन राष्ट्र है, स्वाधीनता का क्या अर्थ है ? जिसे जो अच्छा दिखा उसने

नहीं किया, किसी का दूसरे पर अपना मत लादना ठीक नहीं।"

"चोर को अच्छा लगता है, वह चोरी करता है, तब आप उसका पीछा कर उसे क्यों पकड़ते हैं?"

"चोर की बात अलग है। और हम भी क्या यों ही पकड़ते हैं? हम पकड़ते हैं इसलिए कि हमारा अधिकार है।"

"वैसे देश के लोगों के लिए क्या भला, क्या बुरा, इसे तौल कर देखने में सहायता करने का अधिकार सबका है, मेरा भी है। मैं जो करता हूँ वह लोगों के हित के लिए—"

"इसीलिए तो लोग जाकर पुलिस की शरण में पड़ते हैं! आप पाँच का भला सोचते हैं तो पचास उसे अहित मानते हैं। वे लोग तो डर गये हैं कि उनके मजूरे हलवाहे भाग जायेंगे, उनकी जमीन भूत खायेंगे, उनका धन-जीवन खतरे में है। बताइए ऐसे भले की क्या जरूरत है? आपका हित का काम देख लोगों की नींद हराम हो गयी।"

"कोई इस तरह झूठे ही डरे तो क्या आदमी भले काम से पीछे हट जाये?"

"आपकी इच्छा। आप न हट सकते हैं, लोगों के डर-भय को झूठी डर कहकर ताली बजाकर उड़ा सकते हैं, पर हम तो ऐसा नहीं करेंगे। लोग डरेंगे तो हमें कुछ करना ही पड़ेगा, हमें देखना ही पड़ेगा कि लोगों के डर का कारण न रहे। हाँ, आपको झूठ-मूठ हैरान होना पड़ेगा। बस, पहले ही कहे देता हूँ ..."

"आपने बहुत अच्छा किया।" रवि ने कहा, "आप अपना जो कर्तव्य समझें वह तो करें ही। परन्तु मैं समझता हूँ। मैं जो कर रहा हूँ सबके भले के लिए।"

"तो आप क्या कहते हैं? यह जो गोलमाल हो गयी, उसमें साक्षी देंगे या नहीं?"

"नहीं।"

पुलिस बाबू ने खीझकर कहा, "ठीक है आपकी जैसी मरजी, युग तो बदल गया। नहीं तो इतनी बातें कहने की दरकार ही नहीं पड़ती। कपूर उड़ कर बस कपड़ा रह गया है, काम के दिन पूरे होकर बातें करने के दिन आ गये, नहीं तो अब—चोर को भी बुला कुरसी-पान देकर बैठाना पड़ेगा, और कहना पड़ेगा—'जी, आपने चोरी की है?' 'नहीं।' तब आप घर पधारें, व्यर्थ कष्ट दिया, माफ करें।"

लोगों के आगे अपनी टेक बनाये रखने के लिए एक विवृति देकर पुलिस बाबू ने विदा ली।

भीड़ की भीड़ पुलिस बाबू के पीछे-पीछे चली गयी, परन्तु जमकर रह गये रागु मांझी, गुनुन ओझा, नुगुरा मल्लिक, अदेई साहू, भिखारी महान्ती, धोनेई मिश्र।

धोनेई मिश्र बोले, "सुनी तो सारी बातें, गोलमाल के समय इनमें से कोई न था। आप जब गिर पड़े और चोट पर चोट पड़ने लगी तो पीछे से अन्दर घुसा यह रागु मांझी, गुनुन ओझा, नुगुरा मल्लिक, पीठ पर मोटा दाग भी होगा। दिखाना तो नुगुरा।"

नुगुरा हँस पड़ा। कहा, "रहने दो बाबू, बीती बात जाने दें, काम तो हो ही गया, नील सहलाकर अब क्या होगा ? जो हो, मार तो खा ही गये बाबू। जीवन का मोह छोड़कर झगड़ा मिटाने गये, और कोई निकला भी ?"

रवि नुगुरा मलिक की ओर देखता रह गया, काले पत्थर की तरह फूला-फूला कद्दावर जवान, माथे के बाल फर-फर उड़ रहे हैं। शान्त और लजीली आँखें नीचे की ओर झुकी हैं ! उसे बहादुरी की प्रशंसा नहीं चाहिए।

राघु मोई ने कहा, "हमारा नाम लेते हो। तुमने तो बाबू कुछ कम नहीं किया, सब मिल कर खींच लाये, औषध लगा कपड़ा बाँध कर बिछौना लगा दिया—हममें मोटा काम ही होगा तो, बुद्धिवाले काम में हमारा मगज कहाँ ? ये भिकारी बाबू कुछ नहीं कहते। कैसे दवा आयेगी, रक्त बन्द होगा,—तब तो पागल हो गये थे। काम का आदमी—कैसे चुप रहता।

भिकारी महान्ती, फुनसियों से भरा चेहरा, छरहरे आदमी। धीमे-धीमे हँस रहे थे। अदेई साहू बोले, "सारी बात तो हुई, अब कैसा लग रहा है, सो तो नहीं कहा—"

रवि ने कहा, "अच्छा है।"

एक के बाद दूसरे की ओर देखते हुए रवि ने मौन कृतज्ञता जतायी। वह मलिक से कहा, "देखता हूँ तो वही सब गाँवों में आदमी हैं। भविष्य में अगर कुछ करेंगे तो ये ही आदमी कर सकेंगे।"

सोचने लगा, भारत वीर शून्य नहीं हुआ, कोई देश वीर शून्य नहीं है, लेकिन बात यह है कि भविष्य का वीर आज का चासी, मजूर, निर्धन, अर्ध-शिक्षित कुली है। वह खुद को नहीं पहचानता, अपने बल से अनजान है।

भिकारी महान्ती बोले, "आपके काम के बारे में हमने सुना है। हमारे गाँव में भी हम कुछ करना चाहते हैं। क्या करें, बाधाएँ बहुत हैं। लोगों में दरारें हैं। पेट के धन्धे में ही तो बहुत समय चला जाता है और दूसरी बात सोचते समय सिर में झाँय-झाँय होती है, देह दुर्बल लगती है, समझाने पर समझ जायेंगे ये लोग, पर वह दो दिन के लिए, फिर मुँह मोड़ कर अपने-अपने घर में सोयेंगे। इतना घर-घर में घुम कर सोचेगा कौन ?"

रवि ने कहा, "तो फिर आप लोग आशा न छोड़ें, फिर लग पड़ें।"

भिकारी ने कहा, "हमने आप की योजना के बारे में सुना है। हमने सोचा, हम में से दो जने वहाँ जाकर काम में सहायता करें। सीखेंगे भी।"

रवि हँस पड़ा, "वह तो अच्छा होता। सिखाने लायक हमारे पास कुछ है नहीं परन्तु आदमियों का बल चाहिए, बहुत अधिक।"

अदेई साहू बोले, "आपने मुकदमा न करने के बारे में जो कहा, वह सुनकर हम लोगों का तो पेट ही भर गया। अपना कलह आपस में ही सुलझा लें। वह तो भाई-भाई का कलह है, इसके लिए फिर मुकदमेबाजी क्या ? सँभालने के लिए बहुत बल,

बहुत हिकमत चाहिए, गुस्से में भरकर कूद पड़ना सहज है। पर आदमी की रक्त-मांस की ही तो देह है, चिकोटी काटने पर दरद होना ही है, और अधिक क्या कहूँ? ये देखें, नुखुरा मलिक की बात, किसी को चूँ तक नही कहेगा। गये साल हमारे गाँव के एक जमीदार बुद्धिनाथ महापात्र को घर पर दरकार हुई तो इसे दो महीने चाकर रखा, पैसे माँगने पर दुतकार-दुतकार कर सतरह बार भगा दिया। और फिर एक दिन जैसे ही जाकर माँगा कि बुद्धिनाथ ने अपने दरवाजे पर ही उसे गाली दी, फजीहत कर थप्पड़ लगा ही दी। नुखुरा को गुस्सा आ गया। स्थान-काल भूलकर बाहर खड़ा हो गया। जी भर गालियाँ तो दी ही, एक लाठी लेकर बुद्धिनाथ के दरवाजे पर खड़ा रहा दिन भर—"

नुखुरा लजाता-लजाता-सा हँस पड़ा, "क्या करूँ बाबू, देह में चुभ गयी, आतमा अथिर हो गयी। पागल हो गया।"

धोबेई मिश्र बोले, "छोड़िए, लोगों का चरित्र तो ऐसा है, इसमें जो काम भी शुरू करेंगे, आधे में ही भण्डूर होगा या नही ?"

रवि ने कहा, "उसका कारण क्या है, जानते है ? हम अवस्था बदले बिना एक-एक काम में हाथ देते है तो सब फिस्स हो जाता है। हम ऐसा समाज गढ़ें जहाँ बुद्धिनाथ महापात्र रहकर भी नुखुरा मलिक के तिलक न चाट जायें या नुखुरा मलिक को बुद्धिनाथ के पास हाथ जोड़ खड़े होने को नही जाना पड़े। सब किया जा सकेगा। गढ़ना पड़ेगा शुरू से, हमें अपने काम में अपना विश्वास कायम रखना होगा, परिश्रम करना होगा। लोग कहेंगे इतने दिन ही गये, उतने दिन बीत गये, जितने दिन जायें जाने दो, मानव-जाति की उमर की तुलना में कुछ बरस कोई अधिक होते हैं ?"

बिलकुल सरल भाव से कुछेक बातें कहकर ही सबकी आँखों के आगे एक सपना सा लाकर खड़ा कर दिया। सब चुप होकर दूर कहीं देखने लगे। उस सुबह की बेला ने अचानक अपने आप को फेंककर मानो दिखा दी कोई अनागत उषा।

चुपचाप रहकर उस उषा को देख रहे थे वे सात आदमी। उड़ीसा के एक निपट देहात की नि. प्रा. स्कूल के दरवाजे पर। उसकी भीत से माटी जगह-जगह उतर गयी है, छान टूटी-फूटी, सामने एक बाँस का वन है और एक सिवार से भरा पोखर। एक के माथे में पट्टी बँधी है, एक बण्डी पहन रखी है, एक की छाती पर सफेद जनेऊ, एक की काँख तले बटुवा, और एक की कमर में, और एक के कन्धे पर लाल गमछा।

वे दूर देख रहे थे।

धरती पर कहीं भी, कितनी दूर पर भी जो देख रहे हैं इस उषा को, वे सब उस नये यौवन में उल्लसित हैं, नये युग के कारीगर हैं। अँगरेज, अमेरिकन, नीग्रो, चीनी, रूसी, तुर्क....कितने ही। अचानक रवि मानो इस एकता का अनुभव कर रहा था, हँसकर कहा, "हम भी मेलण करेंगे, वह होगा एक विराट् मेलण।"

मेलण के दूसरे दिन बड़ी तड़के पाटेली गाँव में नहाने के घाट पर गाँव की स्त्रियों के बीच कहीं न कहीं से आकर बात पड़ी, और चारो ओर फैल गयी—"मर गया—मर गया !"

"मर गया, मर गया !" की बोली सुनते ही सब चौंक कर देखने लगीं, नदी के बीच की भीड़ की ओर। कुछ दौड़ पड़ीं उधर, कुछ प्रतीक्षा करने लगीं।

खबर बैठी—जा, कोई डूब कर मरा नहीं, कोई मगरमच्छ के जबड़े में नहीं आया, बच गये। आगे-पीछे सब चैन की साँस ले रही थीं—किसी पर आशु विपद् नहीं थी, किसी की आशु क्षति नहीं, बस केवल मेलण के मैदान में मारपीट में पड़कर बट महान्ती का बेटा मर गया ! पराया बेटा मरा—रोग बाहर ही बाहर कट गया।

इसके बाद—"अहा—चु-चु" और अचानक गेल्ही की माँ ने नकली रुलाई का स्वर भरकर आवाज छेड़ी—

"पर इससे क्या, वह तो मरा सो मरा, औरों का क्या गया। बस इस गाँव में एक का भाग्य फूटा, उसकी आशा के मुँह में विधाता ने लुआठी दे दी, आह रे विधाता ! तू इतना निष्ठुर हुआ, भात में धूल भर दिया !"

कई एक हँस पड़ीं। कुछेक ने पूछा, "किसका भाग्य फूटा, ऐ जीजी ? कौन है री ? बात क्या है कहती नहीं ? बस केवल विधाता को बुलाने से हम क्या समझेंगी ?"

"मुई, यह बात, किसे नहीं मालूम जो केवल गेल्ही की माँ ही कहनेवाली बनेगी ?" गेल्ही की माँ ने कहा।

आठ बच्चों की माँ, जग की माँ सिर नीचा किये नहा रही थी, गेल्ही की माँ की बात का मतलब मानो उनके हाड़ से माँस नोच रहा हो। अचानक गेल्ही की माँ की ओर मुँह उठाया—बड़ा गोल चेहरा, माथे पर चमकता सिन्दूर थोड़ा-सा, नाक पर एक बड़ा फूल, देवी की मूर्ति की तरह काली चमकती काया। जग की माँ गेल्ही की माँ की ओर ताककर कहने लगी, "मरा तो किसका क्या गया, तुम कह रही हो छोटी काकी ! उसके क्या माँ-बाप नहीं हैं ? लोगों के मुँह में विधाता ने हमदरदी की बात कैसे नहीं दी ? खाली माटी के लौंदे गढ़ दिये, जीभ नहीं भरा ?"

आदमी के बिलकुल भले गुण पर, मानो लोहे पर हथौड़ी की तरह बात ठाँय-ठाँय गिर पड़ी। जग की माँ के चारों ओर सहानुभूति की गूँज उठी—"अहा—आहा—सच री, विधाता कितना निष्ठुर है ! कच्चे आम के गाछ को हवा में तोड़ने में उसे अधिक आनन्द आता है !"

गेल्ही की माँ के दोनों गाल गरम हो गये, किन्तु खुद को सँभालकर बोली, "ये आहा-पद तेरे ही जीभ से चिपका है री नयी बहू ! तू कैसे जानेगी, री ! पद्मी देवी ने

दोनों हाथ पसार तुझपर उड़ेल दिया है। मैं अभागन हूँ, गेल्ही से बड़े दो और उसके पीछे के दो को यम को सौंप चुकी हूँ। ऐसे लगे-लगे चार गये, और उनमें से यह छोकरी की जात कैसे रह गयी पता नहीं ! अरी, मैं तो जनम की दुखियारी हूँ री !"

इतने में ही मानो गेल्ही की माँ का सारा परिचय सामने आ गया—वह क्या है, क्यों है, कैसी है ? सब कुछ।

अबकी सहानुभूति मुड़ी गेल्ही की माँ की ओर। जग की माँ ने पानी में डुबकी लगायी, धीरे-धीरे फिर कानाफूसी होने लगी।

गेल्ही की माँ की सहज दुनिया लौट आयी। कन की माँ ने उसके कान के पास धीरे से कहा, "जाते समय जरा उधर भी मुँह मारतो जाना, ऐ, जीजी ! जानते होंगे भी कि नहीं।"

उसके कुछ समय बाद गेल्ही की माँ अचानक पहुँच गयी गुरु की माँ के दरवाजे पर, ठीक सहजन के तले, डोह की बाड़ी से पोई के पत्ते तोड़ झोले में डालकर छवि दरवाजा पार कर रसोई में जा रही थी, चौंककर तनिक रुक गयी। फिर माँ को बताने चली गयी, और गेल्ही की माँ कुटिल हँसी हँसकर जोर-जोर से कहने लगी—"अच्छा, आज पोई-चिंगड़ी की तरकारी बना रही हो ? बनाओ। जी भरकर पेट भर मछली खाओ। पास आ जाने पर कहीं भाग न देना पड़े ! अरी, हमारी अब कोई उमर है, भाग लेकर हजम करने की ? छि छिः। अरी कहाँ गयी, गुरु की माँ, छवि की माँ ? कहाँ गयी सब ?"

हल्ला सुनकर गुरु आकर खड़ा हो गया। पीछे-पीछे उसकी माँ। जैसे उसके मुँह का स्वाद बिगड़ गया हो !

आगे-आगे रास्ता दिखाती गुरु की माँ बढ़ी। बरामदे की ओर जाते-जाते गेल्ही की माँ कहने लगी, "जा रही थी, सोचा जरा इधर ही मुँह मारती चलूँ। ढोल की हुज्जत में गाँव सारा सिर पर उठा रखा, और वहीं बाहर निकल ही न सकी ! जो कलह-झगड़ा ! जो नवरंग ! मुये आदमी ऐसे ! केवल सतभाया बड़े बन्दर की तरह ! जरा-सी बात पर इतने उछले कि अभी भी नगाड़े बज रहे हैं !"

"क्या हुआ, री !" गुरु की माँ ने पूछा।

"अरी सुना नहीं कुछ ?" गेल्ही की माँ बोली। छवि के घर का बरामदा आ गया था। छवि की माँ दिख पड़ी। गेल्ही की माँ ने आवाज दी—"अरी ओ, रहने दो, रहने दो चटाई क्या होगी बैठो न !" रसोई में छवि छौंक रही थी, हाँडी की खड़खड़ाहट सुनाई पड़ रही है। गेल्ही की माँ कहती गयी—"आदमियों का गुस्सा ही तो है, गुस्सा आने पर कोई वश रहता है ? बहुत लोग जहाँ जुटे, कलह वहीं उपजेगा ! पहले तो बदा-बदी की, फिर गाली-गलौज के बाद गये थे हो, गुस्से का पित्त माथे में चढ़ा हुआ था, बस भिड़ पड़े, और क्या ? अब क्या हुआ ! घर-घर का किवाड़ बन्द। कोई पुराना अण्डी तेल मल रहा है तो कोई हल्दी-चूने का लेप कर रहा है, कोई घास-चीनी मिला-

कर लगा रहा है, कोई कपड़ा जलाकर फूटे माथे को जोड़ रहा है। घर-घर में यही चल रहा है। भले रे भले, तुम आपस में झगड़ कर सुमद्रापुर मेलण के मैदान में रक्त की नदी बहा आये, उस बेचारे बन्वमूल वाले बड़ महान्ती के लड़के ने तुम्हारा क्या कसूर किया था जो उस पर मार बरसायी, सब तो जैसे-तैसे लूले-लँगड़े होकर लौट आये, वह तो उठ भी न सका। वही उसके दिन पूरे हो गये। जो मार पड़ी!" गेल्ही की माँ ने आँखें मींच लीं, "ओ—हो! गाय-गोरू की तरह पीट डाला, उस मार से क्या आदमी और खड़ा हो सकता है! ओफ्! बेचारा, कितना सुन्दर गबरू जवान बेटा था, मर—ही—गया!"

गुरु की माँ चौंककर बिलबिला उठी, "ऐं? मर गया! किसने मारा?"

"किसने मारा, वहाँ कौन देखने बैठा था! अरी छवि, किधर गयी री! एक पान का टुकड़ा ही देती जाना तो, मुँह कैसा-कैसा तो हो रहा है! यह आग लगी खबर सुनी तब से मन में जैसे कुछ चुभ गया है और जीभ सूख-सूख जा रही है।"

गेल्ही की माँ ठीक कान लगाये थी, रसोई में जो हाण्डी की खड़खड़ाहट लगी हुई थी उनकी बात के बीच में ही वह खड़खड़ाहट बन्द हो गयी है। छवि सुन रही है। छवि का चेहरा यदि देखा जा सका तो गाँव में और भी संवाद बाँटा जा सकेगा।

किन्तु छवि की माँ फों से साँस छोड़कर उठ खड़ी हुई। बोली, "ठहर, ठहर, मैं पान का डब्बा लाती हूँ।"

पान का डब्बा आया। छवि की माँ बातों के बीच में ही पान लगाने बैठी, किन्तु छवि आयी नहीं। गेल्ही की माँ छवि की माँ के चेहरे की ओर टकटकाती ताकती रही, बेटी का न सही माँ का ही हावभाव निरखकर बाहर झाँकने के लिए वहीं कुछ मिल जाये! परन्तु वहाँ खास कुछ न था, मानो इतनी बड़ी घटना के बारे में जानने-बूझने के लिए भी उनका कोई आग्रह नहीं। कुछ क्षण रुकने के बाद रसोई में फिर खुट-खाड़ धड़-धाड़ सुनाई पड़ा। रसोई करते आदमी के हाथ की साधारण आवाज, और कितनी ही खास-खास चें-चाँ। यह क्या सुनाई पड़ रहा है? नाक की सूँ-सूँ सड़-सड़ होगी शायद! गेल्ही की माँ ने उत्सुकता से कान लगाये, पर कहाँ, वैसी तो कोई आवाज नहीं। छवि बैठी है अपने अँधेरे दुर्ग के भीतर!

"क्या ऐसी रसोई से चिपटी है री छवि!" गेल्ही की माँ ने कहा, "बाहर आकर जरा बात-चीत कर। कुछ नहीं, बस सदा केवल काम ही काम!"

"हाँ, बातचीत क्यों नहीं करेगी, पर यहाँ किससे बतियाये? साथिन सहेली कोई हो तब तो!"

"अच्छा, मैं चलती हूँ, अब।" गेल्ही की माँ ने कहा, "सच री मुझे तो ख्याल ही न रहा, तुम्हारे घर आते ही यह माथा खप जाता है। उधर घर पर मेरे सतरह काम पड़े हैं!" आखिर अनहोनी ने फिर एक चोट मारी! वाह! कितना सुन्दर मजोला जवान! मार डाला! कितना सलोना बेटा! उस बार तुम्हारे ही घर आया था तब देखा था। मरने के लिए ही ऐसा हुआ था!"

छवि की माँ गुमसुम मानो पथरीली दीवार बनी हुई थी। बातें टकराकर प्रतिध्वनि करती हुई लौट आयीं, "हूँ, किसका अब योग पड़ता है! तुम्हारे जो प्यार के दूध के दाँतवाले ही तो थे, उस लोक को चले गये, उनकी कोई मरने की उमर हुई थी!"

गेल्हो की माँ को अचानक वे याद आ गये। किसी न किसी बात में आज सुबह से वे याद आ रहे हैं।

वह रुलाने आयी थी, रुआँसा मुँह लिये लौट गयी।

छवि की माँ ने आवाज़ दी—"छवि!"

छवि मुँह घुमाये आकर पीठ किये खड़ी हो गयी। उठकर बेटी का सिर सहलाकर बोली, "पगली कहीं की।" उस मरम छूनेवाले मरम स्पर्श से छवि की आँखों से बेर की तरह आँसू झर गये। छवि की माँ ने फिर कहा, "छि पगली!" आहिस्ते से रसोई की देहरी की ओर धकेलकर कहा, "जा देख, कुछ जला जा रहा है? अरी, जीवन भर हाथ से काम करना है, उधर मन सीखता है, इधर काम सीखता है। बैठे-बैठे पगली होने की किसे फुरसत मिलती है?"

किन्तु उसने कोई उपदेश देने की चेष्टा नहीं की, उठकर माटी की ओर चल पड़ी।

जितना भी छुपाये, अपने-आप पहचान में आ ही जाता है। धीरे-धीरे अन्तर में से बहकर सामने ढेर हो जाता है भीतर का कठोर सत्य, उपरोध रहता नहीं। चाहे देह न सह सके, मन चाहे न सह सके, निर्मम भाव से इन्द्रियों पर प्रचण्ड आघात कर वह आत्मप्रकाश करता है। इसके बाद हाथ चाहे जले पर उसे छूना ही पड़ेगा, आँखें चाहे जलें उसे देखना ही पड़ेगा। मन जल जाये, देह विवर्ण होती हो, फिर भी उसे ग्रहण करना ही पड़ेगा।

छवि के आँसुओं में तैरता-तैरता, मन के अँधेरे गह्वर से प्रकाश में आया था—एक शव। वह रवि का था।

रवि मरा है!

रह-रहकर ढनंढनं घण्टा बजने की तरह संवाद बज उठता। बजते घण्टे की तरह चेतना झनझना उठती। शब्दों की लहरें होतीं छोटी से और छोटी, क्षीण से क्षीण। पारो सम्हालने की तरह कहीं कितने पात्रों की झुण् झुण् सुनाई पड़ती, कितनी अवान्तर स्मृतियाँ, बाहर असंश्लिष्ट, पर किस गोपन डोर से एक साथ गुँथी-बँधी।

चेतना के अवश व्यवधान के बीच बिखरी-बिखरी यादें आ रही हैं—कितनी अनचाही बातें। हाथों से भगाने पर भी मच्छरों के दल की तरह घौंव-घौंव कर बढ़ आती हैं। मंच पर तेलंगी बाजा बज रहा था....तड़गड उँ ऊँ उँ—तरगड उँ उँ उँ—टि-टां....तरगड—टि टा—तरगड़ उँ-उँ-उँ....बरसात की रात में माँ के पेट में सिर छुपाये कभी सो गयी थी....पिता कभी गुस्सा हुए थे, हाथ में थी एक बेंत, चेहरा एकदम क्रूर दिख रहा था, फिर भी इस तरह बेंत हाथ में लिये गुस्से से दाँत कटकटाती

हुई अवस्था में....सोचकर कितना अच्छा लगता ।....मार खाये बच्चे याद आ रहे है, सारी देह में लकीरें,....मशाल बुझ रही है—जल रही है, दामिया नाई मशाल पर तेल डाल रहा है....रो पड़ते है कितने ही लोग, सारा जगत् चीत्कार का समुद्र ...हवा आ रही है। घने पेड़ों के बेशुमार पत्ते उड़े जा रहे है,....फिर भी पत्तों का उड़ना जारी है, पेड़ों को सूना करते हुए. ..सनसनाते हुए वे निकले जा रहे है....उसके अपने सिर में कुछ हो रहा है, पेट के नीचे कुछ दब-दबकर मुड़ता-तुड़ता जा रहा है,. .रात हो गयी, झिल्ली चीख रही है....रवि मर गया, सिर चकरा रहा है, जिधर देखो केवल टिमटिमाते जुगनू ही जुगनू...।

कौन है वह ? उसका क्या लगता है ? दुख करते-करते रवि मानो दूर होता जा रहा है। वह स्वयं दूर हो रही है, निःसहाय, एकदम सूनी अकेली लड़की, कितनी दुर्बल !—अपने से निकलकर वह दुर्बलता उसके चारों ओर सृष्टि कर रही है अथाह सागर, जो भयंकर है। उसी के बीच वह ऊब-डूब होती स्वयं एक छोटा-सा द्वीप है। उसी दूरी से, उसी दुर्बलता से, उसी भीति से उपजता एक प्रश्न—कि रवि उसका कौन है ? गुस्सा आता– वह क्यों मरा ? असमर्थता प्रश्न पूछती। अपने खुद से लिपटा भीरु व्यक्तित्व दूसरे पर नहीं के बल के सहारे आत्मविश्वास गढने की चेष्टा करता। रवि उसका कौन है ? फिर कितने दिन का देखा-चाहा, जाना-सुना ? जो उसका कोई नहीं, उसके प्रति व्यर्थ हो, झूठी माया। वह फिर रो रही है! सहम कर उस 'कोई नहीं' पर विचार-बुद्धि डाल देती। अब की बार वह स्पष्ट दिख जाता है। वही पहला दिन। फिर और एक बार। वहाँ उसका ब्याह-सम्बन्ध टूट गया है, ऐसे कितनी ही जगह पड़ता है, कितनी जगह टूटता है। ऐसे कितने लोगों को आदमी देखना है, जुड़ता तो नहीं ! ऐसे भेंट हो, सहारे से अपने-अपने रास्ते चले जाये—यही-तो संसार है, जल्दी-जल्दी अनेक लोगों का केवल इधर-उधर चले जाना। उसी भेंट की घड़ी में एक का तेज दूसरे पर पड़ता है। आदमी जो देखता है, कहता है—सब मेरा है, सब मेरा है। यह माटी, यह घर, यह आकाश, यहाँ तक कि यह धूप, यह दिन, यह समय—सब मेरा है। झूठी बात है—कोई किसी का नहीं। कुछ भी किसी का नहीं माया की कुहेलिका। पिता भागवत पढ़कर समझाये करते थे।

'कुछ नहीं' कह देने को तरह माया का कोहरा उठकर शास्त्र के बुने तर्कों का जाल तोड़कर खड़ा हुआ—विश्वास से गढ़ा, वही पराया, अपना होकर। माया पर अपने चित्र ने अपना प्रतिरूप उपजाकर कभी बीज रोपे थे कितने दिनों की कितनी कल्पनाओं ने वहाँ पानी छिड़का। अपना प्रतिरूप वहाँ गाछ हो गया है, वह अपने व्यक्तित्व का दूसरा फलक है, इच्छा-स्वप्न सब मिलकर तिल-तिल होकर गढ़े गये है; वही है वह, वहाँ आँखों से देखकर सम्बन्ध जोड़ने का प्रयोजन नहीं होता। दूरी के साथ, सम्बन्ध न रख परिचय हुआ है, घटना के साथ सम्बन्ध न रख विश्वास ही विश्वास में गढ़ा गया है सम्भावना के विषय में एक ध्रुवसत्य।

आज सब बह गया है।

रवि मर गया है।

दैहिक प्रकृति की सान्त्वना के लिए आँसू बहे। कितनी देर बाद याद आया, ऐसी क्यों वह पागल-सी हो रही है ! माँ क्या सोचती होगी ? रसोई आधे में ही रुक गयी है ! सिर उठाकर तिरछे देखा, माँ झुकी हुई रसोई में लगी हुई हैं। बाहर के मेघों को अन्दर धकेलकर छवि ने संयत होने की चेष्टा की।

और ठीक इसी समय आ पहुँचे बापू, एक हाथ में अधसेरी रोहू, और दूसरे में कुछेक सहजन की फलियाँ। एक बार आँखें घुमाकर छवि की ओर देखा। पूछा, "छवि को क्या हुआ है ?"

छवि चौंक पड़ी। कहाँ से तो आ गयी लाज। ओट में जाकर रगड़-रगड़ मुँह पोंछा। फिर लौट आया तूफान। मुँह खोलकर धारा बह निकली। पल्लू में मुँह ढाँप कन्धों की झकझोरती वह टाल गयी।

"कुछ कहा नहीं ?" सिन्धु चौधरी ने फिर स्त्री से पूछा। छवि की माँ ने उनके चेहरे की ओर देखा। कितनी कुछ घुली-मिली विचित्र दिख रही थी वह दृष्टि। दुख, निराश्रयता, तिरस्कार, अपमान और सबसे ऊपर वही भाव, जो केवल किसी के मरण के सान्निध्य में ही चेहरे पर आता है, उसका वर्णन नहीं। कहा, "क्या पूछ रहे हो ?"

"छवि को क्या हुआ ?"

"और क्या होगा ? कुछ नहीं तो। अरी छवि ! घर में कुछ कर रही होगी।"

"अच्छा लो, यह मछली रखो।"

छवि की माँ ने मछली और फली लेकर जाते-जाते दूसरी ओर मुँह फेरकर कहा, "हाँ सुन लिया ! गेल्ही की माँ आयी थी। कहा, सुभद्रापुर के मेलण में मारपीट हुई, जहाँ बीच-बचाव करते हुए बन्धमूलवाले बट महान्ती का बेटा रवि मारा गया। आया था न, कितना भला लड़का था ! क्या समय आया, देखो !"

कुछ 'खें' जैसा घर के अन्दर से सुनाई पड़ा मानो किसी की रुँधी हुई हूक हो। सिन्धु चौधरी का ध्यान उधर चला गया। स्त्री उन्हें सीधे देख रही है, उनकी आँखों में भी उसी रुँधी रुलाई की छाया है, आँसू झिलमिला रहे हैं। सम्बन्ध फिर आया था, उन्होंने ही तो मना कर दिया था। मानो उनके विरुद्ध ही अभियोग हो रहा है।

उत्तेजित होकर वे चीख उठे, "कौन है जो उस पराये बेटे के नाम पर इतना बड़ा झूठ कह रहा है ? उस बिचारे ने किसी का क्या अनिष्ट किया ! झूठ-मूठ, एकदम सफेद झूठ है यह सब ! ऐसा काम कर दिखाया उसने कि चारों ओर धन्य-धन्य हो रहा है ! कितने लोग जा रहे हैं उसे केवल देखने भर के लिए, और इधर ये लोग क्या-क्या अफवाह उड़ा रहे हैं, हें !"

"देखो तो, इन लोगों की बात," छवि की माँ ने बात सम्हाली, "कैसा युग आया है, लोग दिन को रात कह देते हैं। माई रे, मुँह में लगाम नहीं।"

"जानती हो उस बच्चे ने क्या किया है ? वाह-वाह आदमी है एक ! लोगों की आँखें खोल दी हैं।" सिन्धु चौधरी कहने लगे धीरे-धीरे, "कैसे बाट में, रास्ते में लोग-बाग कहते हैं कि इतने दिनों पर इस इलाके में एक आदमी निकला। वह परायों के लिए काम करता है, वाद-विवाद निबटाकर सब को एक कर रहा है, असम्भव को सम्भव बना रहा है। हलचल मची है, यह माटी फिर जाग उठी, लोग समझ रहे हैं, मान रहे हैं।"

छवि ने आकर कहा, "माँ मछली दो, छील दूँ।"

सिन्धु चौधरी ने उसके चेहरे की ओर देखा, वह चली गयी थी। बात रोककर ताकते रह गये उसकी माँ के चेहरे की ओर, दोनों जैसे एक साथ सोच रहे थे, एक ही बात।

एक मामूली-सी घटना, घटना भी नहीं, पल भर में जगाती हुई कोई अनुभूति; पर वह सिन्धु चौधरी की भावना के अन्दर जड़ फैलाये थी। बार-बार अपने चारों ओर देख वे खुद उसका छोर पकड़ने की चेष्टा कर रहे थे। बाहर यही जानी हुई दुनिया—वहाँ किसी का आकार है, किसी का रंग है, किसी में और कोई हेतु या फल है, पर उसे अनुभूति में वैसा कुछ न था, मन में सहेज रखने लायक। पिछली बातें बार-बार साफ-सुथरी सी याद आ रही थी। वो उस दिन मछली लिये घर आये थे, रवि के मरने की बात छवि की माँ ने कही, उन्होंने फिर इस झूठी बात का प्रतिवाद कर क्या कहा—ये कहा, वो कहा, ये कहा वो कहा—बाद में और कुछ अधिक याद नहीं आता। पर लगा जैसे नींद में ऊँघ पड़ने की तरह, आँखें अलसा कर सपने में चलने की तरह ढुलकते-ढुलकते जाते-जाते अचानक एक झटका पाकर आँखें खुल गयी हो और एक नयी चेतना जन्मी हो, कि जानी धरती का तट टूट गया है!

पीछे वह दूर तक पसरा है। आगे और क्या है स्पष्ट नहीं दिखता, और यहाँ हैं वे, पीछे देख स्मृति को टटोलते, से आगे देखकर घबराते से और जल्दी-जल्दी चला जा रहा है। प्रति पल जो शून्य पट—पल-पल में अपने अंगों झेला इतिवृत्त जिस पर लिखा हो—अँधेरे में चला जा रहा है। पोथी का हिस्सा बन पुन. जराजीर्ण होने, फफूँद बनने के लिए, चूर-चूर होने के लिए उसी निमिष भर में उस शून्य के पीछे लिखी हुई थी एक अनजानेपन की चमक, एक झोंक। क्यों क्या हुआ, समझ में आता नहीं। परन्तु चिन्तन किया जा सकता है।

सचमुच जैसे चलती मोटर वहाँ एक कुलाँच खाकर उन्हें झटका दे गयी थी, और खुद को वहीं खड़ा किया तो लगता है मील का पत्थर नहीं। अथच छोड़ आये सामने के सिरे से दूरता का बोध मन में है।

यह उस सिरे पर दिखता—छवि का जन्म मूर्त ।

"आ, बेटी हुई ! इसी के लिए बाल-सा पेट निकला था ! गोद से माथे पर छोटी सी बालों की एक गाँठ याद आती है, एक अजीब अटपटा-सा हल्दी रंग का दाग, चिड़ियों की अंगुली की तरह बिना खून की पानी-पानी अंगुलियाँ, आगे का नाखून मर गया है, सोचने पर याद आता, शायद मधु की-सी दो आँखों में राख या धुंए के-से रंग की आँखें। नहीं, साफ याद नहीं आती वे आँखें सोचने पर भी तरह से नहीं आती। बहुत बरस पहले की बात है। तब उनकी माँ जीवित थीं। उसी अगले वाक्य के बाद एक हो-हा हँसी, मानो एक छोटे-से तूफान के पड़ने का शोर। यह भी पूरा याद नहीं आता। उसके बाद दूसरा वाक्य, "कितनी बड़ी मुँह-फाड़ ! अरे बाप रे ! अगुरनी जनमी है, खायेगी तू मुझे ! देख रे सिगुवा, देख, जाता है कहाँ, खायेगी रे तू मुझे तो ? हे री अगुरनी, मेरा दूध मेरेगी सो।"

दोनों छोटे मधु और सिधु थोड़े-बहुत याद पड़ते। सिधु ने पाला था नेवला, यह याद आता। कैसे पीठ के बल चित हो चारों पैर उठा पूँछ फैलाये वह सोया होता। मधु कैसे बगल में बस्ता दबाये दौड़ा-दौड़ा जाता पाठशाला की ओर, दौड़ते-दौड़ते खड़े-खड़े मूतता, कैसे मधु को सिधु ने धक्का दिया था, मधु के सिर से रक्त धार-धार वह निकला। ऐसे ही कितनी बातें,—कितनी बातें—कौन सी पूँछ—कौन सा सिर, कौन आगे—कौन पीछे !

सब कुछ घुल-मिलकर एक हो जाता। चमककर तेज हो जाता किसी दृश्य के पास और कोई दृश्य। अपने भीतर से कितने प्रकार की प्रतिध्वनियाँ निकलतीं। यह देह पड़ी रहती जैसे परिचित धरती की तरह, उसी पर युग-युग की छाया की तरह चेतना के अन्दर कितनी अवस्थाओं के चित्र बह जाते।

सिर्फ उनकी यह लड़की बड़ी हुई है। उसमें परिवर्तन हुआ है, इसलिए नहीं, उसके साथ-साथ कितनी बातें भी तो बदली हैं। सब आँखों में पड़ जाती।

और उसके सम्पर्क से जो उदासी मन में घिरती, वह सिर्फ इस इकलौती सन्तान के किसी पराये घर चले जाने की अनचाही भावना की छवि नहीं है। अनजाने ही मन में बज उठता पिछवाड़े की ओर लौटते जीवन के वापसी रथ का कल्लोल। वह दूर होता जा रहा है, वह सरकता जा रहा है। जो जा रहा है पर लौटेगा नहीं। भागवत की नीति तत्व और सान्त्वना नहीं देती, पहले कोई एक दाँत, फिर दो गिर जाते हैं, फिर कोई तीसरा हिलने लगता है। नहीं तो सिर में किसी जगह कुछ सफेद बाल, आगे वे जो काले थे, और सामने यह छवि की माँ की यह देह ! पहले कितनी पतली-छरहरी होने पर भी सजीली थी, अब हो गयी मोटी ढीली पर पोपली। चारों ओर दिखता मानो कोई माया-दर्पण हो, उसमें अपने क्षय व्यक्तित्व की प्रतिच्छाया दिखती है, और लगता है जैसे समय आयेगा जब वह प्रतिबिम्ब नहीं दिखेगा, कुछ नहीं रहेगा सिन्धु चौधरी नाम का। आँखों के आगे सूर्य भी केवल शीतल हो-होकर बुझ जायेगा।

कल जो शिशु जन्मा है वह भी मानो दीवार पर आँक रहा है सिन्धु चौधरी नाम के आदमी के भावी प्राणदण्ड का चित्र।

आँखों के आगे वही चित्र आँका था छवि ने। कल की ही तो बात है, उसके कितने कौतुक याद आ जाते हैं। कितनी नन्हीं-सी थी साल भर की होनेपर भी। खरगोश के बच्चे की तरह उछलती-फिरती। सात बरस की होते न होते अचानक वह लम्बी होती गयी, उसमें बदमाशियाँ आयीं, छल आया, जिद्दी हुई, बाघिन-सा स्नेह दिखाकर कभी अगर पास आती और दो चुम्में दे जाती, और कभी जरा-सी बात पर रूठ जाती, तो सारा दिन। उस देह पर माँस तो चढा ही नही, केवल घड़ी की तरह बढने लगी। वह चित्र भी याद आता।

"क्या यह आदमी बनेगी ? घर-संसार बसायेगी ?" स्नेह मे माँ कहा करती, "रोनी, जिद्दी कितनी, मन को तो थाह ही नही मिलती।" उसी की जिद पर बाडी मे अमरूद का पेड़ लगाया गया था। उस बस्ती में सतिया की माँ की पोती बेंग ने उस दिन....सतिया की माँ की बाड़ीवाले अमरूद के झाड से अमरूद तोड़ने की बात को लेकर झगड़ा किया था, कितने दिनों का 'गंगाजली' स्नेह सम्बन्ध पर लात मार उसने पिता को सुना दिया था, "हमारे भी अमरूद लगेगा। नही तो, नही तो हाँ"—

अवाक् उसका नया रूप देखते रह गये थे। बेटी ने छद्मवेश फेंक दिया है। एक भारी भागवत के नीचे मानो पहचान में आ रही है।

छवि बड़ी हो गयी है !

अचानक विस्मय से चमक-सी लगती, आँखों में भाप भर आती है। लगता है जैसे खिलौना व्यापक विस्मृति पाकर कही उड़कर चला आ रहा है।

वह थी नन्ही गुडिया, मानने पर पत्थर, जागती तो सदा बच्ची। एक जगह एक बिस्तर पर पिता-माँ छवि क्या जाने बिचारी नन्ही लड़की।

छवि की माँ उनके मुँह में पान ठूँसकर जब पान का सिरा तोडने के लिए मुँह से मुँह जोड देती, नन्ही छवि आँखें टिमटिमाती देखती, तनिक बड़ी होनेपर वह भी दौड़ आती पिता के गले मे हाथ डाल मुँह मे से पान का सिरा तोड लेने के लिए।

और आज वह छवि गायब हो गयी, खडी है सामने एक अपरिचिता नारी। उसके मन में भिन्न आदमी की छाया पड़ी है। वह मानो कोई भोर की चिडिया हो, गरदन पसारे प्रतीक्षा करती बैठी है सिन्दूरा की।

सोचते-सोचते मैंपने पर जलन-सी लगती। अन्तर के भीतर से क्षोभ का करुण नाद। बाहर मैं बूढा हो गया हूँ, मेरी किसी को जरूरत नही।

नदी तट के ढलान में दुकान के अन्दर गद्दी पर हरि साहू बैठा था। पास मे

एक पुलिन्दा उड़िया अखबारों का पड़ा था। चेहरे के आगे एक पन्ना अखबार का और था। उसकी छोटी-छोटी आँखों की पैनी नजर मानो उस कागज में घुस कर फँस गयी हैं। चेहरे पर एक तन्मयता, होंठों से होंठ जुड़े हुए। दुकान में कोई भी गाहक न था।

बाहर पैनी धूप मुस्कानी आ रही थी। दुकान के उस ओर घने बरगद के नीचे गहरी छाया को काटती तिरछी पड़ रही थी थोड़ी-सी पीली धूप, घरों की छाया लम्बी हो गयी थी। अचानक गाँव के रास्ते पर एक दूसरी का पीछा करती दो गायें गुजर गयीं, उसके बाद कई और टप-टप धुम-धाम की आवाजों से रास्ता गूँज उठा, गाँव के गाय-गोरुओं की कतार लम्बी होती गयी उस रास्ते पर। भाग-दौड़ धक्का-धुक्की करता, धूल उड़ाता उनका समूह जा रहा था। हरि साहू ने सिर उठाया।

उसकी छाती को कँपाता बह गया एक दीर्घ श्वास। गायों के बड़े पैरों को देखते-देखते अचानक याद आया, कि सोरी पधान मर गया है। वैसे वह उसका लगता कुछ नहीं। न सह-जाति, न साथी, न मित्र। वरन् डूब गया सोलह आने के सौदे की उधारी, केवल तम्बाकू के पत्ते लेता पैसे दे देता। कभी-कभी रह भी जाते पैसे। उस बात की ओर विचार न था हरि साहू का। गाँव के इतने सालों के उधारी कारोबार में कितने लोगों पर कितने पैसे उसके डूबे हैं, फिर भी चल रहा है उसका व्यवसाय। परन्तु सोरी पधान कितने जमाने का बूढ़ा आदमी था। उस जमाने का आदमी! लाठी पकड़े, कमर आगे की ओर झुका, हिलता-डुलता नाचता-सा इस राह पर चलता-फिरता रहता। छुप गया वह दृश्य। वो दिन जाता है, सचमुच की रहा!..." है तो दे रे तम्बाकू के चार पैसे के पत्ते, भानजे।—"

"दे-दे, आज पैसे नहीं। यह मुँह क्या धीरज मानता है रे भानजे। और भी ऐसी अमल की आदी हो गयी है यह देह, और स्वाद चाहने लगी है। गोबरा की माँ मरी तबसे पान तो छोड़ ही दिया, न अमल होगा न जीभ सूखेगी। बाकी रहा यह तम्बाकू का पत्ता, क्या कहूँ—यह मेरा पीछा...."

चला गया, गायों की खोज हुई और चली गयी सब गोबर पड़ा, मूत बहा, हँदा-हँदी धक्कम-धक्की, भोंका-भोंकी, चहल-पहल—रँभाता-रँभाता गुजर गया वह दल। चला गया।

और चला गया सोरी पधान। आज कितने दिन हुए होंगे? हाँ कुल ग्यारह। बात-बात पर ताना मारता, अपने जमाने के बाहुबल की बातें कह-कहकर, यह हुआ था एक मल्ल! पत्थर घुमाता था, बैलगाड़ी का पहिया रोक लेता, खूब खेल-कसरत किया करता था, और भी कितना कुछ!

उदास होकर हरि साहू ने सामने देखा। रंगीन साड़ी बाँधे सज-धजकर चली जा रही है रघुआ की माँ। आठ बरस के रघुआ के कन्धे को पकड़े उसे गाली देती-देती जा रही है—"कुलच्छना, बिच्छीपत्ता! आज घर चल, तेरी पीठ से चमड़ी न उधेड़ी तो मुझे कहना, मैं तेरी माँ नहीं बेटी हूँगी। गायों का झुण्ड जा रहा है, देखो

यह नालायक उनके सामने खड़ा हो जाता है, बहादुरी दिखाने में पेट फाड़कर दो फाँक चीर देती तो तू क्या करता ? अभी रौंद-चीथ देती ! कौन-सा बाप बैठा है जो इतना इतराता है रे मेंचड़ा ?"

इस औरत की रंग-ढंग देखकर हरि साहू मन ही मन चिढ़ता। लगता सचमुच जैसे जानबूझकर वह अपना यह रूप दिखा रही है। परन्तु अचानक मन नरम हो आता है उसके प्रति बीच का व्यवधान पिघल कर यह छाया सीधी जाकर पड़ी उसकी छाती पर, दृष्टि में सहानुभूति भरकर देखे, तब तक वह जा चुकी थी।

सोचा, आह, बिचारी ! पति विदेश जाकर कहीं रह गया, घर पर यह औरत जात। अपनी मेहनत-मजूरी से दो पेट पालती-पोसती है। आशा की होगी कि रघुआ बड़ा हो, तो कौन जाने उसका दुख दूर हो, आदमी की आशा ही तो ठहरी !

फिर गयी चम्पी की माँ सीधी लम्बी, छड़ी की तरह, पीठ की ओर पल्लू में मोटा-सा कुछ झूल रहा है। धान कूटना पूरा कर घर लौट रही है। चेहरा सूखा-सूखा, हाथ-पैर सूखे-सूखे बाँस की फराटी की तरह। घर पर बेटे बहू हैं, आदर गौरव की बजाय उनका नाक-भौं सिकोड़ना। फिर भी जितना होता काम कर देती, सिर नीचा किये पड़ी रहती उन्हीं के पास। लोग कहते, बेटा-बहू दोनों एक तरफ होकर कई बार मार भी देते। पर वह छल नहीं करती—अपनी ही तरह की एक है।

और यह भी चली जायेगी, रहेगी नहीं, चली जायेगी। जिस तरह चला गया इतना बड़ा दिन, चली गयी गाय-गोरू सब जाते हैं, जायेंगे भी।

और हरि साहु को याद आया—जाने कितने लोग इस रास्ते गये हैं। कोई कभी ब्याह कर इसी रास्ते आया था, इसी रास्ते लोग गये थे देवी की मनौती करने, फिर इसी रास्ते उसे कभी कन्धों पर ले गये थे मसान की ओर। इसी रास्ते आये और गये हैं पीढ़ी दर पीढ़ी लोगों के काफले, कितने हँसी-खेल, वाद-विवाद। किसी को किस घटी कौन-सी बात बड़ी लगी थी। कोई हँसा था किसी बात पर, तो कोई चिन्तित हुआ, तो कोई रोया था। कहाँ गये वे सब ?

और याद आया, कि कई लोग आते थे घोड़े पर चढ़, गाँव-गाँव में घोड़े थे, बीच-बीच में कोई हाथी पर भी आते। कहीं लोप हो गयी सारे गाँव भर की घुड़साल। फिर एक दिन इसी बाट से नयी-नयी आयी थी धून गाड़ी, दो पहिया। उसे याद है, पोशाक पहने दढ़ियल पुलिस आयी थी उस बार। मन करते तो मोटर भी आती। सिर्फ इस नदी तट का रास्ता, जगह-जगह तलवार की धार की तरह है, जरा नीचे उतरे कि कीचड़-खड्डे—वह भी किसी दिन समतल हो जायेगी। फिर मोटर गाड़ी आयेगी, सब कुछ सम्भव होगा। और फिर इन लोगों की भी याद आयी। उस दिन वह पहली बार चाय की पुड़िया खरीद कर लाया था। कहते हैं, देह में बीमारी हो तो काढ़े की तरह उबाल दूध में घोलकर पीने से, बीमारी ठीक हो जाती है। उसे भी कितने लोग छूने को राजी नहीं हुए। वे कहते—कहीं कोई ऐसी-वैसी चीज होगी, कौन घुसा है उसमें ? अपने

बाड़ी-बगीचे से तो आती नही। कोई कहता जात चली जायेगी उससे। इस तरह कितनी ही आपत्तियाँ उठायी गयी, इसके बाद वह आकर हो गयी चाट, गाँव के चार-पाँच आने लोगो मे अब इसी चाय का नशा है, बिना पिये कहते है, नाक से पानी झरता है। लेमंजूस मिठाई उसने लाकर रखी, कुल पाँच बरस पहले की ही तो बात है। ऐसे कितनी ही चीजें, काँच का गिलास, अलमूनियम की डेगची, लालटेन, सुगन्धि का साबुन, टीपा बत्ती की बैटरी। अन्त में आयी लुंगी, खुली चौंधी, उस जमाने के बड़े-बूढ़े तो मारने दौड़ते। चोटी-चाटी, धोती-चादर, वगैरह जैसे लोप हो गये। सब अब आया नया युग, लुंगी, गंजी, चप्पल, बीडी.. ..।

हरि साहू ने देखा ग्राहक एक भी नही है, फिर इस साधारण-सी बात को व्यापक कर देखा, जीवन के साथ मिलाकर। और दीर्घ श्वास उठा। ऐसा भी दिन आता है, केवल पैसारा बिछा रहता है, बस वल्मीक की तरह आदमी बैठा रहे, बैठा रहे, आशा पुरे नही, थाल भरे नही। वह केवल समय बिताता जाता हो।

"देना, चार पैसे की बीडी तो ?" लम्बी गरदन को दुकान के अन्दर किये कमर पर हाथ दिये खड़े है सुदर्शन दास। सिर जैसे गले की टोटी के पास से मुड़ गया है। चिड़चिड़ाते स्वर मे कहने लगे, "किसके आगे कहूँ, बताओ तो भला, कल का जाया छोकरा बीड़ी फूँक-फूँक कर चौपट हुआ जा रहा है।"

बीडी बढ़ाते-बढ़ाते हरि साहू ने उपदेश दिया, "रोको उसे रोको दासजी, अबसे ही न दबाओगे तो फिर बढ़े हुए गाछ पर वश नही चलेगा।"

"अरे, धत्तेरे की, अब भला यह बात मानता है शैतान—"

"मानेगा, सबर करो। खुद तो अमल पकडे हो। बीडी के टुकड़े की पूँछ फूँकते-फूँकते बेटा भी सीख गया, और क्या ? वह बद-अभ्यास, खून सूख जायेगा, पकड़ेगी लम्बी खाँसी, अब से ही बीडी फूँकने लगा तो फिर आगे चलकर कहाँ जा पहुँचेगा—"

"आह, सारे नाटक तुम व्यापारियों के पास है। ये सब लाकर दिखाये किसने ? जिधर जाओ, आँखों के आगे मारका लगी थाक की थाक रखी है बीडी, सिगरेट—बीडी-सुगरेट।....अरे हाँ, दियासलाई है, तो देना ?"

बीडी पीने के लिए मानो उनकी देह मे बहुत तृष्णा भरी है, छटपटाते-से हाथ बढा दिये। हरि साहू ने दियासलाई बढा दी। कहा, "केवल व्यापारी को दोष देने से क्या होगा, दास जी ! युग को दोष दें, आदमी को दोष दें ! बात दुतरफी है, समझे ? आप खाते हैं, तभी तो हम लाते है। हम लाते है इसलिए कोई खाता है ? ऐसे तो कितनी ही चीजें हम दिखाते हैं, खरीदना न खरीदना तो आपके हाथ में —"

एक कश खीचकर स्वीकार करने की भंगिमा में दासजी ने कहा, "कहाँ, तुम तो बीडी नही पीते ?"

"नही पीता, यह तो कैसे कहूँ ? चिक्का न होने पर कभी मौके-बेमौके—"

मैंने कभी देखा नही, तुम्हारे बाल-बच्चे भी कभी नही पीते। अलग-अलग

स्वभाव होता है, किसी को दोष नहीं दिया जा सकता। इस गाँव में नालायकों का दल कैसे मस्त है देखो तो सही, जो इनके साथ मिले-जुलेगा वह वैसा ही होगा—"

"पता नहीं किसे नालायक कहते हो दासजी, हम खुद ठीक रहें तो दुनिया सही—"

"अरे बाबू, जो काण्ड कर बैठे वे लोग, सुभद्रापुर मेलण के रास्ते पर, भले घर का लड़का लहूलुहान हो गया, बीच-बचाव करने में। किसी का नाम नहीं खोला इसीलिए न, नहीं तो पुलिस एक-एक को पकड़कर बन्द कर देती।"

"कितनी बातें पानी की तरह बहती जाती हैं, दासजी! किधर कितनी मार-काट लग जाती है, आदमी गिर जाते हैं। हरि साहू ने अखबारवाला हाथ दिखाकर कहा, कहाँ-कहाँ क्या हो जाता है—जब जिस घड़ी जोग पड़े। किस-किस बात की गाँठ बाँधे रहोगे?"

सुदर्शन दास ने कहा, इतनी बड़ी फौजदारी कर आये, अब चुपचाप, मानो बिल में चूहे की तरह घुसे हैं। कोई किसी के नाम पर चूँ तक कहता भी नहीं। शायद पुलिस गन्ध पा जाये, पकड़ लेगी।"

"भला ही हुआ," हरि साहू ने कहा, "अन्य कोई कलह की थैली मारी ही झाड़ देते तो क्या अच्छा होता? कलह टूट गया अच्छा ही हुआ—"

सुदर्शन दास ने जोर से कदा खोंचकर कहा, "इतनी बड़ी बात कह गये, न साखी, न परमान—"

आ पहुँचा मागुणी पधान। अपतिया का एक साथी। बोला, "किस के लिए साखी-परमान खोज रहे हो?"

सुदर्शन दास जाने को हड़बड़ा उठे। मागुणिया ने रास्ता रोका। कहा, "झूठे ही बाघ-बाघ पुकारने पर बाघ आ ही जाता है।"

"आ, रे अच्छा। हट, मैं चलूँ—"

"जाओ जाओ, कौन किसे रोक सकता है? पर मैं क्या कह रहा हूँ—पुलिस आये न, हमें किसी का डर नहीं है। उनके हाथ में पड़ेंगे और भी तो लोग हैं—किस ने टिक्कस वसूल कर गायब कर दिया, किसने फाँक लिया, ठगकर खा गया, जाल-फिसाद कर कौन उबर गया!—महाभारत की पोथी खोली जायेगी...."

"यहाँ वह सब उघाड़ने से कोई लाभ नहीं," हरि साहू ने कहा। सुदर्शन दास चील की तरह उड़कर छू। मागुणिया खड़ा रह गया, कहा, "देख रहे हो न साहू, लोग काँटों की बाड़ में धोती उलझाकर झगड़ा कर रहे हैं। कोई यह तो नहीं बताता कि सारा गाँव कैसे सुख से रहे—"

हरि साहू सिर हिलाता-हिलाता विचित्र भंगिमा में मागुणिया के चेहरे की ओर देखता रहा। मागुणिया का चेहरा सूखा लग रहा है। स्वर में एक तरह की उदासी है। जैसे अपने आप से कहता हुआ बोलने लगा, "बस केवल माठा मिडाना, लड़ना-भिड़ना। अरे, बाबू वाद-विवाद करते-करते जो होना था सो तो हो चुका, अब सारे भेद भूल एक

होकर चलें या फ़साद ही करते रहें ?"

यही मागुणिया, अर्पात पधान का साथी है। मानो महाभारत युद्ध में कोई बड़ा मल्ल हो। सारे धूम-धड़ाके, नाटक का सूत्रधार है। हरि साहू को ताज्जुब हुआ। उसने कोई उत्तर नही दिया।

मागुणिया ने दबे-दबे की तरह चेहरा झुकाकर फिर कहा, "हम चाहते हैं, आग बुझ कर ठण्डी पड़ी तो अब इस गाँव में शान्ति रहे। आदमी कोई लफड़ा खड़ा किये बिना कुछ काम करे। भली बात—जिससे गाँव भर का उपकार होगा, गरीब-गुरबा जीयेंगे सुख से, आसीस देंगे; लेकिन कुछ ऐसे भी हैं जिनको इससे जलन होती है—"

"कब से तुम इतने उपकारी हुए?" गरम सीक से भोकने की तरह बात कहकर हरि साहू पछताया। फिर सोचा कि जो भी हो उसका क्या जाता है ? मागुणिया को गुस्सा नही आया, बरन और भी नरम पड गया। हिचकिचाता हुआ बोला, "लोग हैं जो मरण चोट खाकर भी नही कहते कि किसने मारा। इससे शायद किसी और पर बिपद आ पडेगी। तुम्ही सोचो, पत्थर भी पिछल जायेगा, और हम तो आदमी हैं !"

ग्राहक आ गये थे। वो सदा अहीर बूढा बिदेई अहीर, धोबेई जेना, बिका मुदुली जो समय-बेसमय आकर गप्पें मारता है, और हुई सेठी, और कानी बुढिया शरदी गुडियानी।

"मुझे पाव भर गुड—" "मुझे किरासिन—" "पान एक कडा—" "चावल दो सेर—" "सरसों तेल छटाँक भर—" "अरहर की दाल—" "छौंकन का ममाला, सुपारी, हलदी—" तरह-तरह की माँग। हरि साहू का हाथ चलने लगा है। किसी के भाषण में अपना मत उडेलना उसके स्वभाव मे नहीं, वह सिर्फ सुनता जाता है, कभी एक-आध बात कह देता है।

"अरे काणी को रास्ता दो तो—" चारों ओर से सुनाई पडा। पीछे से थर-थराती आवाज—" मुझे लूण चार पैसे का, लूण—"

रास्ता बन गया, शरदी गुणियाणी लूण लेने के लिए खडी हुई। "सम्पद-बाड़ी टूटने-बेचने में खाटी गयी," धोबेई जेना ने कहा, "और आखिर आँख भी गयी, टटोलकर रास्ते चलती है बुढिया—"

शरदी गुडियाणी केवल हँस पड़ी।

मागुणिया जा चुका है। साहू के मन में शरदी की हँसी और उसकी बात मानो एक साथ गूँथ गयी थी। और उसके साथ-साथ मिल गयी थी अखबार पढते समय आँखों के आगे का वह दृश्यपट, अपने गाँव के बाहर की, राज्य के बाहर की, वे जो और जाने कहाँ-कहाँ गाँव हैं शहर हैं, आदमी हैं, उन्ही-उन्ही देशों की बातें। सौदा देना खतम कर बैठा-बैठा पान चबाने लगा और सोचता जाता है।

वहाँ भी ऐसे ही आदमियों की आवा-जाई। कहीं मार-काट में लोगों को बलि पड़

रही है, कहीं लोग टण्टे खड़े कर रहे हैं, कहीं झगड़ा खतम हो गया, कहीं बड़े-बड़े देशों के बड़े मगज वाले एक जगह मिलकर बातें कर रहे हैं, कि कैसे कलह टूटे, और सबका भला हो। पृथ्वी शान्त हो, वहाँ भी इसी तरह गायें लौट आयी होंगी। गाँव के लोग खाना-फूसी कर रहे होंगे। साँझ-आरती के लिए गृहिणियाँ तैयार हो रही होंगी, सुख-दुख का बोझ उठाये देश भर के लोग। ओह, कितने लोग! वहाँ भी होंगे ऐसे भागुणिया, अर्पतिया, और सब बेच-बूच चुकी ऐसी शरदी गुणियाणी।

"गाँव ठण्डा पड़ गया।" सदा अहीर बोला।

"तेरी जीभ फले-फूले। क्यों साहू?" विदेई बेहेरा ने कहा, "बात जहाँ से शुरू हुई वह तो जैसी की तैसी है। कलंक मिटा नहीं, अनाचार छूटा नहीं। कलह गया नहीं, भला कैसे गाँव ठण्डा पड़ गया? क्यों, धर-पकड़ नहीं हुई इसलिए कहते हो या कुछ और बात है?"

"अरे वाह रे वाह," सदा अहीर ने कहा, "ये रणरंका बूढ़ा क्या कहता है; कहाँ तो बूढ़े लोग समझा-बुझाकर मेल-मिलाप करा देते हैं, मगर इन बुढऊ का तो उलटे आग उकसाने को मन...."

पीछे से किसी ने कहा, "खुद में अब बाली-सुग्रीव की तरह भिड़ने की तो हिम्मत नहीं ही, छोकरों को लगा-सिखाकर ही दूर से देख-देखकर आँख सेकेंगे। बहुत घाघ है यह बूढ़ा—"

"जो जी में आये कहो। तुम्हारे गाँव में शान्ति रहे या कलह, मैं तो किसी की ओर नहीं—"

वे सब चले गये। हरि साहू ने फिर मिलान किया इस बात का अखबार में पढ़ी धारणाओं के साथ। और सोचने लगा, किस ढंग से मिल जाती है एक-एक बात से एक-एक बात, 'लड़ाई-लड़ाई' का डंका पीटते हुए जो नेता लोग देश-विदेश में हैं, वे लोग प्रायः ऐसे बूढ़े ही तो हैं।

पके बाल हों चाहे गंजा सिर, बड़े-बड़े देश-विदेश में ऐसे लोग जरूर सासतर-पुराण में पण्डित होंगे। आदमी के जीवन के बारे में उन्हें पूरा ज्ञान होगा। वे अपने-अपने देश के कर्णधार....वे कितने सारे अटपटे-से नाम हैं न देशों के....अफीरका, अमीरका, ऐसे कितनी ही जात के नाम चाहे जो पहनें, खायें, चाहे जो भी उनकी बोली हो या जैसा भी हो उनका चेहरा, उस देश में भी माँ-बाप, स्त्री-मित्र बनकर ही तो लोग चलते होंगे। बेटे से माँ-बाप की आशा लगी होगी, कैसे लोग-बाग सुख से रहें—यही होगी सबकी कामना। अथच, बूढ़े भी चिल्लाते हैं, शोर मचाते हैं—"युद्ध—युद्ध—युद्ध!" बूढ़ो उम्र, उदार, दयाशील, क्षमाशील-बुढ़ापा, परमार्थ खोजने का समय, लेकिन जाने क्या कैसे-कैसे विचार आ किसे दबोचते हैं कि आदमी शान्ति छोड़कर युद्ध के लिए बुद्धि लगाता है। उलटे बच्चों को समझाकर छुड़ा नहीं सकते?

यही बातें सोच रहा था हरि साहू, अपनी दुकान की गद्दी पर बैठा-बैठा,

क्योंकि उसने आज के अखबार में भी उसी युद्ध के घिरते बादलों की बाबत अधिक चर्चा पढी थी। सेना की ताकत बढाना, अनेक घातक हथियार-पाती जमा करना, कौन-सा गोला कितने छन में देश को राख कर देगा, कितने आदमी मार सकता है—गाली-गलौज, भाषण, सन्धि, डर-भय, भैरवी लीला घटाटोप घिरी है। मानव मन में परस्पर के प्रति अविश्वास और भय भर गया है।

पर कौन चाहता है कलह-फसाद ? कौन चाहता है युद्ध ? आम आदमी कभी नहीं। फिर भी अखबार पढने पर सिर में एक भावना भर जाती है।

—कि दुनिया भर के लोगों के स्नेह-शान्ति के लिए हाथ बढ़ाते-मिलाते समय *आप ही आप घिर आता है युद्ध का भय।*

"कैसी शिक्षा है! कैसा फल है।" उसके मुँह से निकल गया। बिका मुदुली अब भी चिपका बैठा था। पूछा, "किस बात पर कहते हो ?"

"नहीं, यों ही कुछ याद आ गया था।"

"कागद पढते हो, इस धरती की खबर ठीक है तो ?"

"*क्या ठीक पूछते हो ? यह जो हालत हो गयी—यह धरती रह आये तो ही* बहुत है। एक लडाई पूरी कर कमर सीधी होते न होते और एक लडाई के लिए चल पडी है तैयारी। लगता है जैसे इस पृथ्वी को जलाकर राख न करने तक लोगों की *आशा पूरी होगी ही नहीं। अधिक पढाई कर लोगों का दिमाग खराब हो गया लगता* है। बस केवल पटाखे, गोला-बारूद बनाने में लगे हैं। पढा नहीं, कैसे महाभारत युद्ध के समय एक बाण इस देश से उसमें जाता था उडकर जला देता था और फिर लौट आता। कोई फूटता तो योजन-योजन भी भस्म हो जाया करता। आज उसने ये किया, कल उसने वह किया। और देखो, कहीं किसी देश में थोडा भी घरेलू कलह लगा, कि समझ लो उसके पीछे बडी-बडी शक्तियाँ दौड-धूप करने लगी और खींच-खींच-कर कठपुतली का नाच नचा रही हैं। बस सुराग खोजती है कि कैसे वहीं जरा अँगुली पकड़ने भर को मिल जाये, फिर तो नोच-खसोट के लिए कूद ही पडेगी—"

"तब उनके बाण फूटेंगे—" बिदेई मुदुली ने कहा।

"फिर भारत युद्ध —" घेमेई बेहरा ने कहा।

"इक्कीस बार, एक ही बार नहीं।" बिदेई मुदुली ने बताया, "लिखा है सारला दास ने लगता रहेगा बार-बार यह महाभारत, फिर पहिया लुढकेगा, फिर युध लगेगा, ठीक वैसा ही, आदमी का क्या चारा है ?—"

आ पहुँचा अर्पति पधान। कहने लगा, "क्या चल रहा है ? वही बिदेस की खबर ? पहले देश की तरफ देखो साहू। भाव बढे हैं, खेती में बिलकुल अकाल। कुलबुलाहट-छटपटाहट हाय-हाय बढती जा रही है दिनों दिन, दो अगर किलनी की तरह फूल गये तो उधर खीम सूखकर खेलरा-खोल हो गये, अभाव में पडकर स्वभाव नष्ट, कोई किसी की बढ़ोत्तरी देख नहीं पाता, गाँव-गाँव में सतरह फाँक। यहाँ तो बिना

बाण ही बाण छोड़े जा रहे हैं। यह गाँव, ये आदमी सब तो ढहते जा रहे हैं, अखबार और क्या अधिक कहेंगे ?"

अर्पति पधान के मुँह से यह नयी बात ! या नेता बनने का फसाद खड़ा कर रहा है ? हरि साहू ने सोचा। फिर पूछा, "गाँव ढह रहा है तो गाँव के लोग रोकेंगे, सम्हालेंगे, जोड़ेंगे या बाहर से कोई आयेगा कुछ करने ?"

अर्पतिया ने कहा, "सो बुद्धि हम में होती नहीं या हमें बुद्धि-अक्कल कोई देता नहीं। हमने जो देखा, जो सीखा, वही किया। वही तो अब देखो, गोवर्धनपुर की एक चटशाल, उसमें फिर कौन सेक्रेटरी बनेगा उसके लिए दो दल हुए, कलह शुरू हुआ और एक दल के लोगों ने गुस्से में आकर चटशाला के झोंपड़े को ही आग लगा दी।"

"हैं !" कई लोग एक साथ बोल उठे।

"और शहर में तो दूसरी बात ही नहीं, बस इधर-उधर चारों तरफ, जिसने जिसका पक्ष लिया। कैसे अपनी तरफ अधिक लोग आयेंगे, सिर गिनती के समय जिसकी तरफ अधिक लोग होंगे उन्हीं की बात चलेगी, हाकमाई करेंगे—वहाँ यही विचार। एक राजा वाला जमाना तो गया, अब तो दल बनाकर अपने सिर पर छत्र टेकना, यही आजकल हुआ सबसे बड़ा काम। देखते तो हैं, मैं अधिक क्या बताऊँ ? इधर देहात में अपने यहाँ देखो, वहाँ के उस दल में से भोग-भाग पाने के लिए फिर दलबन्दी, कलह-झगड़ा, सिर फुटव्वल—"

धोबी हुई सेठी ने बताया, "जो भी कहो, क्या पहले से अच्छा नहीं हुआ ? भला हुआ तो अपना बुरा हुआ तो अपना। अपना राज तो अपना हुआ है। जो जितना बड़ा हो, अपने पास तो फिर भोट माँगने आयेगा ही, सड़क, पोखरी, इसकूल, दवाखाना, कितनी जगह कितनी चीजें तो हो रही हैं, पहले तो भोकते रहो-चिल्लाते रहो, था कोई सुननेवाला ? कहते हो कि जमाना नहीं बदला ? पहले ये तो बताओ कि उस जमाने को डर-भय क्या अब और है ? कम से कम आदमी जबान खोलकर कुछ तो कह तो पाता ही है ?"

"अपना राज हमारा नहीं, किसी और का है।" बिका मुदुली ने कहा, "तभी तो कसक हो रही है, कि कैसे यह देश और सुधरे। गान्धी महात्मा ने इस देश के लिए तो जान दी, सो बात कोई भूला नहीं है। पर क्या सिर्फ राज मिलने भर से हो गया ? काला बजार, घूस, बेईमानी, झूठ, गुट-बन्दी करना, ऊँचो दर, ठगाई—ये सब कहाँ-कहाँ से बढ़ आयी। आदमी कैसे टिकेगा ?"

अर्पतिया बोला, "सबको मिलाकर एक नया गाँव गढ़ने से अच्छा होता—जैसा कि कर रहे हैं फूलझरा में।"

वह चला गया। कुछ देर के लिए सब चुप हो गये।

नीलूदास आये सौदा लेने। बोले, "खूब फूलझरा हावी हुआ है इनपर तो !"

"जिनके नाम पर डुगडुगी बज रही है, वे बने हैं वहाँ नेता। सबको एकजूट

कर देंगे !"

मुँह बनाते हुए उसने आगे कहा, "जो करना हो करो बाबू, अपने-अपने घर में सब ठीक है, इस तरह कुछ हो-हा कर लोगों को बहकाने से तो मंच पर चढ़ने को तो सीढ़ी मिल ही जायेगी और क्या ? लोग तो सदा के पारी थामनेवाले ठहरे, बस उन्हें एक रास्ता दिखा देने भर की बात है, और क्या ?"

नीलूदास कचहरी गये बिना भी टाउटर है, किसी ने उन्हें नहीं टोका। हुई सेठी ने कहा, "अच्छा काम ही तो करते हैं फूलझरा गाँव में। भला काम करना तो अच्छी बात ही है। ऐसे तो कोई काम होता नहीं, कोई किसी का भला सोचता नहीं। वैसे थोड़ा ही सही, भला करने की चेष्टा तो हो रही है, चेष्टा होते-होते जितनी दूर बढ़ सकें—इसमें खराबी क्या है ?"

नीलू दासने ठो-ठो हँसकर कहा, "कितने रथी-महारथी तो जाने किधर उड़ गये, और चेष्टा ! चेष्टा करके तो तुम इस धूल-माटी को सोना बना दोगे, पाँच अँगुली समान कर दोगे, या कुत्ते की पूँछ सीधी कर सकोगे ? आदमी का सुभाव जो है न, वह बदला है कहीं ?"

हुई सेठी बोल उठा, "दया-धरम तो है ? आदमी के सुभाव में क्या वह भी नहीं है ?"

"तेरे अन्दर ही वैसी है ?"नीलूदास ने पूछा। कई लोग हँस पड़े। हुई सेठी ने कहा, "कपड़े पर चोट देते हमारी जीभ से राम का नाम आता है, हम ठहरे हाथ-पैर से मजूरी कर पेट भरनेवाले, गरीब लोग, इसमें जदी कोई कहे कि हममें दया-धरम वैसी है तो होगा। कहे कौन मना करता है ?"

नीलू दास चले गये। और कई लोग आये गये। हरि साहू को लगा, केवल ऊपर-ऊपर ही नहीं, भीतर-भीतर भी, गाँव में कहीं कुछ बदला हुआ-सा है।

फिर अचानक एक और बात के साथ सामंजस्य की याद आयी। उस देस-विदेस की कहानी की।

वहाँ भी भीतर ही भीतर प्रकाश का स्रोत बढ़ता जा रहा है।

दुनिया में आदमी चाहता है शान्ति, युद्ध नहीं।